



ISSN : 2455-4219

आलोचन दृष्टि

Aalochan Drishti

An International Peer Reviewed Refereed
Research Journal of Humanities

भारतीय साहित्य, समाज, संस्कृति और शिक्षा का मानवीय प्रदेय
(राष्ट्रीय संगोष्ठी : 30-31 जनवरी, 2026 पर केन्द्रित विशेषांक)

वर्ष : 11
Year - 11

अंक : 43
Volume - 43

मार्च, 2026
March, 2026

(उपरोक्त विशेषांक हेतु)

निवेदक

डॉ. भावनाबेन एम. पटेल

संपादक

डॉ. सुनील कुमार मानस

प्रबंध-संपादक

डॉ. योगेशकुमार करशनभाई चाडसणिया

‘भारतीय साहित्य, समाज, संस्कृति और शिक्षा का मानवीय प्रदेय’ राष्ट्रीय संगोष्ठी के मंचीय चित्र



ISSN : 2455-4219

आलोचन दृष्टि

भारतीय साहित्य, समाज, संस्कृति और
शिक्षा का मानवीय प्रदेय

(राष्ट्रीय संघोष्ठी : 30-31 जनवरी, 2026 पर केन्द्रित विशेषांक)

वर्ष - 11

अंक - 43

मार्च, 2026

Year - 11

Volume - 43

March, 2026

(उपरोक्त विशेषांक हेतु)

निवेदक

डॉ. भावनाबेन एम. पटेल

संपादक

डॉ. सुनील कुमार मानस

प्रबंध-संपादक

डॉ. योगेशकुमार करशनभाई चाडसणिया

© प्रकाशक :

संपादकीय/प्रकाशकीय पता :-

सृजनश्री न्यास,

आजाद नगर, बिन्दकी, जनपद-फतेहपुर,

उ०प्र०-212635

ई-मेल : aalochan.p@gmail.com

मुद्रण :- जय ग्राफिक्स एण्ड कान्सट्रक्सन,

आई०टी०आई० रोड, फतेहपुर-212601।

एक अंक वार्षिक आजीवन

सदस्यता शुल्क

व्यक्तिगत 500 1800 16,000

संस्थागत 600 2000 18,000

निवेदन



हमें प्रसन्नता है कि शोध पत्रिका 'आलोचन दृष्टि' के इस विशेषांक के माध्यम से हम "भारतीय साहित्य, समाज, संस्कृति और शिक्षा का मानवीय प्रदेय" विषय पर सरकारी विनयन कॉलेज, बेचराजी (गुजरात) तथा राष्ट्रीय उच्चतर शिक्षा अभियान (RUSA) के संयुक्त तत्वावधान में 30-31 जनवरी, 2026 आयोजित दो-दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी में चयनित शोध-पत्रों को आपके समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं। वर्तमान वैश्वीकरण, उपभोक्तावाद और तीव्र तकनीकी प्रगति के दौर में जब मानवीय मूल्य, नैतिकता और सामाजिक संवेदनशीलता जैसी अनेक चुनौतियों का सामना कर रहे हैं, तब यह संगोष्ठी अत्यंत प्रासंगिक और समयानुकूल सिद्ध हुई। इस आयोजन का प्रमुख उद्देश्य भारतीय ज्ञान-परंपरा में निहित मानवीय मूल्यों-करुणा, सह-अस्तित्व, समरसता, नैतिकता और सामाजिक उत्तरदायित्व आदि को पुनः विमर्श के केंद्र में लाना रहा है। भारतीय साहित्य की चिंतन परंपरा सदैव से मानव-केंद्रित रही है। वेद, उपनिषद, रामायण, महाभारत आदि से लेकर आधुनिक रचनात्मक अभिव्यक्तियों तक, हर युग में मानवता और जीवन-मूल्यों को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया गया है। 'कर्म', 'धर्म', 'अहिंसा', 'समता', 'त्याग', 'करुणा' और 'लोकमंगल' जैसे आदर्श भारतीय चिंतन की आधारशिला रहे हैं। इस विशेषांक में संकलित शोध-पत्र इन मूल्यों को विविध दृष्टिकोणों से परखते हुए समकालीन संदर्भों में उनकी प्रासंगिकता को रेखांकित करते हैं।

इस संगोष्ठी के लिए देश के विभिन्न राज्यों से प्राप्त शोध-लेख और उनकी विषय-विविधता यह प्रमाणित करती है कि भारतीय साहित्य, समाज, संस्कृति और शिक्षा के मानवीय आयाम आज भी अकादमिक जगत में गंभीर विमर्श का विषय हैं। प्रस्तुत शोध-पत्रों में साहित्यिक विश्लेषण, सांस्कृतिक अध्ययन, सामाजिक संरचना, शिक्षा-दर्शन तथा लोकपरंपराओं के माध्यम से मानवीय मूल्यों की गहन व्याख्या की गई है। यह संकलन न केवल विविध अनुशासनों के बीच संवाद स्थापित करता है, बल्कि बहुआयामी बौद्धिक दृष्टिकोण को भी समृद्ध करता है। इस विशेषांक का एक महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि इसमें परंपरा और आधुनिकता के मध्य संतुलन स्थापित करने का प्रयास किया गया है। जहाँ एक ओर प्राचीन भारतीय ज्ञान-परंपरा के मूल्यों का पुनर्पाठ किया गया है, वहीं दूसरी ओर आधुनिक समाज में उनके प्रयोग और उपयोगिता पर भी विचार किया गया है। विशेष रूप से शिक्षा के क्षेत्र में मानवीय मूल्यों के समावेश की आवश्यकता पर बल दिया गया है, ताकि शिक्षा केवल ज्ञानार्जन तक सीमित न रहकर व्यक्तित्व निर्माण और सामाजिक उत्तरदायित्व के विकास का माध्यम बन सके। लोकजीवन और लोकसंस्कृति से जुड़े शोध-पत्र इस संकलन को और अधिक समृद्ध बनाते हैं। लोककथाएँ, लोकगीत, त्योहार और परंपराएँ भारतीय समाज के जीवंत पक्ष हैं, जिनमें मानवीय मूल्यों का सहज और स्वाभाविक समावेश होता है। इन परंपराओं के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय समाज में मानवीय संवेदनाएँ केवल सैद्धांतिक अवधारणाएँ नहीं, बल्कि व्यवहारिक जीवन का अभिन्न अंग रही हैं।

हम यह विश्वास करते हैं कि 'आलोचन दृष्टि' का यह विशेषांक शोधार्थियों, अध्यापकों, साहित्यकारों और समाजशास्त्रियों के लिए समान रूप से उपयोगी सिद्ध होगा। यह न केवल ज्ञान-विस्तार का माध्यम बनेगा, बल्कि पाठकों को भारतीयता के मूल स्वरूप और उसके मानवीय पक्षों को समझने की प्रेरणा भी प्रदान करेगा। इस अवसर पर हम संगोष्ठी के संयोजक डॉ. सुनील कुमार मानस के प्रति विशेष आभार व्यक्त करते हैं, जिनके कुशल संयोजन और सतत प्रयासों से यह आयोजन सफलतापूर्वक संपन्न हुआ। अंततः, हमारा यह निवेदन है कि इसे केवल एक अकादमिक दस्तावेज के रूप में न देखकर, भारतीय ज्ञान-परंपरा और मानवीय मूल्यों के सतत विकास के क्रम में स्वीकार किया जाए। आशा है कि यह संकलन पाठकों में नई दृष्टि, संवेदनशीलता और सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना को जागृत करेगा तथा भविष्य में शोध के लिए नई दिशाएँ प्रदान करेगा। इन्हीं शुभकामनाओं के साथ...


(भावनाबेन एम. पटेल)

संपादकीय



भारतीय चिंतन—धारा एक सतत, प्रवाहमान और गतिशील बौद्धिक परंपरा है, जो अनादि काल से निरंतर विकसित होती हुई वर्तमान तक पहुँची है और निश्चय ही भविष्य में भी नए आयामों के साथ विकसित होती रहेगी।... यह केवल विचारों का संचयन नहीं, बल्कि जीवन, जगत और मानवीयता की गहन व्याख्या करने वाली एक जीवंत प्रक्रिया है। इस चिन्तन—यात्रा में मनीषियों, दार्शनिकों और चिंतकों के संचित अनुभवों, उनके सांस्कृतिक और आध्यात्मिक बोध की वैचारिक—अभिव्यक्तियाँ सनः—सनः विकसित होती रही हैं। इसी सतत प्रक्रिया के कारण भारतीय चिंतन—धारा अपनी महत्ता बनाये रखते हुए निरंतर नवीनता की ओर उन्मुख रही है। यह समझना भी आवश्यक है कि किसी भी चिंतन की भावभूमि— देश, काल और परिवेश से जुड़ी होती है और मनुष्य की चेतना, उसका दृष्टिकोण और उसकी बौद्धिकता— उसकी परिस्थितियों। यही कारण है कि चिंतन—धारा एक स्थिर सत्ता न होकर निरंतर गतिशील प्रक्रिया है, जिसमें सृजन और पुनर्सृजन साथ—साथ चलते रहते हैं।... काल—परिवर्तन के साथ विचारधाराएँ भी रूपांतरित होती रहती हैं— जैसे दिन और रात्रि के चक्र एक—दूसरे को स्थान देते हुए निरंतरता बनाए रखते हैं, वैसे ही चिंतन की धाराएँ भी समयानुकूल प्रसरित होकर आबद्धता बनाये रखती हैं।

भारतीय चिंतन—परंपरा का मूल— वेदों में निहित है, जहाँ से ज्ञान, सत्य और ब्रह्म की खोज प्रारंभ होती है। उपनिषदों ने इस खोज को दार्शनिक गहराई प्रदान की, जबकि ब्राह्मण और आरण्यक ग्रंथों ने यज्ञ, कर्म और जीवन के मूल रहस्यों की व्याख्या की। रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्यों ने इन विचारों को लोक—जीवन और सामाजिक—व्यवहारिक—आचरण से जोड़ा, जबकि पुराणों ने उन्हें सांस्कृतिक और धार्मिक आधार प्रदान किया। मध्यकाल में भक्ति—आंदोलन ने इस परंपरा को जन—जन से जोड़ते हुए उसे सामाजिक समरसता, प्रेम और आध्यात्मिकता का स्वर दिया। कबीर, तुलसी, सूर, मीरा, नरसी, नामदेव और तुकाराम जैसे संतों ने अपनी सहज, अनुभवजन्य और लोकाभिमुख वाणी के माध्यम से भारतीय चिंतन को जीवंत और व्यापक बनाया। आधुनिक काल में नवजागरण और स्वाधीनता आंदोलन के चिंतकों— स्वामी दयानंद सरस्वती, स्वामी विवेकानंद, महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू, सर्वपल्ली राधाकृष्णन, भारतेन्दु हरिश्चंद्र, मैथिलीशरण गुप्त, रवींद्रनाथ ठाकुर, बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय, हजारीप्रसाद द्विवेदी, विद्यानिवास मिश्र और निर्मल वर्मा आदि ने इस परंपरा को आधुनिक संदर्भों में जोड़ते हुए उसे वैश्विक परिप्रेक्ष्य प्रदान किया। इस प्रकार, भारतीय चिंतन—धारा 'दृष्टि' और 'सृष्टि' दोनों स्तरों पर निरंतर विकसित होती हुई एक जीवंत परंपरा बनी, जो अतीत के अनुभवों, वर्तमान की चुनौतियों और भविष्य की संभावनाओं के मध्य सेतु का कार्य करती है। यही इसकी वास्तविक शक्ति और स्थायित्व का आधार है।

भारतीय चिंतन—धारा की विशेषता है— यहाँ विविधता, अंतर्विरोध, वैचारिक भिन्नताएँ, जीवन—दृष्टि के अनेक आयाम, जो परस्पर भिन्न होते एवं प्रतीत होते हुए एक साथ सह—अस्तित्व में रहते हैं। यही कारण है कि भारतीय चिंतन को किसी एक सूत्र, परिभाषा या संकीर्ण वैचारिक ढाँचे में नहीं बाँधा जा सकता। कई बार यह अनुभव होता है कि यह परंपरा केवल बौद्धिक व्याख्या का विषय नहीं, बल्कि अनुभूति और जीवन—बोध की प्रक्रिया है। इसे 'कहा' नहीं 'जिया' जाता है। जब यह अनुभव अन्तः—प्रसरित हो जाता है, तब प्रकृति का नैसर्गिक संतुलन मनुष्य के अंतर्मन में स्वयं प्रतिष्ठित हो जाता है। तब अभिव्यक्ति गौण हो जाती है और जीवन का नैसर्गिक संमोहन ही भाषा बन जाती है। इसी अर्थ में कहा गया है कि भारतीय संस्कृति बोली नहीं जाती, बल्कि जी जाती है— वह अनुभूति, आचरण और संवेदना के माध्यम से व्यक्त एवं अभिव्यक्त होती है, जिसके दो महत्त्वपूर्ण सूत्रों के हवाले से महर्षि वेदव्यास पुराणों का सार ही व्यक्त कर देते हैं—

अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।

परोपकाराय पुण्याय, पापाय परपीडनम्।।

मेरी दृष्टि में भारतीय चिंतन-धारा के दो प्रमुख आयाम हैं— वैचारिक (बौद्धिक) और रागात्मक (भावात्मक)। वैचारिक पक्ष मुख्यतः वैचारिक चिंतन की परंपरा से संबद्ध है, जहाँ तर्क, विवेक और दार्शनिक विश्लेषण की प्रधानता होती है, जबकि रागात्मक पक्ष भाव-पक्ष से जुड़ा है, जहाँ प्रेम, भक्ति, सौंदर्य और भावानुभूति की प्रमुखता रहती है। वस्तुतः ये दोनों परंपराएँ विरोधी नहीं, बल्कि परस्पर पूरक हैं। समस्या तब उत्पन्न होती है जब हम एक को स्वीकार कर दूसरे का निषेध करने लगते हैं। इसी द्वंद्व के कारण हम अक्सर बहस, विवाद और तर्क के जाल में उलझ जाते हैं। तब कबीर की बानी— “पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय” तुलसी की आत्मानुभूतिक रागात्मकता “जेहि जानहि जेहि देव जनाई। जानत तुम्हहिं तुम्हहिं होई जाई।।” और रहीम के चिंतन— “रहिमन बात अगम्य की, कहन-सुनन की नाहिं...” आदि बातों में हमें सिर्फ अन्तर्विरोध ही दिखाई देते हैं, जबकि ये एक-दूसरे की पूरक हैं। यदि हम भारतीय चिंतन के किसी एक मूल-सूत्र— जैसे समन्वय, करुणा, त्याग, लोकमंगल या एकात्मता आदि— को आत्मसात कर लें, तो यह परंपरा अत्यंत सहज और बोधगम्य हो जाती है। अन्यथा, इसकी व्यापकता हमें उलझन में डालती रही है।... वर्तमान समय में औपनिवेशिक मानसिकता और उपभोक्तावादी दृष्टिकोण ने हमारी बौद्धिक संवेदना को इस प्रकार प्रभावित किया है कि हम अपनी ही परंपरा के गूढ़ अर्थों को स्पष्ट रूप से नहीं समझ पाते। जितनी अधिक सुविधाएँ हमारे जीवन में आती जा रही हैं, उतनी ही अधिक दुविधाएँ भी उत्पन्न हो रही हैं, और इस प्रक्रिया में हम सत्य के मूल स्रोत से उतने ही दूर होते जा रहे हैं। आज जिसे ‘Indian Knowledge System (IKS)’ कहा जाता है, वह कई बार अपने मूल उद्देश्य से विचलित होकर एक औपचारिक या बाजारोन्मुख संरचना का रूप लेता प्रतीत होता है। जबकि भारतीय चिंतन-धारा कभी भी व्यापारिक या उपभोक्तावादी दृष्टि पर आधारित नहीं रहा। इसे न तो ‘उत्पाद’ के रूप में देखा जा सकता है और न ही ‘बाजार’ की भाषा से समझा जा सकता है। यह एक जीवन-पद्धति है, जो साधना, अनुभव और सहज आंतरिक रूपांतरण पर आधारित है।

राष्ट्रीय संगोष्ठी (भारतीय साहित्य, समाज, संस्कृति एवं शिक्षा का मानवीय प्रदेय) के आयोजन में देश के विभिन्न भागों से विद्वान, शोधार्थी, विद्यार्थी और चिंतक उपस्थित हुए। इस आयोजन की सफलता के लिए मैं कृतज्ञतापूर्वक KCG गुजरात, अपने महाविद्यालय को तथा समस्त सहयोगी संस्थाओं का आभार व्यक्त करता हूँ, विशेष रूप से श्री दिलीप राणाजी का और डॉ. योगेश यादवजी का। इसमें सभी विद्वत वक्ताओं और प्रतिभागियों का योगदान अत्यंत महत्त्वपूर्ण रहा। मैं सभी के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। शोध-पत्रों के चयन और संकलन में डॉ. भावनाबेन एम. पटेल और डॉ. योगेशभाई चाडसणिया ने महनीय भूमिका निभायी है, जिनके प्रति मैं सादर कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। साथ ही, शोध-पत्र प्रस्तुत करने वाले विद्वानों, समीक्षकों के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिन्होंने अपने सहयोग से इस विशेषांक को प्रकाशन योग्य बनाया। विशेषकर प्रो. गिरीश्वर मिश्र, प्रो. बलवंत जानी, प्रो. किशोर सी. पोरिया, प्रो. देवसिंह बी.राठवा, डॉ. अनूप पति तिवारी और डॉ. प्रमोद शंकर पाण्डेय जी ने।

चयनित शोध-पत्रों का यह संकलन आलोचन दृष्टि के विशेषांक रूप में प्रकाशित हो रहा है, जिसमें केवल मौलिक, गंभीर और मूल्यवान शोध-पत्रों को स्थान दिया गया है। यह समस्त प्रयास मानवीय मूल्यों के संवर्धन की दिशा में एक सार्थक कदम है। उपरोक्त विशेषांक कुल 33 शीर्षकों में विभक्त है, जिसमें हिंदी-भाषा के 20 (संगोष्ठी प्रतिवेदन सहित), संस्कृत-भाषा का 1 (एक), गुजराती-भाषा के 6 (छः) और अंग्रेजी-भाषा के 6 (छः) शोध-पत्र शामिल हैं। सभी शोध-पत्र या लेख अपने-अपने क्षेत्र के विद्वानों की महनीय अभिव्यक्तियाँ हैं। संगोष्ठी के विशेषांक के कारण ही गुजराती भाषा के लेखों को इसमें संकलित एवं प्रकाशित किया गया है, शेष जैसा चल रहा था, वैसा ही चलेगा।... इस अंक के संपादन हेतु ‘आलोचन-दृष्टि परिवार’ को सादर आभार ज्ञापित करता हूँ, जिनके सहकार से ही— पत्रिका का यह विशेषांक अपना अंतिम कलेवर ग्रहण कर रहा है। साथ ही, पाठकों-लेखकों के स्नेह एवं लगाव के प्रति भी, कृतज्ञ हूँ।

विषयानुक्रमिका

• संपादकीय	iii-iv
• विषयानुक्रमिका	v-vi
1. भारतीय परंपरा-बोध और आधुनिकीकरण प्रो. गिरीश्वर मिश्र	1-11
2. भारतीय ज्ञान परंपरा की अवधारणा में संपूर्णता का स्वर और सुर प्रो. बलवंत जानी	12-15
3. भारतीय-ज्ञान-प्रणाली का वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रो. किशोर सी. पोरिया	16-19
4. भारतीय ज्ञान में संस्कृत शिक्षा के वर्णों का अन्वय और समन्वय प्रो. देवसिंह बी. राठवा	20-31
5. बोध : सामाजिक परिवर्तन का आन्तरिक कारक डॉ. अनूप पति तिवारी	32-35
6. मर्यादित समाज के निर्माण में श्रीरामचरितमानस की भूमिका डॉ. राहुल मिश्र	36-40
7. भक्ति साहित्य में जीवनबोध और मूल्य चिन्तन डॉ. प्रमोद शंकर पाण्डेय	41-44
8. आदिवासी चिन्तन की दृष्टि एवं सृष्टि डॉ. योगेश कुमार तिवारी	45-51
9. गुजराती साहित्य में भारतीय चिंतन का स्वरूप डॉ. गौरांगभाई एच. जानी	52-54
10. भारतीय लोक जीवन में दर्शन की अवधारणा डॉ. रतिलाल जी. कालरीया	55-57
11. भारतीय समावेशी शिक्षा का मानवीय प्रदेय : परंपरा, चुनौतियाँ एवं संभावनाएँ डॉ. सुधीर कुमार तिवारी	58-61
12. भारतीय चिंतन और समाज के समकालीन स्वरूप का समाजशास्त्रीय और... डॉ. योगेशकुमार करशनभाई चाडसणिया	62-64
13. नारी चिंतन का भारतीय-ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य (समीक्षात्मक-अनुशीलन) डॉ. आकांक्षा अग्निहोत्री	65-69
14. भारतीय चिंतन के परिप्रेक्ष्य में भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास डॉ. वर्षा तिवारी	70-73
15. भविष्य की शिक्षा और समाज के निर्माण में साहित्य की भूमिका दीपिका	74-76

16. हिन्दी सिनेमा के सूफ़ी गीतों में प्रेम, सहिष्णुता और मानवता 77-79
अंजली कुमारी एवं डॉ. आशीष पाण्डेय
17. भक्ति आंदोलन और सामाजिक समरसता 80-82
डॉ. आशा जी. प्रजापति
18. बौद्ध और जैन साहित्य में करुणा एवं अहिंसा 83-85
डॉ. रमेश बी. कालिया
19. भारतीय ज्ञान परंपरा में विश्वबंधुत्व की अवधारणा 86-89
डॉ. जगदीश नारायण तिवारी
20. वैदिक एवं उपनिषदिक साहित्ये मानवमूल्याः 90-93
डॉ. कश्यप जी. त्रिवेदी
21. भारतीय ज्ञान परंपराना वाहक गुजराती मध्यकालीन साहित्य स्वरूपो 94-97
डॉ. विपिन जे. चौधरी
22. भारतीय परिवारमां सांस्कृतिक मूल्य 98-102
डॉ. शैलेष ब्रह्मभट्ट
23. भारतीय ज्ञान प्रणालीना विकासमां पुस्तकालयोनं योगदान 103-107
डॉ. मृगलीणी डी. एवे
24. उत्तर गुजरातना लोकसाहित्यमां भारतीय समाजनुं दर्शन 108-112
डॉ. राजेशभाई एम. रवारी
25. विश्वशांतिना कवि उमाशंकर जोशी 113-116
रामशंकर कानजुभाई श्रीमाणी
26. धाराधार पंथकना लोकसाहित्यमां भारतीय समाजनुं दर्शन 117-119
राजनसिंह कानजु राठोड
27. **Indian Political Thought: Necessity and Contemporary Relevance** 120-122
Prof. Rajendrasinh H. Parmar
28. **Indian Ethos and Contemporary Multi-dimensional Discourses** 123-127
Prof. Hetal S. Patel
29. **The Roots of Modernism in India: Language, Literature, and Free...** 128-130
Dr. Hiral R. Soni
30. **Forgotten Feminine Virtues: Human Ideals through Urmila's Lens** 131-133
Malhar Jayeshkumar Chhanalal
31. **The concept of Vasudhaiva Kutumbakam (The World is aFamily) :...** 134-138
Dr. Ajitsinh A. Zala
32. **Contemporary Society Challenges to Human Values** 139-141
Dr. Tulsi Rani Patel
33. भारतीय साहित्य, समाज, संस्कृति और शिक्षा का मानवीय प्रदेय 'राष्ट्रीय संगोष्ठी...' 142-146
डॉ. सुनील कुमार मानस

भारतीय परंपरा-बोध और आधुनिकीकरण

प्रो. गिरीश्वर मिश्र*

देश के वर्तमान परिदृश्य से प्रगट है 'देश', 'राष्ट्र' और 'विकास' जैसी अवधारणाओं को केंद्र में रख कर चलने वाली चर्चाओं और विमर्शों में "भारत" की वास्तविक प्रकृति या स्वभाव प्रमुखता से ध्यान आकृष्ट कर रहा है। सभ्य समाजों में अस्मिता को परिभाषित करना और उसे पहचान कर स्थापित आजकल मुख्य धर्म कर्म होता गया है। विशेषतः मीडिया की प्रमुखता के साथ देश, राज्य, राष्ट्र और गणतंत्र जैसे संप्रत्यय आज राजनय समेत तमाम विषयों के लिए केंद्रीय होते गए हैं। आधुनिक सभ्यता के बढ़ते कदम के साथ क्रूरता, बर्बरता, छल और बेईमानी के नए नए रूप देखने को मिल रहे हैं। तकनीकी प्रगति के साथ प्रतिस्पर्धा युद्ध, नरसंहार तथा लूटपाट के नए-नए रूप सामने आ रहे हैं। ऐसी स्थिति में जब विकसित, विकासशील और अविकसित देशों के बीच की खाई भी बढ़ रही है यह स्पष्ट होता जा रहा है कि आधुनिकीकरण और परम्परा की पाश्चात्य अवधारणाएँ और उनका अनुप्रयोग अपर्याप्त हैं और मानव हित में नहीं हैं। अतएव यह विचारणीय है कि परम्पराबोध और आधुनिकीकरण के प्रसंग में भारतीय चिंतन के अवदान पर दृष्टिपात किया जाय। तादात्म्यीकरण और अस्मिता-निर्माण देश-काल की परिस्थितियों के साथ अनुबंधित होता है। इस कारण इस प्रक्रिया को लगातार चलते ही रहना चाहिए। संवेदनशील होने के कारण इस पर विचार के लिए आवश्यक सतर्कता के साथ परिपक्व वैचारिक विवेक जरूरी है। महात्मा गांधी का हिंद स्वराज जो 1909 में प्रकाश में आया था एक विशेष उदाहरण के रूप में स्मरण में आता है जिसका उद्देश्य गुलाम भारत में आजाद भारत देश का एक नक्शा खड़ा करना था। यह भविष्योन्मुखी परिकल्पना का प्रखर उद्गार था। देश की अस्मिता को परिभाषित करने का एक विशेष प्रसंग आज के राजनैतिक सामाजिक परिदृश्य में तैर रहा है। भारत के स्वतंत्र गणतांत्रिक स्वरूप की शती मनाने के क्रम में 'विकसित भारत' की परिकल्पना आज चर्चा में है। यह कल्पना की गई है कि अगले पच्चीस वर्षों तक भारत को "विकसित देशों" की श्रेणी में पहुँचा दिया जाएगा जिसका मुख्य परिणाम एक अतिसम्पन्न कई ट्रिलियन डालर की अर्थ व्यवस्था वाले देश का निर्माण होगा। यह संकल्प सभी के लिए सुखद और हृदयग्राही है।

उपर्युक्त चर्चा के प्रसंग में देश की अस्मिता की रचना और पुनर्रचना प्रमुख प्रश्न के रूप में उपस्थित है। एक अति विशाल गणतंत्र के रूप में भारत यद्यपि एक आधुनिक देश है पर उसका अस्तित्व अत्यन्त प्राचीन है। वर्ष 1947 उत्तर औपनिवेशिक आरम्भ जरूर है जो कुल तीन चौथाई सदी की घटना है। इस तरह अमेरिका, इंग्लैंड और फ्रांस आदि देशों की तुलना में नया है। किंतु भारत का विचार और उसकी अनेक समृद्ध अवधारणाएँ गहरे अतीत में हैं। भारत का मौलिक स्वरूप एक विकसित सभ्यता के रूप में सहस्राब्दियों से विद्यमान रहा है। इस समृद्धि ने विदेशी आक्रांताओं को लगातार आकृष्ट किया और उन्होंने देश का शोषण भी किया जिसकी पराकाष्ठा अंग्रेजी राज के लगभग दो सौ वर्ष के बीच हुई जिसमें आर्थिक और बौद्धिक रूप से पंगु बनाने की उसकी सजीव विरासत हमारे पास है जो सभ्यता की निरंतरता की गवाही दे रही है। एक जीवंत सभ्यता की सुदीर्घ निरंतरता आश्चर्यकारी है खास तौर पर जब प्राचीन यूनानी, मिश्र तथा रोमन सभ्यताओं का आज कोई अता पता ही नहीं है। भारतीय संस्कृति की यह अक्षुण्णता उस विशिष्ट संस्कृति की आंतरिक जीवनी शक्ति को उजागर करती है।

आज जब भारतीयता पर विचार पुनः प्रासंगिक हो रहा है तो इसकी जीवनी शक्ति पर ध्यान दिया जाना चाहिए। भारत के समग्र बोध को सांस्कृतिक से देखना समझना इसलिए भी जरूरी है कि औपनिवेशिक प्रभाव में सोचने समझने की आदतें और खँचे अधिकांशतः पश्चिम से आयातित रहे हैं। भारत में ब्रिटिश राज यूरोपीय उपनिवेशवाद द्वारा अपना वैश्विक वर्चस्व स्थापित करने की विशाल परियोजना का

*पूर्व कुलगुरु, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र। ३०७, टावर १, पार्श्वनाथ मैजेस्टिक फ्लोर्स, इंदिरापुरम, गाजियाबाद - २०१०१४

हिस्सा था। यह भी उल्लेखनीय है कि भारत में ईसाई यूरोपीय लोगों का आगमन व्यापार की छद्म आड़ में शुरू हुआ था। यह भी सर्वविदित है कि अमेरिका, कैरेबियाई देशों, अफ्रीका, ऑस्ट्रेलिया और दुनिया के अन्य क्षेत्रों में स्थानीय लोगों का बर्बर संहार किया जाता रहा।

भारत की सभ्यता, उसकी संस्कृति और परम्परा एक अलग तरह की दृष्टि प्रस्तुत करती है जो कई ढंग से हमें प्रेरित करती है। भारत को उसके स्वभाव के साथ ग्रहण करते हुए देश के लिए मार्ग तय करना आज देश की एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक ज़रूरत है। परंपरा-बोध और आधुनिकता की वर्तमान चर्चा को हिंदी साहित्य के प्रसंग में हुए विकासक्रम के प्रसंग में देखना उपयुक्त होगा। उल्लेखनीय है कि आधुनिक हिंदी साहित्य में भारतीयता का विचार केवल परंपरा, इतिहास या धार्मिक मूल्य तक सीमित नहीं है। यह सांस्कृतिक, सामाजिक और नैतिक चेतना का समग्र रूप है, जो जीवन के विविध पक्षों से जुड़ा हुआ है। आधुनिकता मनोदशा है जो समकालीन बोध से जुड़ी हुई है। साथ ही ऐतिहासिक क्रम में आधुनिकता को एक काल खंड में आए परिवर्तन के साथ भी जोड़ दिया गया है। आधुनिकता (नया) को प्रायः परंपरा (पुरातन) के विरुद्ध रख कर भी देखा जाता है। आज के विमर्श में आधुनिकता कुछ मूल्यों से जोड़ दी गई जो प्राचीन दृष्टि के विपरीत प्रस्तुत हुए। इतिहास क्रम में आधुनिकता के आगमन ने भारतीयता को नकारने या उसके विपरीत खड़ा करने की बजाय सामाजिक अस्तित्व की समीक्षा को गहन और परिकल्पना बहुआयामी बनाने का अवसर दिया। परंपरागत भारतीयता की दृष्टि मुख्य रूप से धार्मिक, नैतिक और सांस्कृतिक मूल्यों से जुड़ी हुई थी किंतु आधुनिकता के आगमन के साथ औपनिवेशिक शासन, पश्चिमी विज्ञान और नए लोकतांत्रिक विचारों के प्रभाव से यह जटिल और चुनौतीपूर्ण हो गई। अंग्रेजों के शासन ने जिस प्रकार भारतीय जीवन में हस्तक्षेप किया उसने संकट के साथ एक चुनौती भी पेश की। इस दुविधा ने भारतीय चिंतकों को अपने स्व पर एक बार पुनःविचार करने की भूमि उपस्थित की। भारतीयता के अध्येता और चिंतक निर्मल वर्मा (2000) की यह टिप्पणी बड़ी सटीक है, 'संकट की घड़ी में अपनी परंपरा का मूल्यांकन करना एक तरह से खुद अपना मूल्यांकन करना है, अपनी अस्मिता की जड़ों को खोजना है। हम कौन हैं— यह एक दार्शनिक प्रश्न न रहकर खुद अपनी नियति से मुठभेड़ करने का तात्कालिक प्रश्न बन जाता है' (पृ9-10)। साहित्यकारों ने यह प्रश्न उठाया कि क्या भारतीयता केवल संस्कृतियों, रीति-रिवाजों और प्राचीन ग्रंथों तक सीमित है या इसमें नवीनता, न्याय और समावेशिता की भी जगह होगी। आधुनिकता की अवधारणा के प्रमुख आधार तर्कशीलता और विवेक, व्यक्ति की स्वतंत्रता और अधिकार,?... वैज्ञानिक दृष्टिकोण, लोकतांत्रिक मूल्य, समानता और न्याय हैं। भारतीय संदर्भ में आधुनिकता का अर्थ परंपरा और नवीनता के समन्वय से है। भारतीय समाज ने आधुनिकता को ग्रहण करते हुए भी अपनी आध्यात्मिकता, लोकजीवन और संस्कृति से सम्बन्ध को जीवित बनाए रखा। यही भारतीयता और आधुनिकता का संवाद-क्षेत्र निर्मित करता है।

यह जिज्ञासा स्वाभाविक रूप से उठती है और मन में प्रश्न भी उठता है कि भारतीयता की अवधारणा किस प्रकार संकल्पित हुई है? विश्व की प्राचीनतम सभ्यताओं में से एक होने के श्रेय के साथ भारत और उसकी पहचान यानी भारतीयता का आशय समझने के लिए देश काल के आयामों की दृष्टि से विचार अपेक्षित है। इसके लिए व्यापक और गहरी दृष्टि संपन्न आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के मारफत अपनी बात शुरू करूंगा। भारत के संदर्भ में वे अपने एक निबंध 'भारतवर्ष की सांस्कृतिक समस्या' में लिखते हैं, भारतवर्ष बहुत बाद देश है। इसका इतिहास बहुत पुराना है। इस इतिहास का जितना अंश जाना जा सकता है, उसकी अपेक्षा जितना नहीं जाना जा सकता, वह और भी पुराना और महत्वपूर्ण है। न जाने किस अज्ञात काल से नाना जातियाँ आ-आकर इस देश में बसती रही हैं और इसकी साधना को नाना भाव से मोड़ती रही हैं, नया रूप देती रही हैं और समृद्ध करती रही हैं (सिंह, 2020 पृ.76)। ' एक सभ्यता और एक राष्ट्र के रूप में भारत निश्चय ही विविधता और एकता का एक अनूठा संगम है। भारत का विचार और "भारतीयता" की अवधारणा की इतिहासकारों, दार्शनिकों, राजनेताओं, साहित्यकारों और सांस्कृतिक विचारकों द्वारा विभिन्न तरीकों से व्याख्या की जाती रही है। प्राचीन ग्रंथों से लेकर औपनिवेशिक व्याख्याओं और आधुनिक संवैधानिक मूल्यों तक, भारत की परिभाषा पर विचार समय के साथ विकसित और परिष्कृत हुआ

है। भारत और भारतीयता की वैचारिक संरचना को लेकर विविध दृष्टिकोणों की उपस्थिति राष्ट्र के बहुलवादी दर्शन को प्रकट करती है। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में भारत का विचार कभी भी मात्र एक भौगोलिक इकाई नहीं रहा है; यह मूलतः एक सभ्यतागत अवधारणा है जो सदियों से आकार लेती रही है और अपने भीतर मिथक, दर्शन, राजनीति और संस्कृति के जटिल अंतर्संबंधों को समेटे हुए है। भारत का ऐतिहासिक अन्वेषण उस चेतना के प्रकटीकरण से जुड़ा हुआ है जिसने सदैव बहुलता को एकता के साथ, व्यष्टि को समष्टि के साथ और सातत्य को परिवर्तन के साथ संजोने और उनके बीच सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया है। यह सही है कि एक देश के रूप में भी भारत की भौगोलिक सीमाएं हैं जो एक भू-खंड के स्वामित्व को निर्धारित करती हैं, लेकिन हम देख रहे हैं कि भूगोल भी इतिहास का विषय बनता जा रहा है। अखंड भारत दो बार विभाजित हुआ और अब यह कम से कम तीन राष्ट्र राज्यों के रूप में विश्व राजनीति के खाते में दर्ज हो चुका है, लेकिन यह भी सही है कि भारत और भारतीयता का विचार हजारों वर्षों की सभ्यता और संस्कृति की यात्रा के दौरान पुष्पित और पल्लवित हुआ। वेद मंत्र आज भी अपने मूल रूप में जीवित हैं। भारत केवल भूगोल और इतिहास नहीं है बल्कि एक जीवंत अस्तित्व को व्यक्त करता है जिसमें जीवन के विचार, संस्थाएं और व्यवहार शामिल हैं। इस तरह का अस्तित्व 'अखंड', 'अव्यय', 'सकल' और 'समग्र' जैसे शब्दों के साथ पूर्णता की ओर ध्यान आकर्षित करता है। इस दृष्टि ने सब कुछ और सभी को देखने पर जोर दिया है। जैसा कि भगवद्गीता में कहा गया है, सभी प्राणियों में एक अविभाज्य को देखना और विभिन्न पदार्थों में विभाजित देखकर भी उसे अविभाजित देखना ही सात्विक ज्ञान है— **अविभक्तम् विभक्तेषु यः पश्यति स पश्यति**। निश्चित रूप से इसके पीछे यह भावना रही होगी कि सभी को सभी की आवश्यकता है और कोई भी तटस्थ नहीं हो सकता। समावेशन की तीव्र आकांक्षा यहाँ विद्यमान रही है।

उल्लेखनीय है कि महात्मा गांधी सहित सभी नए और पुराने विचारकों ने सीमित आत्म के विचार को अपर्याप्त माना है। इसीलिए चाहे वह ब्रह्म का विचार हो या सत्व, रज और तम की त्रिगुणात्मक प्रकृति की अवधारणा, अपने सीमित आत्म या अहंकार (स्वार्थ) से परे जाने की चुनौती को प्रमुखता से विमर्श में स्थान दिया गया है। अहंकार ही दूसरों से भेद बढ़ाते हुए प्रतिस्पर्धा और संघर्ष को जन्म देता है। यह प्रवृत्ति हमारे परिवेश और पर्यावरण के शोषण को और बढ़ावा देती है। विश्लेषण और अनेकता से अनेकता की कल्पना पनपती है, लेकिन संश्लेषण के बिना समस्या का समाधान नहीं होता। अनेकता का बोध एकता का विरोधी नहीं है। भारतीय दृष्टिकोण इस तथ्य को मान्यता देता है कि किसी दिए गए सत्य को विभिन्न तरीकों से समझा जा सकता है— **एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति**। एक विचार के रूप में भारत विविधताओं को पहचानते हुए एकता की पहचान और अभ्यास में लगा रहा है। इस महान भावना की अभिव्यक्ति स्वामी विवेकानंद, महात्मा गांधी और महर्षि अरविंद के विचारों में दिखाई दी। इन सभी ने पहले से चली आती परंपरा को आत्मसात करके आगे बढ़ने पर जोर दिया है पर उसमें परिष्कार भी है। परम्परा में 'ट्रेडीशन' की तरह ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं है, वह सुरसरि गंगा के अजस्र प्रवाह की तरह सतत है।

भारत के विषय में प्रारंभिक संदर्भ वैदिक संहिताओं में मिलते हैं। उदाहरणार्थ ऋग्वेद में भरत वंश का उल्लेख मिलता है, एक ऐसा कुल जिसकी पहचान धीरे-धीरे एक व्यापक सांस्कृतिक समग्र का प्रतीक बन गई। महाभारत में, इस भूमि का वर्णन 'भारतवर्ष' के रूप में किया गया है, जो पवित्र नदियों, पर्वतों और तीर्थ मार्गों आदि से घिरा हुआ एक स्थानविशेष है। विष्णु पुराण में भारत को "समुद्र के उत्तर और बर्फाले पर्वतों के दक्षिण" की भूमि के रूप में परिभाषित किया गया है, जहाँ पवित्र कर्तव्यों का पालन करने वाले लोग निवास करते हैं। महाकवि कालिदास की भारत-स्मृति में हिमालय की सुषमा विराजती है:

अस्त्युत्तरस्याम् दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।

पूर्वापरौ तोयनिधीवगाह्य स्थित पृथिव्यामिव मानदंडः॥

इस प्रकार के संदर्भ यह दर्शाते हैं कि भारत की प्रारंभिक कल्पना केवल क्षेत्रीय ही नहीं, बल्कि नैतिक और आध्यात्मिक भी थी। यह एक पवित्र भू-रचना है जिसने विविधता को सुसंगति प्रदान की। धार्मिक और दार्शनिक शास्त्रों के माध्यम से एकता की यह भावना क्रमशः और गहरी हुई। बौद्ध और जैन धर्मों द्वारा निर्मित तीर्थयात्रा और शिक्षा के अखिल भारतीय संजाल, और साथ ही ज्ञान की भाषा के रूप में संस्कृत के प्रसार ने सभ्यतागत जुड़ाव को बल प्रदान किया। शंकराचार्य की दिग्विजय (आठवीं शताब्दी में

देश भर में दार्शनिक यात्राएँ!) ने इस आध्यात्मिक भूगोल को और भी सुदृढ़ किया और दूरस्थ क्षेत्रों को एक साझा दार्शनिक विमर्श के सूत्र में पिरोया। इस प्रकार भारत का विचार न केवल एक भूमि रहा, बल्कि तीर्थों, विचारधाराओं और सौंदर्यपरक परंपराओं का एक सभ्यतागत और विस्तृत संजाल बन गया।

मध्यकालीन शताब्दियों ने नए तरह के मेल और सम्मिश्रण उपस्थित किए। दिल्ली सल्तनत और बाद में मुगल साम्राज्य के साथ, हिंदुस्तान शब्द के उपयोग का प्रचलन बढ़ा, खासकर बाबर के बाबरनामा और अबुल फजल के आइन-ए-अकबरी जैसे ग्रंथों में। अबुल फजल ने हिंदुस्तान को एक एकीकृत राज्य के रूप में वर्णित किया जहाँ विभिन्न समुदाय सह-अस्तित्व में रह सकते थे। साथ ही, सांस्कृतिक संश्लेषण भी फला-फूला। कबीर, मीराबाई और तुलसीदास जैसे भक्तों, संतों और कवियों ने आध्यात्मिक एकता के ऐसे दर्शन प्रस्तुत किए जो ऊंच नीच के सामाजिक पदानुक्रमों और धार्मिक विभाजनों का अतिक्रमण करते हुए उनसे परे थे। इन स्वरो के माध्यम से, भारत की कल्पना साझा भक्ति, उदात्तता और नैतिक प्रयास के एक स्थान के रूप में की गई।

औपनिवेशिक शासन ने भारत बोध की इस कल्पना को नया रूप दिया। अंग्रेजों ने प्रशासनिक एकीकरण और आधुनिक मानचित्रिय सीमाएँ लागू करते हुए, राष्ट्रवादी चिंतन में भारत की पुनर्जागरण को भी प्रेरित किया। बंकिम चंद्र चटर्जी के 'आनंद मठ' के प्रसिद्ध गीत 'वंदे मातरम' ने इस भूमि को भारत माता के रूप में मानवीकृत किया, जिसमें मातृभूमि के प्रति समर्पण और पवित्रता का भाव कूट कूट कर भरा हुआ था। स्वामी विवेकानंद ने भारत को विश्व के लिए एक आध्यात्मिक गुरु के रूप में देखा, जिसकी जड़ें मूलतः उपनिषदों की वैश्विक एकता की दृष्टि में थीं। महात्मा गांधी ने रामराज्य के माध्यम से भारत की पुनर्व्याख्या प्रस्तुत की, एक धर्मतंत्रीय आदर्श के रूप में नहीं, बल्कि सत्य और सामुदायिक नैतिकता पर टिकी एक न्यायपूर्ण और अहिंसक व्यवस्था के रूप में। गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर ने राष्ट्रवाद जैसी रचनाओं और अपनी कविताओं में, सांस्कृतिक संश्लेषण के लिए भारत की प्रतिभा पर जोर दिया। उन्होंने संकीर्णतावाद के विरुद्ध चेतावनी देते हुए, उस विविधता में एकता का उत्सव मनाया जिसने लंबे समय से भारत को परिभाषित किया था। जवाहरलाल नेहरू ने, द डिस्कवरी ऑफ इंडिया में, भारत को एक "अटूट निरंतरता" वाली प्राचीन सभ्यता के रूप में चित्रित किया, जिसने अपनी मूल पहचान को बनाए रखते हुए कई अन्य प्रभावों को भी आत्मसात किया है। यह दृष्टिकोण भारतीयता को दर्शन, कला और परंपराओं की एक साझा विरासत के रूप में देखता है जो क्षेत्रीय मतभेदों से परे है। ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने भारतीय पहचान पर नई बहसें शुरू कीं। अंग्रेज अक्सर भारत को "कई राष्ट्रों की भूमि" के रूप में चित्रित करते थे, और फूट डालो और राज करो की नीति को उचित ठहराते थे। इसके जवाब में, भारतीय राष्ट्रवादियों ने भारतीयता को औपनिवेशिक उत्पीड़न के विरुद्ध एक एकीकृत शक्ति के रूप में परिभाषित किया।

इस तरह ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य दर्शाता है कि भारत के बारे में सोचना, उसे एक गतिशील जीवंत कल्पना के रूप में पहचानना है। यह क्षेत्र और उत्कृष्टता का, स्मृति और आकांक्षा का, विविधता में बुनी एकता का संश्लेषण है। भारत की पहचान सिंधु घाटी, वैदिक परंपराओं और मौर्य व गुप्त जैसे परवर्ती साम्राज्यों सहित इसकी प्राचीन सभ्यताओं में गहरी जड़ें जमाए हुए है। स्वामी विवेकानंद और श्री अरबिंद जैसे विचारकों ने भारत की आध्यात्मिक एकता पर जोर दिया और इसे धर्म और दार्शनिक चिंतन का उद्गम स्थल माना। स्वामी विवेकानंद भारत को सहिष्णुता और सार्वभौमिक आध्यात्मिकता की भूमि के रूप में देखते थे। बाबा साहब बी.आर. अंबेडकर ने सामाजिक न्याय की आवश्यकता को उभारा, तथा तर्क दिया कि सच्ची भारतीयता को जातिगत भेदभाव पर विजय प्राप्त करनी होगी। इस प्रकार स्वतंत्रता संग्राम ने भारतीय पहचान को समावेशी और लोकतांत्रिक के रूप में पुनर्परिभाषित किया। सरदार पटेल और नेहरू जैसे नेताओं ने भारत की बहुसंस्कृतिवाद को इसकी मुख्य ताकत के रूप में देखा।

भारतीयता एक गहरी सांस्कृतिक चेतना है। इसके मुख्य तत्त्व हैं— वसुधैव कुटुंबकम् की भावना, धर्म और अध्यात्म का जीवन—दृष्टि में समावेश, सहिष्णुता, बहुलता और समन्वय, लोकजीवन से जुड़ाव, करुणा, संवेदना और मानवता। अतएव भारत के प्रसंग में आधुनिकता को यूरोप के ज्ञानोदय और औद्योगिक क्रांति से जन्मी पश्चिमी आधुनिकता की प्रतिकृति के रूप में देखना अनुचित होगा। यहाँ उपनिवेशवाद, परंपरा, सुधार,

प्रतिरोध और राष्ट्र निर्माण द्वारा निर्मित एक संवाद मूलक प्रक्रिया काम करती रही है। यहाँ परम्परा से आधुनिकता की ओर कोई सीधी रेखा में बदलाव नहीं आया है। औपनिवेशिक संपर्क के फलस्वरूप पश्चिमी शिक्षा, कानूनी प्रणालियाँ, विज्ञान, प्रौद्योगिकी, छापाखाना, नए किस्म की तार्किकता, व्यक्तिवाद और प्रगति की अवधारणा यहाँ पहुँची। औपनिवेशिक अनुभव के प्रभाव को प्रत्यारोपण नहीं कहा जा सकता। इसके साथ प्रतिरोध और पुनर्व्याख्या भी हुई। यह भी गौर तलब है कि भारतीय आधुनिकता परम्परा का नकार न थी। इसमें सुधार या परिष्कार मुख्य था जैसा हम राजा राम मोहन राय, दयानंद सरस्वती, विवेकानंद और ईश्वर चंद्र विद्यासागर के कार्य में पाते हैं। इन लोगों ने समानता, न्याय और तर्कशीलता के नए मूल्यों की दृष्टि से अपनी परंपराओं की पुनर्व्याख्या की न कि परित्याग। यह चयनात्मक अनुकूलन अधिक था। हम राष्ट्रवाद और अस्मिता के प्रश्न को देखें तो पता चलता है कि भारत में आधुनिकता उपनिवेशविरोधी संघर्ष से भी जुड़ी। गांधी (गैर औद्योगिक आधुनिकता), नेहरू (वैज्ञानिक, औद्योगिक), टैगोर (सर्व भौमिक आध्यात्मिक मानववाद), और अम्बेडकर (समानता और जाति उन्मूलन) आदि ने आधुनिकता के आध्यात्मिक, नैतिक, लोकतांत्रिक और सामाजिक आर्थिक आयाम उभारे जो भौतिकवादी पश्चिम से भिन्न हैं। सच कहें तो भारत में आधुनिकता की राह एक नहीं रही। वह बहुविध, बहुस्तरीय और मिश्रित थी। यहाँ आधुनिक विज्ञान और आध्यात्मिकता, औद्योगिक प्रगति और ग्राम आधृत सामुदायिक जीवन, तथा उदार लोकतंत्र और धर्मआधृत राजनीति के साथ जोड़ा गया। वस्तुतः रचना में सामाजिक यथार्थ और संभावना दोनों ही उपस्थित होते हैं। इस तरह साहित्य की समाज तथा समय की सापेक्षता स्वाभाविक हो जाती है।

आधुनिक हिंदी साहित्य का स्वरूप भारतीय समाज के परिवर्तनशील इतिहास का दर्पण है। इतिहास में परिवर्तन के साथ-साथ हमारी धारणाओं किस प्रकार परिवर्तन होता है इसकी ओर संकेत करते हुए हिंदी के मूर्धन्य आलोचक रामस्वरूप चतुर्वेदी ने लिखा, 'आधुनिक काल में आकर मनुष्य सारे चिंतन का केंद्र बनता है, और ईश्वर की धारणा व्यक्तिगत आस्था के रूप में स्वीकृत होती है' (पृ.78-79)। इसी बात को थोड़ा और विस्तार रमेशचंद्र शाह ने अपने निबंध 'साहित्य और आधुनिक संवेदन' में दिया है। उनका मानना है, 'पिछले एक-डेढ़ सौ सालों के अंदर पश्चिम के साहित्य में आधुनिकता के जो लक्षण प्रकट हुए और उनसे हमारे संसर्ग के फलस्वरूप हमारे साहित्य में भी जो प्रवृत्तियाँ झलकीं उनका विश्लेषण किया जाए तो दो बातें प्रमुखता से उभरकर सामने आती हैं। एक तो स्वयं अपने व्यक्तित्व के साथ या कहें ईगो के साथ गहरे संबंध में गहरे परिवर्तनों का घटित होना और दूसरे काल के साथ मानव चेतना का संबंध बदलना' (अज्ञेय सम्पा. संवित्ति पृ. 37)। यह वह काल है जब साहित्य ने न केवल कलात्मकता और सौंदर्यबोध को महत्त्व दिया, बल्कि समाज, संस्कृति, राजनीति और राष्ट्र के प्रश्नों को भी अपनी अभिव्यक्ति का केंद्र बनाया। आधुनिकता की अवधारणा जहाँ पश्चिमी पुनर्जागरण, औद्योगिक क्रांति और प्रबोधन-आंदोलन से जुड़ी है, वहीं भारतीयता की अवधारणा भारतीय संस्कृति, अध्यात्म, सहिष्णुता और बहुलता पर आधारित है। हिंदी साहित्यकारों ने आधुनिकता को केवल आयातित रूप में न स्वीकार कर भारतीयता की मूल संवेदना से उसे जोड़ा। हालाँकि आधुनिकता शब्द का प्रयोग जिस उन्मुक्तता के साथ होता है उसका अर्थ समझने में उतनी ही उलझन होती है। तभी तो हिंदी के श्रेष्ठ निबंधकारों में से एक पंडित विद्यानिवास मिश्र ने 'आधुनिकता' को एक बहुत ही सताया हुआ शब्द कहा है। इसीलिए उन्होंने आधुनिकता की एक स्पष्ट समझ बनाने के लिए कहा, 'आधुनिकता काल की चेतना है पर कालबद्ध रूढ़ि नहीं है... आधुनिक होने का अर्थ होता है यह पहचानते चलना कि हम किस ज़मीन पर हैं, हम किस हवा को अपनी साँसों में भर रहे हैं, हम किस आकाश के वितान के साये में चल रहे हैं और किस दिशा में चल रहे हैं, चल भी रहें हैं या नहीं और हमीं चल रहे हैं, या फिर हमारा कोई साया चल रहा है, हमको लग भर रहा है कि हम चल रहे हैं' (रचना संचयन पृ. 362)। इस प्रकार उन्होंने आधुनिकता को एक ऐसी दृष्टि के रूप में देखा जो हमें यह पहचान करवाती है कि हम जो कर रहे हैं, जैसे कर रहें हैं, जिस दिशा में बढ़ रहें हैं वह उचित है अथवा नहीं। साहित्य के संदर्भ में आधुनिकता या नयेपन का विवेक एक जटिल प्रश्न रहा है। संस्कृत के महान कवि कालिदास को भी यह याद दिलाने की जरूरत पड़ी थी

पुराणमित्येव न साधुसर्वम् न चापिकाव्यं नवमित्यवद्यम्।

संतः परीक्षान्यतरद् भजन्ते मूढाः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥

अर्थात् कि जो कुछ पुराना है सब-का-सब न अच्छा है और न ही नया काव्य पूरा का पूरा खराब है। इस विचार की सावधानीपूर्वक जांच करने की जरूरत है। बुद्धिमान और विचारशील लोग जाँच परख के बाद ही किसी को स्वीकार करते हैं जब कि मूढ़ जन दूसरों के कहे पर भरोसा करते हैं। दूसरी ओर नवीन के प्रति आकर्षण भी बढ़ा पुराना है। महाकवि माघ की मानें तो नया ही रमणीय होता है : **क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।**

साहित्य में निरंतरता होती है और भी बदलाव आता है। हर समय का साहित्य अपने समय में समकालीन होता है और इसलिए आधुनिक होता है। वह बाद के समय के सापेक्ष प्राचीन होता जाता है। पर बहुत कुछ निरंतर भी चलता रहता है। मनुष्य की संवेदना बनी रहती है। साथ ही कुछ घटनाएँ दीर्घकालिक होती हैं और लंबे कालावधि में उनका प्रसार होता है। विज्ञान समाज जानता है कि हिंदी साहित्य का आधुनिक काल भारतेंदु हरिश्चंद्र (1850-1885) से प्रारंभ होता है। उन्हें 'आधुनिक हिंदी साहित्य का जनक' कहा जाता है। उनके समय में भारतीय समाज अंग्रेजी औपनिवेशिक शासन के दबाव, सामाजिक विसंगतियों और सांस्कृतिक संक्रमण से गुजर रहा था। भारतेंदु ने इन चुनौतियों को अपनी रचनाओं में स्वर दिया और आधुनिक चेतना का सूत्रपात किया। उन्होंने अंग्रेजी शासन की शोषणकारी नीतियों की आलोचना की और जनता में स्वदेशप्रेम जगाया। उनकी रचना "भारत दुर्दशा" आधुनिक राष्ट्रवाद का प्रारंभिक घोष है। इस युग के अन्य साहित्यकारों ने शिक्षा, नारी-उत्थान, बाल-विवाह और दहेज-प्रथा जैसे प्रश्नों पर विचार किया। यह सामाजिक सुधार आधुनिकता का एक प्रमुख लक्षण है। भारतेंदु ने हिंदी को आधुनिक अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। उन्होंने पत्र-पत्रिकाओं (हरिश्चंद्र मैगजीन, कविवचन सुधा, बाला बोधिनी) के माध्यम से आधुनिक पत्रकारिता की नींव रखी। इस युग में अंग्रेजी शिक्षा और पश्चिमी चिंतन का प्रभाव दिखाई देता है। भारतेंदु ने विज्ञान, प्रगति और तार्किकता को स्वीकार किया, परंतु उन्हें भारतीयता से जोड़कर प्रस्तुत किया। भारतेंदु युग का साहित्य व्यक्ति की स्वतंत्रता, आत्मसम्मान और नवीन सामाजिक चेतना का समर्थन करता है। इस प्रकार भारतेंदु युग आधुनिक हिंदी साहित्य का वह प्रारंभिक चरण है जिसमें राष्ट्रप्रेम, सामाजिक सुधार, विज्ञानबोध और भाषा-जागरण जैसे आधुनिकता के लक्षण स्पष्ट रूप से परिलक्षित होते हैं। भारतेन्दु की संघर्ष चेतना का विस्तार बीसवीं सदी में दिखता है। स्वाधीनता, रूढ़िवादिता का विरोध, साम्राज्यवाद का प्रतिकार, समानता और न्याय की गुहार लगाने की प्रवृत्ति इसके उदाहरण हैं।

तत्पश्चात् द्विवेदी युग (1900-1920) भावुकता से आगे बढ़कर तार्किकता, संगठन और समाजसुधार की दिशा ग्रहण की। द्विवेदी युग में आधुनिकता के लक्षण और भी सुस्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। द्विवेदी जी ने साहित्य को 'सामाजिक उपयोगिता' से जोड़ा। कविताओं, निबंधों और कहानियों में राष्ट्रप्रेम, जातिगत भेदभाव, नारी-अधिकार, स्वदेशी आंदोलन और शिक्षा जैसे विषय प्रमुख बने। यह आधुनिक समाज-चिंतन का संकेत है। इस युग में भारत की स्वतंत्रता के लिए जन-जागरण हुआ। मैथिलीशरण गुप्त की "भारत-भारती" जैसी कृति राष्ट्रीय चेतना की स्पष्ट और मुखर अभिव्यक्ति है। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने सरस्वती पत्रिका के माध्यम से हिंदी साहित्य को एक मंच प्रदान किया। उन्होंने साहित्य में अनुशासन, भाषा की शुद्धता और आलोचनात्मक दृष्टि को महत्त्व दिया। इससे आधुनिक आलोचना और पत्रकारिता को गति मिली। इस युग के साहित्यकारों ने विज्ञान, इतिहास और आधुनिक राजनीति को विषय बनाया। साहित्य केवल भावुकता तक सीमित न रहकर यथार्थ और विवेक का माध्यम बना। द्विवेदी युग में नारी शिक्षा और सामाजिक समानता की बातें खुलकर सामने आईं। यह आधुनिक समाज में समानता और न्याय की चेतना का सूचक है। इस प्रकार द्विवेदी युग ने हिंदी साहित्य को अनुशासन, सामाजिक उत्तरदायित्व और राष्ट्रीय चेतना से जोड़कर आधुनिकता की मजबूत नींव रखी।

द्विवेदी युग के बाद हिंदी साहित्य में छायावाद (1918-1936) का उदय हुआ, जिसे आधुनिक हिंदी काव्य का स्वर्णयुग माना जाता है। आधुनिकता के अनेक स्वरूप इस युग में स्पष्ट दिखाई देते हैं। छायावाद युग में आधुनिकता के प्रमुख लक्षण थे- व्यक्तिवाद, आत्मान्বেषण, स्त्री-जागरूकता, सौंदर्यबोध और शिल्पगत प्रयोगशीलता। छायावाद के प्रमुख कवि जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', सुमित्रानंदन पंत और महादेवी वर्मा ने 'मैं' की खोज की। मनुष्य के आंतरिक अनुभव, संवेदनाएँ और स्वतंत्र अस्तित्व इस युग के

केंद्र में आए। इन कवियों ने प्रकृति को महज़ सजावट के रूप में नहीं, बल्कि मानव-मन के भावों के प्रतीक के रूप में चित्रित किया। यह कलात्मक दृष्टिकोण आधुनिक सौंदर्यशास्त्र से जुड़ा हुआ है। महीयसी महादेवी वर्मा ने स्त्री के अंतःजगत की पीड़ा और संघर्ष को स्वर दिया। उनकी रचनाओं में करुणा, संवेदना और आत्मसम्मान की चेतना है। छायावादी कवियों ने हिंदी काव्य को खड़ी बोली के रूप में नया सौंदर्य दिया। लय, संगीत और प्रतीकात्मकता के प्रयोगों ने आधुनिक कविता का मार्ग प्रशस्त किया।

छायावाद के बाद हिंदी साहित्य में प्रगतिवाद (1936 के बाद) का प्रवाह आरंभ हुआ। इसने साहित्य को जीवन और समाज से प्रत्यक्ष जोड़ा और आधुनिकता के नए आयाम खोले। प्रगतिवाद युग में आधुनिकता के लक्षण यथार्थवाद, सामाजिक सरोकार, समानता की आकांक्षा और साहित्य की जनपक्षधरता के रूप में सामने आते हैं। प्रगतिशील लेखक संघ के गठन (1936, लखनऊ) के बाद यह आंदोलन व्यवस्थित रूप से सामने आया। प्रगतिवाद का मूल आधार समाज में व्याप्त शोषण, असमानता और विषमता को उजागर करना था। यह दृष्टि साहित्य को महज़ कलात्मक कल्पना से निकालकर जनजीवन की ठोस समस्याओं की ओर ले आई। इस विचारधारा से प्रभावित होकर प्रेमचंद, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, गजानन माधव मुक्तिबोध आदि कवियों-लेखकों ने किसानों, मजदूरों और दलितों की पीड़ा को स्वर दिया। यह आधुनिकता का वह पहलू है, जिसमें साहित्य सामाजिक परिवर्तन का औजार बनता है। इस धारा के साहित्य ने जाति, धर्म और पंथ की सीमाओं को तोड़कर मानवतावादी दृष्टिकोण अपनाया। यह आधुनिक भारत की लोकतांत्रिक चेतना के अनुरूप था। प्रगतिवाद के दौर में स्त्रियों के शोषण, उनके अधिकारों और दलित जीवन की दुर्दशा पर लेखन सामने आया। इन रचनाओं ने ही वह पृष्ठभूमि निर्मित की जिसपर भविष्य में स्त्री-विमर्श और दलित-विमर्श का विपुल साहित्य रचा गया। स्वतंत्रता आंदोलन के साथ-साथ प्रगतिवादी साहित्य ने जनता को जागरूक किया। प्रेमचंद का कथन- "साहित्य का उद्देश्य केवल मनोरंजन नहीं, जीवन का सच्चा प्रतिबिंब प्रस्तुत करना है।" आधुनिक दृष्टि का उद्घोष है। छायावाद और प्रगतिवाद के बाद हिंदी साहित्य में नई कविता आंदोलन (1950 के बाद) का उदय हुआ। नई कविता ने समाज से हटकर व्यक्ति के भीतरी जीवन, उसकी जटिलताओं, अस्तित्वगत प्रश्नों और अकेलेपन को केंद्र में रखा। अज्ञेय की कविता में यह आधुनिकता स्पष्ट है। ग्रामीण यथार्थ से आगे बढ़कर नई कविता ने शहरी जीवन, मशीन और तकनीकी विकास के कारण उपजी असंवेदनशीलता को स्वर दिया। यह आधुनिक जीवन के अंतर्विरोधों का दर्पण बना। आजादी के बाद जनता की आकांक्षाएँ पूरी न होने से उत्पन्न मोहभंग को नई कविता ने अभिव्यक्त किया। यह साहित्य की आधुनिक प्रवृत्ति थी, जहाँ स्वतंत्रता के बाद के संकटों का आत्म-चिंतन हुआ। नई कविता अस्तित्ववाद, निरर्थकता और जीवन के अर्थ की खोज से प्रभावित रही। अज्ञेय, धर्मवीर भारती और मुक्तिबोध आदि कवियों ने इसमें आधुनिक विश्वदृष्टि को जोड़ा। कहना न होगा नई कविता ने हिंदी काव्य को अस्तित्वगत प्रश्नों से जोड़ा और व्यक्ति को उसके समय के सामने खड़ा किया।

नई कविता आंदोलन के बाद 1960 के दशक में हिंदी साहित्य में साठोत्तरी कविता का दौर आरंभ हुआ। यह काल स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद लोकतांत्रिक मूल्यों के क्षरण, सामाजिक असमानता और राजनीतिक विडंबनाओं को लेकर गहरी बेचैनी का काल था। स्वतंत्रता के बाद जनता की आकांक्षाएँ पूरी न होने से साहित्यकारों में गहरा असंतोष था। साठोत्तरी कविता इस मोहभंग की सशक्त अभिव्यक्ति बनी। राजनीतिक-सामाजिक चेतना : इस दौर की कविताएँ केवल निजी जीवन की अभिव्यक्ति नहीं रहीं, बल्कि सत्ता, राजनीति, भ्रष्टाचार और सामाजिक अन्याय के विरुद्ध स्वर बन गईं। इसी दौर के प्रखर राजनीतिक चेतन संपन्न कवि रघुवीर सहाय पर कवि लेखक विश्वनाथ प्रसाद तिवारी की समीचीन टिप्पणी है, 'रघुवीर सहाय की राजनीतिक आशयों वाली कविताओं का व्यापक असर महसूस किया जा सकता है, जो भारतीय राजनीति की विसंगतियों, विडंबनाओं को एक नए शिल्प में मूर्त करती हैं। वस्तुतः स्वाधीनता के बाद की हिंदी कविता को एक प्रखर प्रतिपक्षधर्मी कविता के रूप में भी स्मरण किया जाएगा' (पृ.98-99)। यह आधुनिकता की वह प्रवृत्ति थी जिसमें साहित्य को सामाजिक हस्तक्षेप का उपकरण बना कर कवि कुमार विकल ने लिखा था- "हमारे हिस्से के शहर में कभी भी आग नहीं जलती/सिर्फ राजमहल की आग की आँच पहुँचती है/इसलिए हमारी रोटियाँ कच्ची रह जाती हैं।"

साठोत्तरी कविता में बोलचाल की कठोर, सपाट और कटी-छँटी भाषा का प्रयोग हुआ। अलंकारिकता से दूर यह भाषा जीवन के कटु यथार्थ को सीधे व्यक्त करती है। धूमिल लिखते हैं—“कविता क्या है?/ कोई पहनावा है?/ कुर्ता-पाजामा है?/ न, भाई, न/कविता/शब्दों की अदालत में/मुजरिम के कटघरे में खड़े बेकसूर आदमी का हलफनामा है।” आगे चलकर हिंदी साहित्य के आधुनिक काल में विमर्शपरक साहित्य ने एक नए युग का सूत्रपात किया। साहित्य न केवल परिवर्तन को प्रतिबिंबित करता है, बल्कि वह परिवर्तन को प्रेरित भी करता है। स्वतंत्रता के बाद समाज में लोकतंत्र, समानता और सामाजिक न्याय की आकांक्षा जागी। किंतु यथार्थ यह है कि जातिगत भेदभाव, लैंगिक असमानता और आदिवासी समुदायों का शोषण अब भी जारी रहा। जिनकी अभिव्यक्ति छिटपुट रूप से साहित्य में हो रही थी। किंतु उसको विविध विमर्शों के साँचे में ढले साहित्य ने केन्द्रीयता दिलाई। हमें कहना चाहिए कि दलित, स्त्री और आदिवासी विमर्शों ने साहित्य में आधुनिकता को गहराई प्रदान की और भारतीयता के बहुलतावादी स्वरूप को पुष्ट किया। इस प्रकार हिंदी साहित्य का आधुनिक काल भारतीय समाज, संस्कृति और राजनीति में आए व्यापक परिवर्तन का साक्षी रहा है। यह वह समय है जब भारत अंग्रेजी शासन के अधीन था और पश्चिम से नए विचार, मूल्य तथा जीवन दृष्टि भारत में प्रवेश कर रही थी। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के संक्रमणकाल में भारतीय बुद्धिजीवियों ने पश्चिमी आधुनिकता के मूल्यों जैसे— स्वतंत्रता, समानता, न्याय, लोकतंत्र, मानवतावाद आदि को समझा, आत्मसात किया और भारतीय परंपरा के सांस्कृतिक, आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यों के साथ उनका एक संतुलित संयोजन किया। इस प्रक्रिया में आधुनिक हिंदी साहित्य ने सेतु का कार्य किया। साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं में इन मूल्यों को इस प्रकार समाहित किया कि वे भारतीय समाज की जड़ों से जुड़े हुए भी रहें और आधुनिक विश्व की धारा में भी प्रवाहित हों। स्वतंत्रता आधुनिक पश्चिमी चिंतन की केन्द्रीय अवधारणा रही है। जॉन लॉक, रूसो और मिल जैसे चिंतकों ने व्यक्तिगत स्वतंत्रता को लोकतांत्रिक समाज का आधार माना। भारत में यह मूल्य राजनीतिक स्वतंत्रता के संघर्ष के साथ गहराई से जुड़ा। हिंदी साहित्य में स्वतंत्रता केवल राजनीतिक बंधन से मुक्ति नहीं रही, बल्कि मानसिक, सामाजिक और सांस्कृतिक मुक्ति के रूप में भी प्रकट हुई।

लोकतंत्र पश्चिम का उपहार माना जाता है, परंतु भारतीय मनीषा में ‘सर्वे भवन्तु सुखिनः’ और ‘जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी’ जैसे वाक्य लोकतांत्रिक भावनाओं की गहरी जड़ें दर्शाते हैं। आधुनिक हिंदी साहित्य ने लोकतांत्रिक चेतना को सामाजिक न्याय और जन-भागीदारी के रूप में प्रस्तुत किया। भारतेन्दु मंडल ने साहित्य में जनमत को स्थान दिया। प्रेमचंद के लेख और भाषण ‘साहित्य का उद्देश्य’ में स्पष्ट रूप से लोकतंत्र की पृष्ठभूमि झलकती है जहाँ वे साहित्य को जनजीवन का दर्पण मानते हैं। स्वतंत्रता संग्राम के दौर में छायावादी कवियों ने लोकतांत्रिक आकांक्षाओं को अपनी कविताओं में गूँथा। दिनकर की कविताओं में लोकतंत्र की चेतना, नायकत्व और सामूहिकता के स्वर मुखर होते हैं। अन्याय का प्रतिकार आधुनिक मूल्यों का एक महत्वपूर्ण पहलू है। पश्चिमी चिंतन में यह विचार सामाजिक क्रांति और मानवाधिकार आंदोलनों से जुड़ा रहा। हिंदी साहित्य ने इसे भारतीय संवेदना और क्रांतिकारी संघर्ष के साथ जोड़ा। भारतेन्दु के व्यंग्य नाटकों से लेकर प्रेमचंद, प्रसाद, अज्ञेय, राजेंद्र यादव, कमलेश्वर, मोहन राकेश, ममता कालिया, उदय प्रकाश, एस. आर. हरनोट, विजयदान देथा, उषा प्रियंवदा, संजीव, आदि की कहानियों—उपन्यासों में अन्याय के विरुद्ध प्रतिरोध दिखाई देता है। रामधारी सिंह दिनकर की कविताओं में ‘रश्मिश्ठी’ और ‘कुरुक्षेत्र’ जैसी रचनाएँ अन्याय के खिलाफ विद्रोह की चेतना जगाती हैं।

फ्रांसीसी क्रांति का नारा— स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व— आधुनिक विश्व के मूल्यों में से एक है। भारतीय परंपरा में ‘वसुधैव कुटुंबकम्’ और ‘सर्वे भवन्तु सुखिनः’ इसी भावना को प्रकट करते हैं। हिंदी साहित्य में सूरदास की भक्ति से लेकर हरिवंशराय बच्चन की ‘मधुशाला’ तक, बंधुत्व और मानवता का स्वर निरंतर गूंजा है— ‘बैर बढ़ाते मस्जिद—मंदिर, मेल कराती मधुशाला।’ छायावाद में मानव जीवन को ब्रह्मांड की विराटता से जोड़कर देखने का प्रयास किया गया। सुमित्रानंदन पंत और निराला की कविताओं में मानवता की व्यापक दृष्टि मिलती है। अज्ञेय और नई कविता के कवियों ने भी मानव संबंधों और अस्तित्ववादी संकट को रेखांकित करते हुए बंधुत्व की आवश्यकता पर बल दिया। पश्चिम से आए

‘ह्यूमनिज़्म’ और ‘कॉस्मोपॉलिटनिज़्म’ ने हिंदी साहित्य को भी प्रभावित किया। लेकिन भारतीय परंपरा में यह भाव ‘सर्वे भवन्तु सुखिनः’ और ‘एकोऽहम् बहुस्यामि’ जैसे वाक्यों में पहले से निहित था। रामधारी सिंह दिनकर ने ‘संस्कृति के चार अध्याय’ में भारतीय संस्कृति की वैश्विक भूमिका पर प्रकाश डाला। अज्ञेय की रचनाओं में विश्व-मानव की चिंता और अस्तित्ववादी प्रश्न बार-बार उठते हैं। गांधी और टैगोर की विचार-धारा का प्रभाव हिंदी लेखकों पर पड़ा, जिसके कारण साहित्य में विश्वमानवता का स्वर और भी मुखर हुआ।

प्रकृति संरक्षण आधुनिक समय का एक महत्वपूर्ण वैश्विक मूल्य है। पश्चिम में यह विचार औद्योगीकरण और पर्यावरणीय संकट के बाद प्रबल हुआ, जबकि भारतीय परंपरा में प्रकृति-पूजा और पंचतत्व की साधना पहले से रही है। सुमित्रानंदन पंत की कविताओं में प्रकृति का सौंदर्य और संरक्षण का भाव स्पष्ट मिलता है। प्रसाद की ‘कामायनी’ में जल-प्रलय और मानव जीवन के संबंध में प्रकृति की महत्ता को रूपायित किया गया। नई कविता और समकालीन कवियों जैसे केदारनाथ सिंह, राजेश जोशी, अज्ञेय, साही, अरुण कमल, विनोद कुमार शुक्ल, अष्टभुजा शुक्ल आदि ने भी पर्यावरण संकट और शहरीकरण के बीच प्रकृति संरक्षण की आवश्यकता को साहित्य में स्थान दिया। बहुलतावाद और सर्वधर्म समभाव भारतीय संस्कृति के प्राण हैं। पश्चिम में यह विचार धार्मिक युद्धों और सहिष्णुता की खोज से निकला। हिंदी साहित्य ने इसे गहराई से अपनाया। कबीर, रैदास और अन्य संत कवियों ने धर्म की संकीर्णता का विरोध करते हुए मानवता को सर्वोपरि माना। आधुनिक काल में भारतेंदु से लेकर प्रसाद तक, और फिर गांधीवादी साहित्यधारा तक सर्वधर्म समभाव की चेतना बार-बार प्रकट होती है। हिंदी साहित्य ने हमेशा ही भारतीय बहुलतावाद को जीवित रखने में योगदान दिया। आधुनिक हिंदी साहित्य का सबसे बड़ा योगदान यह है कि उसने पश्चिम से प्राप्त मूल्यों को अंधानुकरण की तरह ग्रहण नहीं किया, बल्कि भारतीय परंपरा की भूमि पर उन्हें आरोपित करके एक नया स्वरूप दिया। स्वतंत्रता को केवल राजनीतिक अर्थ में नहीं, बल्कि आत्मिक और सांस्कृतिक स्तर पर भी परिभाषित किया गया। समानता और न्याय को जाति, वर्ग और लिंग के सन्दर्भ में स्थानीय रूप दिया गया। लोकतंत्र को भारतीय समाज की बहुलतावादी परंपरा से जोड़ा गया। प्रकृति संरक्षण को केवल वैज्ञानिक दृष्टि से नहीं, बल्कि सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से भी देखा गया। इस दृष्टि ने साहित्य को केवल सौंदर्यबोध का माध्यम नहीं रहने दिया, बल्कि उसे सामाजिक परिवर्तन, राष्ट्रीय चेतना और मानवता के उत्थान का साधन बनाया। स्वतंत्रता, समानता, न्याय, लोकतंत्र, अन्याय का प्रतिकार, बंधुत्व, मानवता, विश्व मानवता, प्रकृति संरक्षण, बहुलतावाद और सर्वधर्म समभाव जैसे मूल्य आधुनिक हिंदी साहित्य की आत्मा में रच-बस गए। यही कारण है कि हिंदी साहित्य आज भी भारतीय समाज के मार्गदर्शक के रूप में आधुनिक विश्व की चुनौतियों का उत्तर देने में सक्षम है।

इस संक्षिप्त और विहंगमावलोकन में देखा कि भारतीय मूल्यों और आधुनिकता के विश्व स्वीकृत मूल्यों में कोई फाँक नहीं है। इसकी पुष्टि आधुनिक चेतना संपन्न हिंदी साहित्य में मिलती है, इसलिए भी कि आधुनिक हिंदी साहित्य केवल साहित्यिक प्रवृत्तियों का इतिहास नहीं, बल्कि भारतीयता के पुनर्निर्माण की गाथा है। इसमें भारतेंदु की राष्ट्रीयता, द्विवेदी की समाज-सुधार चेतना, छायावाद की आत्मानुभूति, प्रगतिवाद का यथार्थ, नई कविता का प्रयोग और दलित-स्त्री-आदिवासी विमर्श सब मिलकर भारतीयता और आधुनिकता का अनूठा सेतु बनाते हैं। कहा जा सकता है कि आधुनिक हिंदी साहित्य भारतीयता की आत्मा से ओत-प्रोत है। यह आधुनिकता की चुनौतियों और उसके मूल्यों को आत्मसात करते हुए भारतीय संस्कृति, सहिष्णुता, समन्वय और मानवता को सुरक्षित रखने के लिए सचेष्ट है। यह अनायास नहीं है कि साहित्यिक समालोचन के हमारे निकष भी, अपने मूल रूप में, आधुनिकता के इस भारतीय बोध से ही उपजे हैं, उपजते रहे हैं। इसी के तहत आचार्य रामचंद्र शुक्ल लोकमंगल को एक मूल्य के रूप में स्थापित करते हैं, लोकरक्षण और लोकरंजन को साहित्यिक मूल्यांकन का आधार बनाते हैं, ... (बात-बात में बात, पृ. 156), आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कबीर और नानक के साम्य और वैषम्य दोनों को, इन दोनों की कविताओं में मौजूद साम्य भाव के ही, लेकिन उसके अलग तरह से, अलग तरह के होने के आधार पर समझते-समझाते हैं। वे बताते हैं कि कबीर के यहाँ सामाजिक समानता के तीखे आग्रह के मूल में, संभव है कि उनके अपने भोगे हुए यथार्थ की भूमिका हो, जिसके अभाव में भी संभवतः “नानक की साम्य-भावना विचार-प्रसूत और

करुणामूलक थी" (हिंदी साहित्य की भूमिका, पृ. 94)। प्रेमचंद के साहित्य-कर्म से सीधी-सादी जनसेवा के प्रति सहज आकर्षण और 'क्रांतिकारी लफ्फाजी' के प्रति सहज विकर्षण की जो सीख लेने को रामविलास जी कहते हैं (प्रेमचंद और उनका युग, भूमिका, पृ. 8), उसके मूल में भी आधुनिकता का वही बोध है जो भारतीय मन-मानस की उपज है। रचना को रचनाकार के समय-समाज से जोड़कर परखने का आग्रह भी पर्याप्त आधुनिक है, विद्यानिवास जी उसी का उपयोग करते हुए कवि देव और साहित्येतिहास-निन्दित उनके रीतिकाल को देखने का एक नया, भारत-भावित नजरिया प्रस्तुत करते हैं, "देव उस अठारहवीं शताब्दी के कवि हैं, जिसमें सब कुछ बिखर रहा था, साम्राज्य टूट रहा था, सामन्त उभर रहे थे, भक्ति बाह्याचार में अधिक चली जा रही थी, मनुष्य को कहीं चैन नहीं था, संबंधों में अविश्वास आने लगा था, ऐसे जमाने में भक्तियुग के बाद मानवीय मूल्यों की नई परीक्षा का अवसर जिन्हें मिला, उन्होंने इन्हें कवि होकर परखा, अपने कर्म में पूरी निष्ठा रखी, सजगता बरती, मनुष्य को जोड़ने वाले व्यापार की सूक्ष्म अर्थवत्ता की पहचान कराई और आस्तिक भाव की पूरी संभाल रखी" (देव की दीपशिखा, भूमिका, पृ. 7)।

पं. विद्यानिवास मिश्र जी भारत वर्ष की देशज अवधारणा को स्पष्ट करते हुए कहते हैं "माता भूमि, भारती वाक् और राष्ट्र की वैदिक अवधारणाओं का ही पल्लवन भारतवर्ष है। यह राज्य नहीं, आधिपत्य नहीं, यह वर्ष है। वर्ष का अर्थ वृष्टि है, वर्ष का अर्थ ऊर्जा प्रवाह है, वर्ष का अर्थ काल प्रवाह और उसी अर्थ से लगा हुआ काल प्रवाह की वर्षात्मक इकाई है। वर्ष का अर्थ प्रजनन है, सृष्टि है, संतानवाहिता है भारत के साथ जुड़कर यह सभी अर्थ एक साथ स्फुरित हो उठते हैं (भारत की पहचान पृष्ठ ३८)। भारतीय मन से भारत की पहचान 'एक सीमित राष्ट्रीयता के दबाव में नहीं है। देश के साथ लगाव प्रदेशों के वैशिष्ट्यों से एक साथ स्मरण से अधिक साकार और सगुण होता है तथा देश बड़ा व्यापक है और भरा हुआ है, पृथ्वी और आकाश कहीं भी कोई जगह खाली नहीं है, कोई शून्य का अंतराल नहीं है, यह भाव हमारे अनुष्ठानों में व्याप्त रहा है। इस समय शिक्षित मन में या तो एक संकरापन आ गया है, देश हमारा विस्तार न रहकर हमारा संकोचन हो गया है या देश विश्वयारी के मोह में तिरोहित हो गया है इसीलिए इस शिक्षित मनके लिए परंपरा की अपेक्षा और अधिक बढ़ गई है, बिना इसके वह खंडित रहेगा। (पृष्ठ 39)

मिश्र जी की दृष्टि में भारत भौतिक और राजनैतिक संरचना से अधिक 'विचारों, भावों और संस्कारों की राशि या भाव धारा' है। वे मानते हैं कि 'भारतीय होने का अर्थ है, सब की चिंता रखना क्योंकि सब हम में हैं हमारे भीतर नदी है, पहाड़ हैं, पेड़ हैं, पशु हैं, पक्षी हैं'। सबसे जुड़ने और एक दूसरे की निर्भरता तथा पूरकता न कि सबसे विच्छिन्नता या निरंकुश स्वच्छन्दता स्वतंत्र होने की निशानी होती है। मिश्र जी आज सर्वव्यापी हो रही इस अनर्थकारी विसंगति की ओर भी ध्यान दिलाते हैं कि स्वतंत्र होने और निर्भर होने के द्वंद्व तीव्र हो गए हैं। वह इस स्थिति को रेखांकित करते हुए कहते हैं कि हमारे यहां बच्चा एक ओर स्वतंत्र होना चाहता है, आधुनिक होना चाहता है दूसरी ओर पिता पर आश्रित भी रहना चाहता है पिता की कमाई भी खाना चाहता है। इस प्रसंग में वे ऋण की अवधारणा की ओर ध्यान आकृष्ट ऋणों की वह पूर्ति एक अनुशासन है, ऋण-पूर्ति के बाद ही स्वाधीनता मिलती है। स्वाधीनता एक कर्ज है इसको चुकाना पड़ता है और अपने एक-एक बूंद रक्त से चुकाना पड़ता है। एक-एक दिन की खुराक से चुकाना पड़ता है। जब चुकाने पर स्वाधीनता मिलती है तो वह वास्तविक स्वतंत्रता होती है (भारत की पहचान पृष्ठ 20)। वे कहते हैं कि 'भारतीय होना सर्वमय होने की अकांक्षा से गर्भित है परंतु आज की शैक्षिक सांस्कृतिक प्रवृत्तियाँ इसके विरोध में खड़ी हैं। मिश्र जी के शब्दों में अंग्रेजों ने 'हमसे हमारापन छीनकर 'मैंकार', 'तुकार' हमारे ऊपर ओढ़ा दिया है और उसे डेढ़ सौ वर्षों से धारण करते-करते शिक्षित समाज उसे ही अपनी चमड़ी मानने लगा है। उसी के कारण हमारा जीवन अनेक विडंबनाओं का शिकार हो गया है। इसका प्रमुख परिणाम हुआ है कि 'जातिहीन समाज की बात करते हुए भी हम जातिसुरक्षावादी हो गए हैं क्योंकि जाति व्यक्तिगत स्वार्थ और अभ्युदय में राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से एक साधन हो गई है, विश्व यारी की बात करते-करते हम भारतीयता के सबसे मूल्यवान अंश को प्रगति में रोड़ा मानने लगे हैं' (भारत की पहचान पृष्ठ 6)

आज की प्रचलित आधुनिक दृष्टि औपचारिक है और कानूनी व्यवस्था के तहत राष्ट्रीय नागरिकता और भारतीयता को पर्याय मान लिया गया है जो जीवन की वास्तविकता को पूरी तरह नहीं प्रस्तुत करता।

यह तथ्य नहीं बल्कि भ्रम है। मिश्र जी की मानें तो 'भारतीयता भीतर बिना हुआ भाव है, लबादा नहीं'। वे कहते हैं 'राष्ट्र का अर्थ है सुशोभित होने का साधन और सुशोभित होने का अर्थ ही है सबके साथ सामंजस से रहना एक दूसरे का पूरक रहना'। वे अपनी बात स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि 'नेशन शब्द नस्ल से या प्रजाति से जुड़ा हुआ है, उसमें अलग हित, अलग अधिकार की बात निहित है। राष्ट्र भूगोलवाची शब्द भी नहीं संस्कृतिवाची जरूर है। मनुष्य के मन में सदियों सदियों साथ रहने और एक दूसरे का सुख-दुख बंटाने के कारण कुछ संस्कार पड़ते हैं, कुछ स्मृतियां तह की तह बैठती जाती हैं। कुछ अभिप्रेरक मूल्य घर करते जाते हैं, संस्कृति इन सब का निथरा हुआ प्रवाहशील रस है। भारतीय संस्कृति जिन मूल्यों से परिचित होती रही है, उनमें समस्त प्राणियों का कल्याण सत्य की खोज सब की मुक्ति की चाह प्रमुख हैं'। मिश्र जी की यह टिप्पणी बड़ी सारगर्भित और विचारणीय है कि 'हमने तथाकथित पुनर्जागरण की झोंक में भारतीय राष्ट्रीयता की बात शुरू की पर सही भारतीयता की पहचान हमने नई परिस्थितियों में आगे नहीं बढ़ाई'। (भारत की पहचान पृष्ठ 7) मिश्र जी पूछते हैं 'यह इंडियन यह भारतीय क्या है? केवल एक क्षेत्र विशेष का निवासी है, नागरिक है या कुछ और ? क्या भारत में जन्म लेने वाला या भारत से प्रवजन करने वाला भारतीय है या अपने को भारतीय मान लेने वाला, चाहे कहीं भी जन्मा हो, भारतीय हो जाता है, केवल कुछ विचारों की साझेदारी मात्र से कहीं का भी व्यक्ति भारतीय हो जाता है या भारत की राजनीतिक इकाई का घटक नागरिक हो जाने से भारत की राष्ट्रीयता के प्रति प्रतिबद्ध हो जाने मात्र से कोई भारतीय हो जाता है। इन प्रश्नों का कोई दो टूक उत्तर नहीं हो सकता क्योंकि अंततः इन सभी कोटियों के लोग भारतीय हैं पर अकेले किसी एक कोटि में भारतीयता नहीं सीमित की जा सकती (भारत की पहचान पृष्ठ-30)। मिश्र जी समावेशी दृष्टि को भारतीयता का अभिलक्षण बताते हुए यह स्थापित करते हैं कि 'काटना भारतीयता नहीं है, समेटना और समेटकर बड़ा होना भारतीयता है। भारतीयता की गंगा में अनेक स्रोतों के जल मिले हैं उसमें असंख्य-असंख्य लोगों को पोषित करने की क्षमता है। इसमें वेद त्रिपिटक जैन आगम पुराण काव्य दर्शन के अलावा यूनानी अरबी ताजिकीय ज्ञान विज्ञान फारसी काव्य तिरुक्कुरल, तोल्काप्पियं, गिरिजनों और घुमंतुओं के आख्यान गीत, असंख्य लोक कथाएं भिन्न-भिन्न भाषाओं में कविताएं अनेक शैलियों के चित्र और स्थापत्य भारत के साथ जुड़े हुए विचार (विदेशी या स्वदेशी) सब सम्मिलित हैं। किसी एक को भी काटकर अलग करना उचित नहीं है। ये सभी संवादी हैं एक दूसरे से भिन्न देखते हुए एक दूसरे से जुड़ने और छेड़खानी करने के लिए लाचार हैं'।

आज के समसामयिक राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक विविध प्रकार के दबावों के बीच सामाजिक स्तर पर कदाचित हम भीरु हो गए हैं जिसके कारण समग्र की बात नहीं कर सकते। हम लोग समग्र को अनेक चीजों का योग समझते हैं। मिश्र जी समग्र को सबसे कुछ अलग मानते हैं जो सब में है पर सबसे अलग है क्योंकि वह सब होने का भाव है अलग-अलग दिखने या पहचाने जाने का भाव नहीं।

संदर्भ-सूची :-

1. अज्ञेय, स. ही. वात्स्यायन (संपा.) (2010) वत्सल निधि प्रकाशन माला : संविति. नई दिल्ली: सस्ता साहित्य मण्डल।
2. चतुर्वेदी, रामस्वरूप (2018) हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास. इलाहाबाद: लोकभारती प्रकाशन
3. तिवारी, विश्वनाथ प्रसाद (संपा.), रेवती रमन (सह-संपा.). (2019) आधुनिक भारतीय कविता
4. संचयन 1950-2010. नई दिल्ली: साहित्य अकादमी
5. द्विवेदी, हजारी प्रसाद (1940) हिंदी साहित्य की भूमिका, नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, संस्करण 1991-97
6. मिश्र, गिरीश्वर (संपा.) (2020) भारत की पहचान विद्यानिवास मिश्र के निबंध नई दिल्ली: नेशनल बुक ट्रस्ट
7. मिश्र, गिरीश्वर (संपा.) (2016) विद्यानिवास मिश्र रचना-संचयन. नई दिल्ली: साहित्य अकादमी
8. मिश्र, विद्यानिवास (संपा) (1988) देव की दीपशिखा, नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन
9. वर्मा, निर्मल (2000) पत्थर और बहता पानी, बीकानेर: वाग्देवी प्रकाशन
10. सिंह, नामवर (2006) बात-बात में बात, (संकलन संपादन -समीक्षा ठाकुर) नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन
11. सिंह, नामवर (संपा.) (2020) हजारीप्रसाद द्विवेदी : संकलित निबंध, नई दिल्ली: राष्ट्रीय पुस्तक न्यास
12. शर्मा, रामविलास (1981) प्रेमचंद और उनका युग, नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन

भारतीय ज्ञान परंपरा की अवधारणा में संपूर्णता का स्वर और सुर

प्रो. बलवंत जानी*

भारतीय ज्ञान परंपरा का परिचय प्राप्त करने के लिए सबसे पहले भारतीय कालक्रम से परिचित होना होगा। वैदिक काल और पुराण काल को आठ हजार साल ईसा पूर्व माना जाता है। इस बात पर पश्चिम और भारत के विद्वान भी एकमत नहीं हैं। लेकिन वैदिक काल में रचे गए ऋग्वेद में से इस बात की जानकारी मिलती है कि न केवल ऋषियों ने बल्कि ऋषिकाओं ने भी द्रष्टा के रूप में अनुभूत सत्य को व्यक्त किया। हमारे देश में मातृ शक्ति की महिमा शुरू से ही रही है। इसे प्रकृति की शक्ति की पहचान भी दी गई है। यह स्वाभाविक है कि पुरुष और प्रकृति का सर्जन एकतरफा—एकपक्षीय न होकर उसमें सार्वभौमिक सामग्री और विविधता का विनियोग हुआ है।¹ यह भारतीय ज्ञान मंजूषा है, जो दस्तावेजी प्रमाणमूलक विवरणों भरी है, जिसमें मानव जीवन मूल्यों, आकाशी ग्रहसृष्टि, सभी तरह के जलचर और जमीन पर रहने वाले जीवों, पौधों से लेकर सुंदर और सजावटी रंगोली, खेल, त्योहारों तक, और न सिर्फ धर्मग्रंथों बल्कि हथियारों की जानकारी भी शामिल है।

ऋषि कुमार या कुमारी की शिक्षा के दौरान, छात्र कड़ी मेहनत और स्वाध्याय—कार्य के साथ जीव, दुनिया और माया के बारे में एक दृष्टिकोण प्राप्त करता था। संगीत की कला में गाना, वादन और नृत्य भंगिमाएँ भी शामिल थी। कला के सभी गुणों से भरपूर व्यक्तित्व बनाने के लिए चौसठ कलाएँ सिखाई जाती थीं। उनके बारे में किताबें लिखी जाती थीं।

ज्ञान पाने के लिए ज्योतिष, समुद्र विज्ञान, मल्ल विद्या और यहाँ तक कि खाना पकाने की जानकारी भी मिलती थी। भारतीय ज्ञान परंपरा में अर्जुन के ज्ञान के लिए आयुर्वेद, खगोल विज्ञान और वनस्पति विज्ञान भी शामिल हैं। कविता लिखने की कला, साहित्य रचना के मानक और उसे पेश करने की कला, उच्चारण से लेकर पढ़ते समय हाव—भाव की बारीकियों तक, यह सब भी ज्ञान परंपरा में शामिल है। कविता पर हमारे ग्रंथ इसका सबूत हैं। भुज की 'राओ लखतप ब्रजभाषा काव्य शाला' दो सौ साल पहले तक काम कर रही थी और शिक्षा दे रही थी।

विश्वामित्र, वशिष्ठ जैसे वैदिककालीन ऋषियों के गुरुकुल, आचार्य सांदिपनी के शिक्षाधाम, और बाद के पौराणिक—महाकाव्य काल के नृत्य, हथियार, दर्शन और साहित्य की पाठशालाएँ, भारतीय ज्ञान परंपरा की हमारी अवधारणा की ऊंचाई और गहराई, एक समग्र दृष्टिकोण और एक व्यापक वैचारिक संगम का परिचय देते हैं।² ज्ञान को असीमित मानकर, जीवन भर पूजा—पाठ करने के बाद भी हम पूर्ण रूप से ज्ञान नहीं पा सकते। इसका परिचय अथाह है। आज योग—आधारित साधना को दुनिया भर में स्वीकृति मिल गई है। हम सिर्फ मंत्र, तंत्र और साधना—उपासना से ही नहीं, बल्कि पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा भी जुड़ी हुई हैं, और वैदिक गणित, भूमिति, अक्षरों के उच्चारण और व्याकरण को भी उतना ही महत्व दिया गया है। पाणिनि द्वारा रचित अष्टाध्यायी को दुनियाभर में मान्यता मिली है और इसकी महिमा की तुलना आज ए. आई. की परिधि से की जा रही है।

भारतीय ज्ञान परंपरा का दससहस्राब्दी का समय एक ऐसा हिस्सा है जो हमें बताता है कि भाषा, विज्ञान, कला और दूसरी विधाओं के सिद्धांतों और इस्तेमाल पर विचार करते समय हमारा दृष्टिकोण कितना सर्वाश्लेषी, कितना सर्वव्यापक और सर्वतोमुखी था।³

*राष्ट्रीय संरक्षक, प्रमुख न्यासी, 'अखिल भारतीय साहित्य परिषद', दिल्ली, पूर्व कुलाधिपति: डॉ. हरिसिंह गोर, केन्द्रीय विश्वविद्यालय सागर (म.प्र.)

इस प्रकार के सैद्धांतिक ग्रंथ के पश्चात, मैंने हमारे एक प्राचीन ग्रंथ के आधार पर, भारतीय ज्ञान परंपरा के सार्वभौमिक, सर्वव्यापी तथा समग्रलक्षी समेकित-स्वरों और सुरों को विस्तार से प्रस्तुत करने का उपक्रम किया है।

जिस तरह सुर, स्वर, गान, समूहजन्य और समूहभोग्य कोम्बिनेटिव और कोलाबरेटिव हैं, वैसे ही हमारी ज्ञान परंपरा के उपासकों और चाहने वालों की समझ, लहजा और नजरिया इतनी व्यापक थी कि इसका इस्तेमाल और प्रस्तुतिकरण, जवान और बूढ़े और अलग-अलग पसंद वाले लोगों के एक बड़े समुदाय के लिए सही तरीके से संक्रमित होता था।

सर्वांगीण अभिगम को समझाने के लिए, मैं अब व्यापक दृष्टिकोण, सभी मुद्दों पर गहरी चर्चा, और हमारी ज्ञान परंपरा से निकलने वाली सोच की ऊंचाई को बताना चाहूँगा, जो भरत मुनि प्रणित 'नाट्यशास्त्र' नामक ग्रंथ में सामने आई है, और इसकी सामग्री और अभिव्यक्ति के स्वरूप की पद्धति का परिचय देना चाहता हूँ।

'नाट्यशास्त्र' : भारतीय नाट्य परंपरा का गौरीशंकर शिखर

भारतीय विद्वानों की साहित्यिक सोच की प्रज्ञावान परंपरा, जिसमें जीवन और साहित्य से जुड़े कई विषय शामिल हैं, को एक सर्वव्यापी और सर्वांगीण ज्ञान परंपरा के तौर पर पहचान मिली है। यह पहचान न सिर्फ आज के भारतीय विद्वानों ने दी है, बल्कि प्राचीन बृहद भारतीय सीमाबद्ध क्षेत्र के बुद्धिजीवियों के साथ-साथ खुद को सर्वाधिक प्राचीन मानने वाले यूरोपियन विद्वानों ने भी दी है। भारतीय साहित्यिक आलोचना, रुचि, ध्वनि, व्यंग्य और शब्द शक्ति को दुनिया भर में स्वीकृति मिली है। हाल ही में, भारतीय प्रज्ञापुरुष अभिनवगुप्त की सहस्राब्दी पूरी दुनिया में मनाई गई। इस कश्मीरी विद्वान का ज्ञान विमर्श शैव धर्म, तंत्र और साहित्य और त्रिविध क्षेत्र में सक्रिय था। उन्होंने अपनी ज्ञान मीमांसा पुरोगामी प्राचीन विद्वानों के उस समय उन्हें उपलब्ध साहित्यिक ग्रंथों के आधार पर की थी।

ई. स. पूर्व तीन से चार हजार साल पहले, उपनिषद वाङ्मय और पुराण भारतीय ग्रंथों के प्रसार, संवर्धन, संरक्षण और बचाव की परंपरा एवं तरीके का एक शानदार उदाहरण हैं। इस प्राचीन परंपरा का दस्तावेजी आधार भरत मुनि द्वारा लिखी गई किताब 'नाट्यशास्त्र' है। भारतीय ज्ञान परंपरा का यह नाटक विषय-संदर्भ रूप, जिसे दुनिया भी मानती है, 'नाट्यशास्त्र' किताब है। ग्रंथ आलेखन की हमारी प्राचीन प्रक्रिया का रूप भी इसमें सुरक्षित है।

वास्तव में, अत्रि ऋषि और दूसरे ऋषि नाटक से जुड़े सवालों के जवाब के लिए भरत मुनि के पास गए थे। उस समय, भरत मुनि के पास करीब सौ शिष्य नाटक विषय का ज्ञान प्राप्त कर रहे थे। इस ऋषिवृंद ने नाटक विषय से जुड़े सवाल पूछे। नाट्य वेद की उत्पत्ति कैसे और किसके लिए हुई, इसके क्या-क्या हिस्से और रूप हैं, यह कितने तरह का है, इसे कैसे शुरू किया जाता है और कैसे पेश किया जाता है? इस सवाल-जवाब के दौरान शिष्यवृंद भी मौजूद था। ऋषियों और शिष्यों ने बीच-बीच में सवाल भी पूछे और अतिरिक्त जानकारी भी दी। इस प्रश्नोत्तर और पूर्ति का ग्रंथ स्वरूप यह ३६ या ३७ अध्यायों का ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' है।

इस 'नाट्यशास्त्र' ग्रंथ के बारे में, एक हजार साल पहले, भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' पर टीका के तौर पर अभिनवगुप्त की 'अभिनव भारती' लिखी गई थी। इस टीकाग्रंथ के आधार पर, विद्वानों ने मूल 'नाट्यशास्त्र' ग्रंथ के संदर्भ में शोध प्रारंभ की थी।

ई. स. १७८६ में, सर विलियम जोन्स नाम के एक ब्रिटिश विद्वान ने 'अभिज्ञान शकुंतला' का एक अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया, जिसमें उन्होंने इसके रचयिता कालिदास और संस्कृत ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' का जिक्र किया और कहा कि 'मुझे यह ग्रंथ नहीं मिल पाया, लेकिन अगर मुझे यह मिल जाता, तो भारत में संस्कृत नाटक की काफी जानकारी एवं ज्ञान-आधारित विवरणों का परिचय मिलता'। बाद में, ब्रिटिश और अमेरिकी विद्वानों एच.एच. विल्सन और फ्रिट्ज़ एडवर्ड ने कुछ हिस्सों का संशोधन प्रकाशित किया था।

लेकिन १८८० में, फ्रेंच विद्वान पॉल रेनो ने 'नाट्यशास्त्र' का सत्रहवां अध्याय और फिर उनके शिष्य ग्रोसे ने १८८८ में अट्टाईसवां अध्याय प्रकाशित किया था। इससे पश्चिमी विद्वानों में बहुत जिज्ञासा पैदा हुई, और इसके जवाब में, १८६४ में, 'काव्यामाला ग्रंथमाला' सीरीज़ में भारत से संपूर्ण 'नाट्यशास्त्र' ग्रंथ प्रकाशित हुआ। एक और हस्तप्रत (पांडुलिपि) के आधार पर, ई. स. १८२६ में काशी से 'नाट्यशास्त्र' ग्रंथ प्रकाशित हुआ।

लेकिन इन दो हस्तप्रतों के अलावा, ३८ दूसरी हस्तप्रतों के आधार पर, ई. स. १८२६ से १८६४ के बीच वडोदरा से गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज़ द्वारा रामास्वामी शास्त्री, रामकृष्ण कवि और जे.एस. पदेशास्त्री द्वारा चार हिस्सों में प्रथम संस्करण तैयार किया था और प्रथम संस्करण के बाद, दूसरा संस्करण डॉ. नांदी और डॉ. नाणावटी ने तैयार किया था। मूल संस्करण में अभिनवगुप्त रचित 'अभिनव भारती' ग्रंथ भी शामिल था। इस ग्रंथ को भारत और भारत के बाहर बहुत लोकप्रियता मिली। उसके बाद, गोवर्धन पांचाले की नाट्य प्रकार के स्वरूप पर लिखा ग्रंथ 'दूतवाक्यम्' भी गुजरात में प्रचलित है।

'नाट्यशास्त्र' ग्रंथ मूल रूप से भरतमुनि, अत्रिमुनि, कृष्णवृंद और भरतमुनि के शिष्यों के बीच हुई बातचीत, विचार-विमर्श, पूर्ति और आनुपूर्ति का संपादन है। संहिता शैली अर्थात् विवरण और संवर्धन का संकलन स्वरूप है, इसलिए भरतमुनि को इसके संपूर्ण रचयिता-कर्ता नहीं माना जा सकता, लेकिन प्रमुख विचार तो उनका अपना ही है। महान दर्शनशास्त्री, शिवतत्त्व के और तंत्रविद्या के गहरे जानकार, अभिनवगुप्त ने 'नाट्यशास्त्र' ग्रंथ के संदर्भ पर आधारित टीकाग्रंथ 'अभिनवभारती' की रचना की जो ज्ञान के स्वरूप की- समझ की, व्याख्या की चर्चा भारतीय बौद्धिकता तथा उच्च प्रज्ञा प्रतिभाशक्ति का परियाचक है।

जैसे महाभारत के लिए 'व्यासोच्छिष्टं जगत् सर्वम्' उक्ति है, वैसे ही 'नाट्यशास्त्र' के लिए भी ऐसा कथन है कि यह सभी विद्याओं और दर्शनों का संगम है। ब्रेख्त से ढाई हजार साल पहले भरत मुनि ने 'नाट्यशास्त्र' ग्रंथ के बारे में कहा था कि मैं 'नाट्यशास्त्र' नहीं पढ़ाता बल्कि नाटक के नमूनों की मीमांसा देता हूँ। अभिनवगुप्त ने भी किस किस प्रकार के प्रयोग हैं इस बारे में 'अभिनवभारती' में लिखा है कि 'नाट्यशास्त्र' कोई सीधे तौर पर उपदेशलक्षी ग्रंथ नहीं है बल्कि 'भरतसिद्ध सदुपयापदेशपरक' (अभिनवभारती भाग-१, ४) ग्रंथ है। यानी यह एक ऐसा ग्रंथ है जो पुराने रंगकर्मियों द्वारा अपनाई गई विधि के प्रदर्शन का मार्गदर्शन और परिचय देता है।

'नाट्यशास्त्र' ग्रंथ पढ़ते हुए पता चलता है कि नाट्यसृष्टि कई संभावनाओं और संभवितताओं से भरी है। यह सिर्फ एक सागर नहीं है, बल्कि इसमें कई सागर शामिल हैं। इसकी गहराई, इसकी ऊँचाई असीमित-अथाह है। ग्रंथ का प्रारंभ नाट्योत्पत्ति, रंगमंच-प्रेक्षागृह पर चर्चा से होता है। इसके बाद का छठा अध्याय रस के बारे में है। सातवां अध्याय भावविषयक में है। आठवां और नौवां अध्याय अभिनय की चर्चा के बारे में है, जिसमें अंग-अभिनय और उपांग अभिनय तथा इक्कीसवें अध्याय में आहार्य अभिनय तथा और बारहवें अध्याय में सामान्य अभिनय के बारे में चर्चा समाविष्ट है। वाचिक अभिनय के विवरण कई अध्याय में हैं। चौदहवें और पंद्रहवें अध्याय में वाचिक अभिनय की चर्चा और कंदविन्यास तथा वृत्तलक्षण पर नोट्स हैं, तो सत्रहवें अध्याय में संवाद भाषा के संदर्भ में काकु, स्वर व्यंजन के बारे में भी जानकारी दी गई है। एक जरूरी चर्चा के तौर पर, तेरहवें अध्याय में लोकधर्मी और नाट्यधर्मिता संबंधित विवरणों पर भी चर्चा की गई है। अठारहवां, उन्नीसवां और बीसवां अध्याय नाटक के विविध प्रकारों और शैली से जुड़े दशरूपक, संधि और वृत्ति के बारे में हैं। नाटक में इस्तेमाल होने वाले संगीत तत्त्व और वाद्य चर्चा 'नाट्यशास्त्र' के तीस से चौतीसवें अध्यायों में सुषिरवाद्य, ताल, ध्रुवा गायकवादक के गुण और पुष्कर अवनद्धवाद्य जैसे शीर्षक के तहत भी मिलती है। आखिर में, भरत के शिष्य-नटों- को लगे श्राप और नाटक के भूलोक में अवतरण के बारे में भी बताया गया है। एक प्रत में ३६ अध्याय और दूसरी प्रत में ३७ अध्याय मिलते हैं।

नाट्यशास्त्र संहिता है, इसलिए यह स्वाभाविक है कि विविध रचयिताओं के विचारों की दुनिया को इसमें स्थान मिला है। इसमें अलग-अलग समय पर अलग-अलग सीख और विवरणों जगह मिली है। क्रम में बदलाव, क्रम की कमी, और पूरा लेखन बिखरा हुआ-अस्तव्यस्त लगता है। हालांकि, अभिनवगुप्त ने

‘नाट्यशास्त्र’ गरनाथ का विश्लेषण करते हुए कहा है कि नाट्यशास्त्र एक लगातार चलने वाला ग्रंथ है, क्योंकि इसमें एक अंतर्निहित एकसूत्रता, विषयगत संवादिता और समन्वित महाआख्यान का अनुभव होता है। कई लोगों के कर्तृत्व, योगदान के बावजूद, इस विषय से किसी भी तरह के भटकाव का कोई संकेत नहीं है। भले ही विषय थोड़ा शिथिल होता हो, या विद्वानों के बीच आपसी मतभेद हों, फिर भी यह एक संकलन होने आद्य आचार्य मुनि भरत का मंतव्य अनुस्यूत तो महसूस होता ही है। नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में ही श्लोक है।

‘न तज्ज्ञानं न ताच्छिल्पं, न सा विद्या न सा कला,
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन्यन्न दृश्यते। (नाट्यशास्त्र-१,११६)

यानी संसार में कोई भी कला, ज्ञान, शिल्प, विद्या, योग, कर्म या कोई भी ऐसी सामग्री नहीं है जो नाटक अंतर्गत समाहित न हो। इस तरह, महाभारत की तरह ‘नाट्योच्छिष्टं जगत् सर्वम्’ उक्ति इस ‘नाट्यशास्त्र’ कला के लिए भी लागू हो सकती है। भारत की ज्ञान परंपरा की एक बड़ी खासियत यह है कि भारत ने बहुत पहले से ही पूरी दुनिया को एक बड़ा तोहफा दिया है, अभिनय, रंगमंच और नाट्यलक्षी विषयसामग्री के तीन प्रकार की गहरी समझ और एक पूरी ज्ञान-मीमांसा वाली सिद्धांतचर्चा। इसमें निहित भारतीय मूल्यों और रसचर्चाओं से प्रकट होती शाश्वत भारतीय भावसृष्टि पश्चिमी विद्वानों को बहुत ही अर्थपूर्ण, तर्कपूर्ण एवं हृदयस्पर्शी लगी थी। इंग्लैंड के भारतीय प्राच्यविद्या के विद्वान, संस्कृत साहित्य के गहरे अभ्यासी एच.एच. विल्सन ने अपनी किताब ‘सेलेक्ट स्पेसिमेंस ऑफ द हिंदूज़ थिएटर’ में लिखा, ‘नाट्यशास्त्र नाम का पुराना भारतीय ग्रंथ लुप्त है, इसकी पांडुलिपि ढूँढकर पढ़नी चाहिए। इसमें कई पंडितों ने भरत मुनि प्रणीत हस्तरेखा विज्ञान के तरीके का जिक्र किया है।’ एच. एच. विल्सन जैसे महान विद्वान के कहने पर ही पश्चिमी और भारतीय विद्वानों ने अपनी खोज शुरू की, और इसका शानदार परिणाम यह आया कि दुनिया को भरत मुनि का लिखा ‘नाट्यशास्त्र’ संहिता ग्रंथ प्राप्त हुआ।

भरत मुनि का ‘नाट्यशास्त्र’ में किया गया विशद और व्यापक विश्लेषण तब से लेकर अब तक भारतीय साहित्यसिद्धांत परंपरा में एक सच्चा दिशादर्शक और प्रभावक रहा है। इसका दर्शन पूरी तरह से भारतीय है, जो जीवन मूल्यों और इंसानी भावनाओं पर केंद्रित है, और इस में समाविष्ट भारतीयता ने दुनिया को छुआ है। नाटक से निष्पन्न होते विभिन्न प्रकार के रसों जैसे- शृंगाररस, वीररस, हास्यरस, करुणरस, बीभत्सरस, रौद्ररस, भयानकरस, अद्भुतरस आदि का निरूपण हमारे आस्वाद शक्तियों तथा दृष्टि का परिचायक है। शांतरस की अवधारणा को बाद में अभिनवगुप्त आदि ने जोड़ा, जिसमें भाव, विभाव सहित रसों के उद्भव के पीछे के कारणों का भी विस्तार से वर्णन किया गया है। विश्व की साहित्य सिद्धांत अवधारणा के रचयिताओं ने महसूस किया कि भारतीय विद्वानों द्वारा अलग-अलग तरह के भाव का निरूपण और उनके आधार पर प्रकट होते विविध रस पर की गई चर्चा प्रेक्षक-भावक पर कितनी प्रभावक है, इसकी विचारणा भारत के भावक-केन्द्रित और मूल्यबोध केन्द्रित विभावना की सूचक है।

विश्व की ज्ञानधारा के प्रवाह में हमारा ‘नाट्यशास्त्र’ हमारा यह बहुत बड़ा योगदान अनोखा, अद्वितीय और असरदार है। हम इस बात पर गर्व कर सकते हैं कि ‘नाट्यशास्त्र’ काव्य-कथा साहित्य के क्षेत्र में रचनाकार और अभिनेता को एक दिशा देता है। नाट्य साहित्य के संदर्भ में हमारा विचार आज भी प्रासंगिक लगता है, और कई भारतीय एवं पश्चिमी विद्वानों ने इसे कालातीत और युगवर्ती पाया है।

ग्रीक और जर्मन जैसी पाश्चात्य नाट्य परंपरा की तुलना में, भारतीय ‘नाट्यशास्त्र’ ग्रंथ में जो चर्चा है, जो समय के हिसाब से उनसे पहले की है, वह ज्ञानमीमांसा का ही योगदान लगता है, जो आज विश्व को मूल्यबोध, सौंदर्यबोध और राष्ट्रबोध को सही तरीके से समझाता है। भारत में ही, प्रख्यात कश्मीरी पंडित अभिनवगुप्त ने ‘अभिनव भारती’ में रस विचार के हिसाब से भारतीय ज्ञानमीमांसा को आगे बढ़ाया, जो हमारी ज्ञान आराधना और उनके विकासशील प्रज्ञाप्रवाह का एक प्राचीन उदाहरण है।

भारतीय-ज्ञान-प्रणाली का वैज्ञानिक दृष्टिकोण

प्रो. किशोर सी. पोरिया*

सार :- भारतीय ज्ञान-प्रणाली मूलतः मानवता, नैतिकता और सतत् विकास के सिद्धांतों पर आधारित रही है। भारतीय साहित्य, समाज, संस्कृति और शिक्षा ने न केवल ज्ञान के प्रसार में, बल्कि मानवीय मूल्यों के निर्माण, संरक्षण और संवर्धन में भी अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। प्रस्तुत शोध-पत्र इन चारों आयामों के मानवीय योगदान का वैज्ञानिक दृष्टिकोण के आलोक में विश्लेषण करता है तथा उपयुक्त उदाहरणों के माध्यम से उनकी समकालीन प्रासंगिकता को स्पष्ट करता है।

भारतीय ज्ञान-प्रणाली में निहित मूल्य- जैसे करुणा, सह-अस्तित्व, नैतिकता और समग्र विकास-मानव कल्याण के लिए अत्यंत आवश्यक हैं। यह अध्ययन इस तथ्य को रेखांकित करता है कि प्राचीन भारतीय परंपराएँ केवल आध्यात्मिकता तक सीमित नहीं हैं, बल्कि वे वैज्ञानिकता और तर्कसंगतता के सुदृढ़ आधार पर भी प्रतिष्ठित हैं। उदाहरणों के माध्यम से यह स्पष्ट किया गया है कि भारतीय ज्ञान-प्रणाली आधुनिक वैज्ञानिक चिंतन के साथ सामंजस्य स्थापित करने में सक्षम है और वर्तमान वैश्विक परिप्रेक्ष्य में भी अत्यंत प्रासंगिक है।

कुंजी शब्द :- भारतीय ज्ञान-प्रणाली, मानवीय मूल्य, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, शिक्षा, संस्कृति, साहित्य, सतत् विकास।

1. प्रस्तावना :- भारतीय ज्ञान-परंपरा का मूलाधार 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' के सार्वभौमिक आदर्श में निहित है, जो न केवल व्यक्तिगत कल्याण, बल्कि समष्टिगत, सामाजिक और वैश्विक कल्याण की व्यापक अवधारणा को अभिव्यक्त करता है। वेद, उपनिषद तथा भगवद्गीता जैसे ग्रंथों में प्रतिपादित यह दृष्टि मानव जीवन को समग्रता में देखने की प्रेरणा देती है, जहाँ भौतिक उन्नति के साथ-साथ नैतिक, आध्यात्मिक और बौद्धिक विकास को भी समान महत्त्व प्रदान किया गया है। वर्तमान वैश्वीकरण और तकनीकी प्रगति के युग में, जहाँ वैज्ञानिक दृष्टिकोण (Scientific Temperament), तर्कशीलता और प्रमाण-आधारित ज्ञान की महत्ता निरंतर बढ़ रही है, वहाँ भारतीय साहित्य, समाज, संस्कृति और शिक्षा के मानवीय योगदान का पुनर्पाठ और पुनर्मूल्यांकन अत्यंत आवश्यक हो जाता है। भारतीय ज्ञान-प्रणाली का उद्देश्य केवल सूचनात्मक ज्ञान प्रदान करना नहीं, बल्कि जीवन-दृष्टि का निर्माण करना हैकृऐसी जीवन-दृष्टि जो सह-अस्तित्व, नैतिकता, करुणा और सतत् विकास के सिद्धांतों पर आधारित हो।

इस संदर्भ में यह अध्ययन यह स्थापित करने का प्रयास करता है कि भारतीय ज्ञान-परंपरा केवल आध्यात्मिक या परंपरागत आस्थाओं तक सीमित नहीं है, बल्कि उसमें निहित विचार वैज्ञानिकता, तर्कसंगतता और अनुभवजन्य सत्यापन के मानकों के अनुरूप भी हैं।

2. भारतीय साहित्य का मानवीय प्रदेय :- भारतीय साहित्य मानव जीवन के विविध आयामोंकृभावनात्मक, नैतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक- का सशक्त दर्पण रहा है। यह केवल काव्यात्मक अभिव्यक्ति या मनोरंजन का माध्यम नहीं, बल्कि जीवन के गूढ़ सत्य, मानवीय संघर्षों, नैतिक द्वंद्वों और सामाजिक यथार्थ का विश्लेषण प्रस्तुत करने वाला एक सशक्त माध्यम है।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विश्लेषण : वैज्ञानिक दृष्टि से साहित्य को एक "मनो-सामाजिक मॉडल" (Psycho-Social Model) के रूप में देखा जा सकता है, जिसमें मानव व्यवहार, मानसिक प्रक्रियाएँ और सामाजिक अंतःक्रियाएँ अभिव्यक्त होती हैं। साहित्य में प्रस्तुत कथाएँ, पात्र और परिस्थितियाँ मानव मनोविज्ञान (Psychology) तथा सामाजिक विज्ञान (Social Sciences) के सिद्धांतों के अनुरूप कार्य करती हैं। यह न केवल मानव व्यवहार को प्रतिबिंबित करता है, बल्कि उसे समझने, विश्लेषित करने और दिशा देने का भी कार्य करता है।

उदाहरण और विश्लेषण –

- रामायण में आदर्श जीवन-मूल्यों, कर्तव्यबोध, त्याग, मर्यादा और नैतिक निर्णयों का गहन विश्लेषण मिलता है। राम का चरित्र एक "आदर्श नैतिक व्यक्तित्व" (Ideal Ethical Personality) के रूप में प्रस्तुत होता है, जो निर्णय-निर्माण की प्रक्रिया में धर्म और नैतिकता को सर्वोपरि रखता है।
- महाभारत में जटिल नैतिक दुविधाओं (Ethical Dilemmas) का अत्यंत यथार्थ और बहुआयामी चित्रण मिलता है। अर्जुन का संशय, कृष्ण का उपदेश तथा विभिन्न पात्रों के अंतर्द्वंद्व मानव मन की जटिलताओं को उद्घाटित करते हैं। यह ग्रंथ "Ethical Reasoning" और "Decision-Making Theory" के संदर्भ में अत्यंत महत्वपूर्ण माना जा सकता है।

इस प्रकार, भारतीय साहित्य "Behavioral Science", "Cognitive Psychology" और "Ethical Philosophy" के आधुनिक सिद्धांतों से सामंजस्य स्थापित करता है। यह मानव के आचरण, भावनाओं और सामाजिक संबंधों का वैज्ञानिक एवं तर्कसंगत विश्लेषण प्रस्तुत करता है, जो आज भी प्रासंगिक है।

3. भारतीय समाज का मानवीय प्रदेय :- भारतीय समाज का मूलाधार 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की उदात्त भावना में निहित है, जो संपूर्ण विश्व को एक परिवार के रूप में देखने की दृष्टि प्रदान करती है। यह विचार केवल एक आदर्श वाक्य नहीं, बल्कि भारतीय सामाजिक संरचना और व्यवहार का आधारभूत सिद्धांत रहा है, जो सहिष्णुता, समरसता, सहयोग और पारस्परिक सम्मान को प्रोत्साहित करता है।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विश्लेषण

वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में भारतीय समाज को "सिस्टम थिंकिंग" (Systems Thinking) और "सिस्टम्स थ्योरी" (Systems Theory) के आधार पर समझा जा सकता है। समाज के विभिन्न घटककपरिवार, समुदाय, संस्थाएँ और परंपराएँ— एक परस्पर संबद्ध तंत्र (Interconnected System) के रूप में कार्य करते हैं, जहाँ प्रत्येक इकाई का योगदान संपूर्ण व्यवस्था को प्रभावित करता है।

मुख्य आयाम

- **संयुक्त परिवार प्रणाली (Joint Family System):-** यह प्रणाली सामाजिक सुरक्षा (Social Security) और भावनात्मक सहयोग का एक प्रभावी मॉडल प्रस्तुत करती है। इसमें संसाधनों का सामूहिक उपयोग, जिम्मेदारियों का विभाजन और पीढ़ियों के बीच ज्ञान का हस्तांतरण होता है, जो "Collective Living" और "Resource Optimization" के सिद्धांतों से मेल खाता है।
- **ग्राम पंचायत व्यवस्था :** भारतीय परंपरा में ग्राम पंचायतें विकेन्द्रीकृत शासन (Decentralized Governance) का उत्कृष्ट उदाहरण रही हैं। यह व्यवस्था स्थानीय स्तर पर निर्णय-निर्माण, विवाद-निवारण और संसाधन-प्रबंधन को सशक्त बनाती है, जो आधुनिक "Participatory Governance" और "Local Self-Governance" के सिद्धांतों के अनुरूप है।
- **सह-अस्तित्व और पर्यावरणीय संतुलन :** भारतीय समाज में प्रकृति के प्रति सम्मान और संतुलित संबंध की परंपरा रही है। पेड़-पौधों, नदियों और पशु-पक्षियों के प्रति आदर का भाव "Ecological Balance" और "Sustainability" की आधुनिक अवधारणाओं के समान है। यह दृष्टिकोण पर्यावरण संरक्षण और सतत् विकास के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है।

इस प्रकार, भारतीय सामाजिक संरचना "Systems Theory", "Social Sustainability" और "Ecological Ethics" के सिद्धांतों के साथ गहन सामंजस्य स्थापित करती है। यह एक ऐसे समाज की परिकल्पना प्रस्तुत करती है, जो न केवल संगठित और संतुलित है, बल्कि मानवीय मूल्यों से भी समृद्ध है।

4. भारतीय संस्कृति का मानवीय प्रदेय :- भारतीय संस्कृति मानव जीवन के उच्चतम मूल्यों— सत्य, अहिंसा, सहिष्णुता, करुणा और सह-अस्तित्व— पर आधारित एक समृद्ध जीवन-दृष्टि प्रस्तुत करती है। यह संस्कृति केवल परंपराओं और रीति-रिवाजों का समूह नहीं, बल्कि एक ऐसी समन्वित जीवन-प्रणाली है, जिसमें व्यक्ति, समाज और प्रकृति के बीच संतुलन स्थापित करने का प्रयास किया गया है। भारतीय संस्कृति में 'समग्र जीवन-दृष्टि' (Holistic Worldview) निहित है, जो भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक आयामों के संतुलित विकास पर बल देती है।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विश्लेषण : वैज्ञानिक दृष्टि से भारतीय सांस्कृतिक परंपराएँ केवल आस्था पर आधारित नहीं हैं, बल्कि उनमें व्यवहारिकता, अनुभवजन्य सत्यापन और तर्कसंगतता के तत्व भी विद्यमान हैं।

योग और ध्यान : योग तथा ध्यान को आज न्यूरोसाइंस (Neuroscience) के संदर्भ में मानसिक स्वास्थ्य सुधारक के रूप में मान्यता प्राप्त है। ये अभ्यास तनाव, चिंता और अवसाद को कम करने में सहायक सिद्ध हुए हैं।

आयुर्वेद : आयुर्वेद एक समग्र (Holistic) स्वास्थ्य प्रणाली है, जो शरीर, मन और आत्मा के संतुलन पर आधारित है। यह "Preventive Healthcare" और "Lifestyle Management" के आधुनिक सिद्धांतों से सामंजस्य स्थापित करता है। उदाहरण और प्रासंगिकता—

- योग को तनाव-नियंत्रण और मानसिक संतुलन के लिए वैज्ञानिक रूप से प्रभावी माना गया है।
- प्रकृति-पूजन की परंपरा— जैसे वृक्ष, नदियों और पर्वतों का सम्मान— जैव विविधता संरक्षण (Biodiversity Conservation) का एक सांस्कृतिक माध्यम है।

इस प्रकार, भारतीय संस्कृति "Sustainable Development" का एक प्राचीन और व्यवहारिक मॉडल प्रस्तुत करती है, जो आज के पर्यावरणीय संकट के संदर्भ में अत्यंत प्रासंगिक है।

5. भारतीय शिक्षा का मानवीय प्रदेय :- भारतीय शिक्षा प्रणाली का मूल उद्देश्य केवल ज्ञानार्जन नहीं, बल्कि 'ज्ञान के साथ चरित्र निर्माण' रहा है। प्राचीन काल से ही शिक्षा को व्यक्ति के समग्र व्यक्तित्व विकास— बौद्धिक, नैतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक— का माध्यम माना गया है।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विश्लेषण

- **गुरुकुल प्रणाली :** पारंपरिक गुरुकुल प्रणाली को आधुनिक शैक्षिक दृष्टि से 'Experiential Learning Model' के रूप में समझा जा सकता है, जहाँ विद्यार्थी प्रत्यक्ष अनुभव, अभ्यास और जीवन-आधारित शिक्षण के माध्यम से ज्ञान अर्जित करते थे।
- **नई शिक्षा नीति 2020 (NEP 2020) :** National Education Policy 2020 बहुविषयक (Multidisciplinary) और कौशल-आधारित (Skill-Based) शिक्षा पर बल देती है, जो आधुनिक वैश्विक आवश्यकताओं के अनुरूप है। उदाहरण और विश्लेषण—
 - तक्षशिला विश्वविद्यालय और नालंदा विश्वविद्यालय प्राचीन काल के विश्वविख्यात शिक्षा केंद्र थे, जहाँ विभिन्न विषयों— दर्शन, चिकित्सा, गणित, राजनीतिकृका अध्ययन किया जाता था।
 - आधुनिक शिक्षा में "Value-Based Learning" के माध्यम से नैतिकता, सामाजिक उत्तरदायित्व और मानवीय मूल्यों को पुनः स्थापित करने का प्रयास किया जा रहा है।

इस प्रकार, भारतीय शिक्षा प्रणाली का उद्देश्य केवल रोजगार प्राप्ति नहीं, बल्कि एक ऐसे संतुलित और उत्तरदायी नागरिक का निर्माण करना है, जो समाज और राष्ट्र के विकास में सक्रिय योगदान दे सके।

6. भारतीय ज्ञान-प्रणाली और वैज्ञानिक दृष्टिकोण (Scientific Temperament and IKS) :- भारतीय ज्ञान-प्रणाली को प्रायः केवल आध्यात्मिक या पारंपरिक दृष्टि से देखा जाता है, किन्तु वस्तुतः यह तर्क, अनुभव और अवलोकन पर आधारित एक सुसंगठित ज्ञान-परंपरा है। यह अंधविश्वास पर आधारित न होकर वैज्ञानिक दृष्टिकोण (Scientific Temperament) के मूल तत्वों को समाहित करती है।

मुख्य विशेषताएँ

- **प्रेक्षण (Observation):** प्रकृति और मानव व्यवहार का सूक्ष्म निरीक्षण
- **प्रयोग (Experimentation):** अनुभव के आधार पर ज्ञान का परीक्षण और परिष्कार
- **तर्क (Logic):** निष्कर्षों की तार्किक व्याख्या और विश्लेषण

उदाहरण और विश्लेषण—

- आयुर्वेद को अनुभवजन्य (Empirical) और साक्ष्य-आधारित (Evidence-Based) चिकित्सा पद्धति के रूप में देखा जा सकता है, जिसमें दीर्घकालीन अवलोकन और प्रयोग का आधार है।
- भारतीय खगोल विज्ञान (Astronomy) में गणितीय सिद्धांतों का प्रयोग अत्यंत उन्नत रहा है, जो ग्रह-नक्षत्रों की गति और समय-गणना को सटीक रूप से निर्धारित करता है।

- ज्योतिष के कुछ आयाम— विशेषतः गणितीय खगोल (Astronomical Calculations)— वैज्ञानिक गणनाओं पर आधारित हैं, यद्यपि इनके फलित पक्ष पर आलोचनात्मक दृष्टि आवश्यक है।

इस प्रकार, भारतीय ज्ञान-प्रणाली Empirical Knowledge, Logical Reasoning और Systematic Observation के सिद्धांतों के साथ गहरा सामंजस्य स्थापित करती है। यह न केवल अतीत की विरासत है, बल्कि आधुनिक वैज्ञानिक चिंतन के साथ संवाद स्थापित करने वाली एक जीवंत और प्रासंगिक ज्ञान-परंपरा भी है।

निष्कर्ष :- भारतीय ज्ञान-प्रणाली केवल परंपरागत या आध्यात्मिक चिंतन तक सीमित नहीं है, बल्कि यह तर्क, अनुभव, अवलोकन और व्यवहारिकता पर आधारित एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण को भी समाहित करती है। भारतीय साहित्य मानव जीवन के नैतिक एवं मनोवैज्ञानिक आयामों को उद्घाटित करता है; समाज सह-अस्तित्व, समरसता और सामाजिक उत्तरदायित्व का आधार निर्मित करता है; संस्कृति सतत् विकास, पर्यावरणीय संतुलन और जीवन-मूल्यों को सुदृढ़ करती है; तथा शिक्षा प्रणाली समग्र व्यक्तित्व निर्माण का माध्यम बनती है। इन सभी आयामों का समन्वित स्वरूप मानव-केंद्रित विकास (Human-Centric Development) की अवधारणा को सशक्त बनाता है।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण के परिप्रेक्ष्य में यह भी स्पष्ट होता है कि भारतीय ज्ञान-प्रणाली के मूल तत्त्व-प्रेक्षण, प्रयोग और तर्क— आधुनिक विज्ञान के आधारभूत सिद्धांतों के अनुरूप हैं। योग, आयुर्वेद, खगोल-विज्ञान तथा सामाजिक संरचनाओं के उदाहरण यह प्रमाणित करते हैं कि भारतीय परंपराएँ अनुभवजन्य ज्ञान और तार्किक विश्लेषण पर आधारित रही हैं। वर्तमान वैश्विक संदर्भ में, जहाँ तकनीकी उन्नति के साथ-साथ नैतिक संकट, पर्यावरणीय चुनौतियाँ और सामाजिक असंतुलन भी बढ़ रहे हैं, वहाँ भारतीय ज्ञान-प्रणाली के मानवीय मूल्य अत्यंत प्रासंगिक सिद्ध होते हैं। अतः आवश्यकता इस बात की है कि इन मूल्यों और सिद्धांतों को आधुनिक विज्ञान, तकनीक और शिक्षा के साथ समन्वित किया जाए, ताकि एक संतुलित, समावेशी और मानव-केंद्रित समाज का निर्माण संभव हो सके।

अंततः, यह कहा जा सकता है कि भारतीय ज्ञान-प्रणाली अतीत की विरासत मात्र नहीं, बल्कि वर्तमान और भविष्य के लिए एक सशक्त मार्गदर्शक है, जो वैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ सामंजस्य स्थापित करते हुए मानव कल्याण की दिशा में महत्वपूर्ण योगदान दे सकती है।

संदर्भ-सूची :-

1. Sharma, R. (2018), Indian Literature and Human Values, New Delhi- Academic Press.
2. Kumar, S. (2020), Indian Society- Structure and Functions, Mumbai- Oxford Publishers.
3. Ministry of Education (2020), National Education Policy 2020. Government of India.
4. Tripathi, P. (2019), Indian Knowledge System and Scientific Approach, Delhi Research India Publication.

भारतीय ज्ञान में संस्कृत शिक्षा के वर्णों का अन्वय और समन्वय

प्रो. देवसिंह बी. राठवा*

साधारणतः जब हम संस्कृत भाषा में (कार्यान्वयन और समन्वय) अन्वय एवं समन्वय—सुसंगति के बारे में सोचते हैं, तो संस्कृत भाषा में किसी भी श्लोक या वाक्य को समझने के लिए, अपनी भाषा में अर्थ देने के लिए हमें सबसे पहले श्लोक या वाक्य में आए शब्दों का अर्थ समझना होगा, जिसे शब्दार्थ कहते हैं। शब्दार्थ यानि शब्दों का अर्थ समझने के बाद हमें उन शब्दों और वाक्यों को अपनी भाषा में अर्थ देने के लिए कर्ता, कर्म, क्रिया, कर्ता का विशेषण, कर्म का विशेषण, क्रिया का विशेषण आदि को व्यवस्थित करना पड़ता है। तब जाकर वाक्य हमारी भाषा में सार्थक एवं सुसंगतिपूर्ण बनता है, जिसे हम अन्वय या सुसंगति कहते हैं। फिर उस वाक्य, श्लोक या परेग्राफ का सम्बन्ध पूरे श्लोक या परेग्राफ में किस प्रकार प्रकट होता है। उसे दर्शाने के लिए हमें वाक्यों में समन्वय करना पड़ता है, जिसे अन्वय एवं सुसंगति कहते हैं।

इसी तरह, जब हम संस्कृत की पढ़ाई में वर्णों को लागू करने और जोड़ने जा रहे हैं, तो किसी भी भाषा में वर्ण कैसे और क्यों बने और उनका मकसद क्या था? वर्ण और उन वर्णों को संस्कृत साहित्य में कैसे लागू और शामिल किया गया, इस पर इस शोधलेख में विस्तार से चर्चा की जाएगी।

भगवान पाणिनि ने अष्टाध्यायी नाम का ग्रंथ हमें बनाकर दिया। वह एक ऐसा अद्भुत, विलक्षण, विज्ञान है शब्द शास्त्र का, शब्दों की निष्पत्ति करने का, शब्दों की व्युत्पत्ति करने का एक ऐसा विज्ञान है। जिससे संस्कृत के सारे शब्द व्युत्पन्न हो जाते हैं। सारे लौकिक और सारे वैदिक कुछ नहीं बचता। वस्तुतः यह अष्टाध्यायी केवल संस्कृत भाषा के व्याकरण ग्रंथ नहीं है। यह भाषा को व्याकृत करने की एक विधि है। एक प्रविधि है। जिसके द्वारा दुनिया की किसी भी भाषा का व्याकरण हम बना सकते हैं। सारे लौकिक और वैदिक शब्दों का जिन्हें एक कालावच्छेदेन प्रत्यक्ष है। ऐसे भगवान पाणिनि के अष्टाध्यायी, विश्व का सर्वोच्च विलक्षण ग्रंथ है। विश्व को सबसे बड़ा आश्चर्य है और उसको पढ़े बिना यदि हम भारत में जन्म लेकर चले जाते हैं। तो जीवन कृतार्थ होते नहीं हैं, तो हम संस्कृत जानने के लिए व्याकरण को पढ़ें।

भाषा केवल बोलने चालने की, मौज मस्ती करने की मखौल की वस्तु नहीं है। भाषा इस सृष्टि की जननी है। वाग् वै ब्रह्म। जहाँ से जहाँ तक संसार दिखाई पड़ता है, वहाँ से वहाँ तक वाक् का साम्राज्य है। उसे वाक् से सृष्टि उत्पन्न हुई है और ऐसा कोई ज्ञान धरती पर नहीं है। जो बिना वाणी के हो सके।

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।

अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥¹

कोई ज्ञान ऐसा हो ही नहीं सकता। दुनिया जो बिना शब्द के आपको ज्ञान व्यक्त किससे करेंगे ? व्यक्त तो शब्द से करेंगे और यदि शब्द नहीं होगा तो पूरा संसार अंधेरा हो जाएगा। अंधकारित हो जाएगा।

“इदमन्धं तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।

यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते ॥²

आप कल्पना कीजिए कि एक क्षण के लिए शब्द नहीं है और सारा संसार भरा हुआ है। माता—पिता है, भाई बंधु है, दोस्त मित्र है बेटे— बेटी है, अच्छा है, बुरा है, सारी भोग विलास की सामग्री है। सब कुछ संसार में है, पर शब्द यदि नहीं है। तो आपके लिए सब कुछ व्यर्थ है। कुछ नहीं करते। तो शब्द इस जगत् की प्रकाशक ज्योति है। तीन ज्योति है संसार में। तो एक ज्योति, जिसको हम ज्योति कहते हैं, सूर्य है, चंद्रमा है, अग्नि है। इनका जो प्रकाश है— जातवेदाः। यह प्रथम ज्योति है और दूसरी ज्योति है आन्तर ज्योति, जो हमारा ज्ञान है भीतर, हम भीतर सब कुछ जानते हैं, बारंबार प्रकट करते हैं। तो जो हमारी आंतर

* संस्कृत एवं भारतीय विद्या अनुस्नातक भवन, हेमचन्द्राचार्य उत्तर गुजरात युनिवर्सिटी, पाटण।

ज्योति है, जो ज्ञान स्वरूप प्रकाश है। यह दूसरी ज्योति है, और तीसरी ज्योति है प्रकाश और अप्रकाश दोनों को प्रकाशित (प्रकाशयिता) करने वाली यह तीसरी ज्योति है। तो तीसरी ज्योति प्रकाश स्वरूप ज्योति है। इसी से पूरा जगत आंतर जगत और बाह्य जगत प्रकाशित होता है और उसका चितन भारत की धरती पर उत्पन्न हुआ और कब उत्पन्न हुआ जो विश्व के प्राचीनतम ग्रंथ है वेद, वहां ऋग्वेद में वाक् सूक्त आता है। उसको दूसरा नाम देवी सूक्त या अम्भृणी सूक्त भी कहते हैं। यह ऋग्वेद के 10वें मंडल में 125वें सूक्त के रूप में आता है। इसलिए हमें इस वाक् को आत्मतत्त्व समझकर और चैतन्य का पर्याय समझकर इसकी उपासना करना चाहिए। तो पिछली परंपरा जो वेद से शुरू होती है। उसके बाद निर्वचन ग्रंथ है, निरुक्त है याशकाचार्य का, प्रातिशाख्य है, किंतु सारे शब्दों की व्युत्पत्ति का विज्ञान, सारे का तात्पर्य सारे लौकिक और सारे वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति का विज्ञान तो केवल पाणिनि के अष्टाध्यायी में है। उनके बाद के जो व्याकरण है कातंत्रादि, वह केवल (उपनिषद्) लौकिक शब्दों की सिद्धि करते हैं और जो पहले ग्रंथ है, जो प्रातिशाख्यादि वे तो व्याकरण के ग्रंथ ही नहीं है। किंतु फिर भी कुछ शब्दों का विज्ञान कराते हैं। सारे शब्दों का नहीं कराते। इसलिए यत् किंचितकर है। सारे लौकिक शब्दों और सारे वैदिक शब्दों की सिद्धि कराने वाली तो केवल भगवान पाणिनि के अष्टाध्यायी है।

तो देखिए पूरे विश्व में, जो व्यवहार होता है। वह भाषा से होता है। तो भाषा में हम क्या बोलते हैं? हम वाक्य बोलते हैं। वे एक शब्द का हो, दो शब्द का हो, 10 शब्द का हो, 20 शब्दों का हो। व्यवहार तो वाक्य से ही होता है। बालकाः विद्यालयं गच्छन्ति। बालकाः प्रतिदिनं विद्यालयं गच्छन्ति। कोई वाक्य हम बोले, उस वाक्य के भीतर बहोत सारे पद होते हैं। व्यवहार तो वाक्य से होता है। एक शब्द का वाक्य हो सकता है। हम कहते हैं लो, दो, लीजिए, दीजिए, ग्राम, पठ, लिख, चल, वद, गच्छ, तो वाक्य एक शब्द से भी हो सकता है। वाक्य दो शब्द के भी हो सकते हैं। वाक्य अनेक शब्दों के भी हो सकते हैं और काव्य में कादंबरी काव्य में तो 20-20 पेज का एक एक वाक्य बनाता है। यह तो संस्कृत भाषा का सामर्थ्य है किसी भाषा का सामर्थ्य नहीं है। इस तरह दूसरी भाषा समर्थ है ही नहीं। इतनी अद्भुत शब्द राशि, इतनी विराट शब्द राशि, इतना विराट अनुपम साहित्य धरती में कहीं देखने को नहीं मिलता। तो पहले हमको जिनको जानते हैं वहां से आरंभ करना चाहिए। किसी भी वस्तु को पढ़ने के लिए हमें ज्ञात से अज्ञात की ओर जाना चाहिए। अभी हम शब्दों का व्युत्पत्ति विज्ञान नहीं जानना है और वहां तक हमें जाना है, तो हम कहां से शुरू करें, जिसको हम जानते हैं। तो हम किसको जानते हैं ? छोटा बच्चा भी जो है दो साल का बात करता है दिन भर आपसे, वह भी जानता है, वहां से आरंभ करें। वह है वाक्य। यह वाक्य ही भाषा की वह पूर्ण इकाई है, जिसके द्वारा सारा व्यवहार पूरे विश्व में किया जाता है। सारा वाक् व्यवहार वाक्य से होता है। वाक्य के हम खंड करते हैं, तो जो खंड हमको मिलते हैं उनका नाम होता है पद। बालकाः एक पद है, विद्यालयं दूसरा पद है, गच्छति तीसरा पद है। अब यह तीन पद इसके अंदर है। इसमें गच्छति जो है वह पद क्रिया पद है। बालकाः विद्यालयं में जो है वो क्रियापद नहीं है। तो वाक्य में एक पद होता है जो क्रिया को बताता है और बाकी पद क्रिया को नहीं बताते। क्योंकि एक क्रियापद का एक वाक्य होता है। **एकतिङ् वाक्यम्**।³ वाक्य में एक क्रियापद होना अति आवश्यक होता है। बाकी जो होते हैं वह क्रियापद नहीं है। तो इसलिए हम इस बात को जाने की पूरी दुनिया में कोई भी भाषाएँ, केवल संस्कृत नहीं, केवल हिंदी नहीं, विश्व की कोई भी भाषा, उसमें दो ही प्रकार के शब्द होते हैं। एक शब्द वे होते हैं जो क्रिया को बतलाते हैं। जैसे उठना, बैठना, चलना, फिरना, खाना, पीना, रोना, धोना, गाना, बजाना, हसना। जो किसी क्रिया को बताते हैं। इन क्रिया को बताने वाले शब्द है। इनका नाम संस्कृत में धातु होता है और जो शब्द क्रिया को नहीं बताते हैं, दूसरे अर्थों को बताते हैं, अर्थवान होते हैं क्रिया को नहीं बताते हैं। जैसे झाड़, पेड़, पहाड़, नदी, कुत्ता, बिल्ली, हाथी, घोड़ा, फूल, पत्ते, घर, मकान, खिड़की, दरवाजे। जितना भी ब्रह्मांड हमें दिखाई पड़ रहा है अपनी आंख के सामने, जो दिखाई पड़ रहा है या दिखाई नहीं पड़ रहा हमारे विचार के अंदर बैठा है। उन सब को अभिव्यक्त करने वाले जो शब्द है। उनको बताने वाले जो शब्द है। उनको संस्कृत में प्रातिपदिक कहते हैं। तो पूरी दुनिया में शब्दों के दो हिस्से हो गए। धातु और प्रातिपदिक। तो धातुओं से प्रत्यय लगाकर हमें शब्द बनाना है और प्रातिपदिकों से प्रत्यय लगाकर हमें शब्द बनाना है। तो हम धातु को जाने और प्रातिपदिक को जाने। तो हमने वाक्य को जाना, वाक्य के भीतर पदों को जाना और पदों के

भीतर हमने धातु को जाना, प्रत्यय को जाना। तो धातु और प्रातिपदिक से प्रत्यय लगते हैं। तो जो लगते हैं बाद में जो परभाग होता है पद का, पद का जो पर भाग होता है वह प्रत्यय होता है और जो पूर्वभाग होता है वह धातु अथवा प्रातिपदिक होता है। यह जो धातु हो चाहे प्रतिपादक हो, चाहे वाक्य हो, इनके भीतर वर्ण होते हैं। वर्ण यानी अक्षर, अक्षर होते हैं। तो यह जो वर्णमातृका है। इसको सबसे पहले जानना चाहिए। वर्णमातृका सारी भाषाओं में है। अंग्रेजी की वर्णमातृका है, B, C, D, E, F, G। उर्दू की वर्णमातृका है वे, बे, ये, से, हे, खे (से, टे, ते, पे, बे)। तो हर भाषा की अपनी-अपनी वर्णमातृका होती है। किंतु जो वर्णमातृका संस्कृत भाषा की है। इतनी वैज्ञानिक, इतनी समुन्नत वर्णमातृका विश्व की किसी भाषा के पास नहीं है। विश्व में किसी आदमी को इस बात को उत्तर नहीं मालूम की A के बाद B क्यों कहा? क्या जरूरत थी की A के बाद B कहने की। मतलब कोई विज्ञान नहीं है उनके पास। जो अक्षर मुंह से निकलता चला गया, कहते चले गए। वहां कोई वैज्ञानिक क्रम नहीं है। कुछ भी सोचने समझने उत्तर देने के लिए नहीं है। तर्क के लिए कुछ भी नहीं है उनके पास। किंतु हमारी जो भाषा है, जिस प्रकार से प्रकट हुई है, वस्तुतः यह समझना चाहिए कि जैसे सृष्टि प्रकट हुई जिस क्रम में सृष्टि के लिए विज्ञान मानता है कि सृष्टि एक महाविस्फोट का परिणाम है। एक बिग बंग हुआ। बहुत महान विस्फोट हुआ। सृष्टि के पहले उस विस्फोट से सृष्टि प्रकट हुई और हमारा व्याकरण दर्शन मानता है शब्द परिणाम। जो जगत दिखाई पड़ता है शब्द का परिणाम शब्द से प्रकट हुआ है और तंत्र मानता है। शब्द किस क्रम से पैदा हुए जो हमारी वर्णमातृका है अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, इसी क्रम से पैदा हुए हैं सृष्टि। यह इसी क्रम से वर्ण पैदा हुए हैं। यह वर्णमातृका जो क्रम है जो वस्तुतः सृष्टि का क्रम है। यह अद्वितीय है, यह आम आदमी के समझ में आता नहीं है। तो सबसे पहले सृष्टि में अकार पैदा होता है, वह शिव स्वरूप है। अकार के बाद आकार पैदा होता है। फिर इकार पैदा होता है। यह शक्ति है और शिव शक्ति का जो संयोग होता है। उससे सृष्टि उत्पन्न होती है। तो अकार से हकार तक का जो सृष्टि क्रम है। अकार से हकार तक सृष्टि में जो वर्णों का जो उत्पत्ति क्रम है, वह अ से ह के बीच में सारी सृष्टि प्रतिष्ठित है। तो अ से ह तक जो अ बनता है वही बिंदु से संयुक्त होकर के इस सृष्टि का उत्पादक परम शिव होता है। विवर्श शक्ति से युक्त होकर के उसी से सारी सृष्टि उत्पन्न होती है। तो हमको सबसे पहले वर्ण मातृका पढ़ना चाहिए। यह वर्णमातृका अत्यंत विलक्षण है। यह व्याकरण शास्त्र का विषय तो है ही, किंतु हमारे देश के अन्य दर्शनों का भी विषय है। शैव दर्शन में, साक्त दर्शन में इन वर्णों पर अपार असीम विचार किया गया है। किंतु हम लोग सामान्य में यह जानेंगे इस बात को पहले हम मानले। हमारे कहने से नहीं माने आप अपने विवेक से माने इसको समझे, दूसरी भाषा को देख ले आजकल सब देखना बहुत कठिन नहीं है। आजकल तो हाथ में मोबाइल रखा पूरी सृष्टि का दर्शन कराता है। तो वहां देख ले, कि हमारी जो वर्णमातृका है। यह सृष्टि की प्राचीनतम और परम वैज्ञानिक वर्णमातृका है। वस्तुतः हमारे देश में जो वर्णमातृका पढ़ाई जाती है। यह वर्णमातृका राष्ट्र की सभी भाषाओं की वर्णमातृका है। क्योंकि सारे भाषाएँ संस्कृत से जन्य ही है। संस्कृत से जन्य तो विश्व की अनेक भाषाएँ है। किंतु वे अपनी जड़ों से कटकर जड़ों ने संस्कृत से कट कर अपना विकास संरक्षण नहीं कर सके।

वर्णमातृका कहां से आई, कहां से पैदा हुई। वर्णमातृका कहीं से पैदा नहीं हुई है। यह अनादि वर्णमातृका है। हमारी जो वर्णमातृका है यह अनादि वर्ण मातृका है और इसके एक दो नहीं इसके अनेक शास्त्रीय प्रमाण हमारे पास है। वर्ण मातृका किसी से पैदा नहीं हुई। यह सृष्टि जब बनी तो ब्रह्मा के पहले भी वर्ण मातृका थी और इसी वर्णमातृका के आधार पर सृष्टि का निर्माण हुआ है। भागवत में कथानक आता है। यह सृष्टि जब-जब बनती है तो सबसे पहले भगवान की नाभि कमल से ब्रह्मा प्रकट होते हैं और जब भगवान की नाभि कमल से अकेले ब्रह्मा प्रकट हुए सृष्टि में उन्हें दूसरा कोई नहीं दिखाई पड़ा ऊपर आकाश और नीचे पानी, तो ब्रह्मा घबरा गए। तो उन्होंने पता किया कि, मैं कौन हूँ, कहां से आया हूँ, तो उसी कमल नाल के अंदर घुस गए। तो कमलनाल कौन था। वह तो सृष्टि की उत्पत्ति का स्थान था। उसका आदि-अंत तो था नहीं। तो घूमते घूमते हजारों वर्षों में आकर वापस उसी कमल पर बैठ गए। तब आकाशवाणी हुई और आकाशवाणी ने जो कहा वर्णेषु यत् षोडशम् एकविशः। वर्णमातृका का जो 16 वाँ अक्षर है और जो 21 वाँ अक्षर है, यही भारतीय संस्कृति का प्राण तत्व है। तब ब्रह्माजी ने वर्णमातृका के 16 और 21 वा अक्षर का अनुसंधान किया। तो 16 वाँ अक्षर हमको क्या मिला ? क, ख, ग, घ, ङ यह पांच च, छ,

ज, झ, ञ दश हो गये। ट, ठ, ड, ढ, ण ये 15 हो गये और 16 वाँ मिला त, और त, थ, द, ध, न मीलकर 20 हो गये। 21 वाँ मिला प। तो ब्रह्मा समज गये कि तपस्या के बिना कोई कार्य सिद्ध होने वाला नहीं है। इसके भीतर हमारी पूरी भारतीय संस्कृति का रहस्य बैठा है।

उसके मूल में हमको वर्णमातृका को जानना है। उसके विज्ञान को समझना है, कि कितने वैज्ञानिक दृष्टि से यह वर्णमाला प्रकट हुई है। यह वर्णमाला वस्तुतः सृष्टि का क्रम है। इसको जानने के बाद हम अष्टाध्यायी के संरचना विज्ञान के अनुसार अष्टाध्यायी की प्रक्रिया विज्ञान को भी समजते जाइए। पर उसके पहले हमको वर्णमातृका, माहेश्वर सूत्र और पाणिनि की संज्ञा का ज्ञान होना चाहिए। क्योंकि हर शास्त्र की अपनी-अपनी संज्ञाएँ होती है। जो भी शास्त्र होता है, उसकी अपनी संज्ञाएँ होती है। तो इसलिए हम आपको पाणिनि व्याकरण संज्ञा का ज्ञान कराने के पहले वर्णमातृका के विषय में बताते हैं। यह जो वर्णमातृका हमारी है। इसमें दो प्रकार के वर्ण हैं। एक स्वर है और दूसरे व्यंजन हैं। स्वर भाषामें होते हैं स्वर व्यंजनमें भी होते हैं। मनुष्य तो वही है। स्वरयंत्र भी वही है। तो यह वर्ण दो प्रकार के सभी भाषाओं में स्वर है और व्यंजन है। तो जो स्वर कहलाते हैं वे अक्षर वे वर्ण, वे ध्वनियाँ, जिनको बोलने में हमें किसी दूसरे वर्ण की सहायता नहीं लगती। इसलिए स्वर का लक्षण है। स्वयं राजन्ते इति स्वराः। जो स्वयं प्रकाशित हो, स्वयं बोले जा सके, दूसरो की सहायता ना लेकर अपने आप बोले जा सके। उन ध्वनियों को उन वर्णों को हम स्वर कहते हैं और जिनको दूसरे की सहायता से बोले जाते हैं। दूसरे दूसरा कौन दूसरा स्वर ही है। जिन्हें स्वरों के सहायता से बोले जाते हैं। जो स्वर की सहायता के बिना हमारे कंठ से बाहर ना निकल सके उनका नाम है व्यंजन। अन्वग् भवति व्यंजनम्। स्वयं राजन्ते इति स्वराः। जो स्वयं बोले जाए वह स्वर है और जो स्वर की सहायता से बोले जाए उनके पीछे चले आते हैं उनके नाम होता है व्यंजन। पहले उनको जाने, तो हमारे यह ऋषियों ने इस वर्णमातृका में अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ इन नौ स्वरों को पहले पढ़ ले और बाद में व्यंजनों को पढाया है। तो क्यों स्वर हम पहले पढ़े और क्यों व्यंजन बाद में पढ़े ? क्यों नहीं व्यंजन को पहले पढ़ लीया ? क्योंकि स्वर प्रधान हैं। जो प्रधान होते हैं उनको ही पहले पढा जाता है। तो पहले स्वरों को पढ़ा उसके बाद व्यंजनों को पढा। पूरी दुनिया में किसी ने ऐसा किया क्या ? स्वर व्यंजन सब भाषाओं में है। अंग्रेजी में पांच स्वर हैं— A, E, I, O, U यह पांच स्वर जो हैं वह 26 अक्षरों के बीच में बिखरे पड़े हैं। यह पांच स्वरों को निकाल के अलग रखे नहीं जा सकते। यह कहते हैं A स्वर हैं B, C, D व्यंजन है। फिर E स्वर है फिर F, G व्यंजन है तो A, E, I, O, U ये पांच स्वर को इकट्ठा निकालकर नहीं रख सकते। इतना विज्ञान जिनके पास नहीं था। उनको हम आदर्श मान के संस्कृत की अवज्ञा करके हम यदि चाहते हैं, कि हम जीवन को कृतार्थ कर लेंगे। तो ये हमारा झूठा संकल्प है। यह मृगतृष्णा के समान असत्य है। इसलिए हम संस्कृत में प्रवेश करें और सबसे पहले वर्णमातृका का विचार करें। स्वर और व्यंजन इन दो हिस्सों में हमारी यह वर्णमातृका विभक्ति है और यह जो हमारी वर्णमातृका है, यह अनादि है। तो हमने जाना कि विश्व की सारी भाषाओं में जो वर्ण होते हैं। वह दो प्रकार के होते हैं। स्वर और व्यंजन। किंतु संस्कृत के वर्णमातृका में स्वरों और व्यंजनों को अलग-अलग व्यवस्थित करके रखा गया है, जो कि विश्व की किसी भाषा में भी नहीं किया गया है। तो स्वर कितने हैं तो मूल रूप में स्वर नौ हैं। अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ। ये नौ ध्वनियाँ स्वर हैं। स्वर का मतलब जो स्वयं बोले जा सकते हैं। जिनको बोलने के लिए किसी दूसरे वर्ण की दूसरे अक्षर की सहायता अपेक्षित नहीं होती है। उनको हम स्वर कहते हैं। तो स्वर का लक्षण बनाया स्वयं राजन्ते इति स्वराः। जो स्वयं बोले जाए, किसी दूसरे वर्ण की सहायता ना ले और हमारे कंठ से निकल जाए बाहर वो स्वर कहलाते हैं। अन्वग् भवति व्यंजनम्। जो व्यंजन है उसे स्वर की सहायता से बोले जाते हैं। उनके बिना नहीं बोला जा सकता। इसलिए व्यंजन अप्रधान है। इसलिए उनको बाद में कहा, स्वर प्रधान है इसलिए उनको पहले कहा।

मुख से जो ध्वनियाँ निकलती हैं उन ध्वनियों का नाम होता है वर्ण। उन्हीं को हम अक्षर भी कहते हैं। यह वर्ण दो प्रकार के हुए, स्वर और व्यंजन। स्वर हुए वह वर्ण जो स्वतंत्र बोले जा सके। व्यंजन वे वर्ण हैं जिनको स्वर की सहायता से बोल सकते हैं। तो स्वर तो हो गए नौ। मूल रूप में नौ ही है स्वर और व्यंजन जो है यह हमारी वर्णमातृका में कितने सुव्यवस्थित क्रम से बैठे हुए हैं। इतने दिव्य क्रम से बैठे हुए

हैं, कि आश्चर्य होता है कि ऋषियों ने किस प्रकार से इनकी उत्पत्ति का दर्शन करके उनको सुव्यवस्थित करके रखा है। कहीं नहीं दुनिया में A के बाद B आ गया। स्वर के बाद व्यंजन आ गया। उनके बाद C आ गया, उनके बाद D आ गया। न स्थान क्रम का ज्ञान है न प्रयत्न का ज्ञान है, न काल का ज्ञान है, कुछ का भी विज्ञान नहीं है। जैसे भर देते हैं कोई सामान टोकरी में ऐसे भर के रख दिए। हमारे वर्णमातृका देखिए, कि इसमें व्यंजन 33 है। व्यंजन 33 है। तुम 33 को एक विशिष्ट क्रम में रखा है ये किसने बनाया उसको कोई नहीं जानता ये अनादि है। तो पहले सबसे पहले उनको रखा क, ख, ग, घ, ङ। क्योंकि जब वर्ण बोले जाते हैं। तो इनका स्थान होता है उच्चारण। अष्ट स्थानानी वर्णानाम्। वर्ण उच्चारण के आठ स्थान कहे गये हैं। तो जहां वर्ण प्रकट होता है आकर के उसका पहला स्थान हमको मिलता है कंठ। तो कंठ से निकलते हैं जो उनका नाम है कण्ठ्य। तो पहला स्थान कंठ मिला। तो यहां से हमने कहा क तो आप देखिए इसको उच्चारण करके स्वयं देखे। जब आप स्वयं उच्चारण करके देखेंगे तो आपको ये रटना नहीं पड़ेगा। याद नहीं करना पड़ेगा। स्वयं समझिए, की आवाज कहां से निकल रही है। यह ध्वनियाँ कहां से निकल रही है। क, ख, ग, घ, ङ – यह पांच व्यंजन कंठ से बोले जा रहे हैं। इसलिए इनका स्थान कंठ है और कण्ठ्य स्थान होने के कारण कण्ठ्य कहलाते हैं कंठ वर्ण कंठ में पैदा होते हैं। उनको कण्ठ्य कहते हैं। इन पांचो को एक साथ क्यों रखा? क्योंकि पांचो एक ही स्थान से बोले जा रहे हैं। क, च, भ, ट, ग ऐसा क्यों नहीं रख दीया। क, च, म, र, य ऐसा क्यों नहीं रखते। क्योंकि इन पांच के पांच स्थान एक स्थान से बोले जाने वाले व्यंजनों को लेकर के उनका एक वर्ग बनाया और वर्ग बनाकर एक साथ उनको रख दिया। तो यह पांच व्यंजन जो है। क, ख, ग, घ, ङ – इन पांचो को मिलाकर के इनका जो समुदाय बनता है। उनका नाम होता है क वर्ग। इसका नाम होता है के वर्ग और इसका एक छोटा नाम होता है, जो शास्त्र में व्याकरण शास्त्र में व्यवहार में आएगा। क्योंकि पाणिनि ने इसी के आधार पर सूत्र बनाएंगे और सूत्र का अर्थ होता है अल्पाक्षरम्। असंदिग्धम् सारवत् विश्वतो मुखम्। तो सूत्र होता है छोटे से छोटा जितना छोटा हो सकता है यह ढाई अक्षर हो सकते हैं। तो आप तीन मत बोलिए और तीन हो सकते हैं, तो साढे तीन मत बोलिए। तो अल्पाक्षर सूत्र हमें बनाना है और संदिग्ध बनाना है। तो क वर्ग बोलेंगे तो हमको क वर्ग इतना बड़ा कहना पड़ेगा। क अ, व अ, र, ग अ ये सात अक्षर बोलना पड़ेगा। हम कु कहेंगे तो हमारा दो अक्षर में काम चल जाएगा। तो क, ख, ग, घ, ङ को एक साथ इसलिए रखा की पांचो व्यंजन, एक ही स्थान में प्रकट होते हैं। एक ही स्थान से उच्चरित होते हैं और एक ही स्थान से बोले जाते हैं। इसलिए इनको वर्णमातृका में एक साथ रख दिया गया। वर्णमातृका में इन्हीं को पहले नंबर पर क्यों रखा भाई ? प वर्ग को सबसे बाद में क्यों रखा ? तो देखिए उच्चारण के स्थान जो बने हैं इनका एक क्रम है। सबसे पहले हमारे यहां जब ध्वनि कहां से प्रकट होती है ? वायु कहां से निकलता है ? नाभी से वायु उठना है। जब प्रयत्न हमारा नाभि से वायु उठना है, उठते हुए सबसे पहले कण्ठ देश में सबसे पहले प्रकट होता है। तो पहला स्थान बनता है कंठ।

तो सबसे पहले हमको सुनाई पड़ता है कंठमे। तो पहला उच्चारण स्थान बनता है कंठ। इसलिए कंठ से बोले जाने वाले पांच व्यंजनों को एक वर्ग बनाकर सबसे पहले वर्णमातृका में रखा गया है। आपके पास प्रत्येक प्रश्न का जवाब है। कोई आपसे पूछे भाई क्यों क, ख, ग, घ, ङ को पहले क्यों रखा ? क्योंकि पहला उच्चारण स्थान है। च, छ, ज, झ, ञ दूसरा है। तो उच्चारण स्थान और करण दोनों को आधार मानकर बनाएं गये हैं। दोनों ही इसके आधार बनते हैं। तो दूसरा वर्ग बनता है च, छ, ज, झ, ञ – च, छ, ज, झ, ञ तो यह पांच वर्णों का दूसरा वर्ग बनता है। इसका नाम होता है च वर्ग। इसका छोटा नाम होता है चु। सूत्रों में उसको चु कहेंगे। लोक भाषा में इनको हम च वर्ग कहेंगे। तो क वर्ग के बाद च वर्ग और च वर्ग के जो व्यंजन है इनको बोलते हैं तालू से। तालू यानी दांत के पीछे वाला हिस्सा होता है। इसलिए इनका नाम है तालव्य। कंठ से बोले जाने वाले कण्ठ्य और तालू से बोले जाने वाले तालव्य। उसके बाद मुर्धा एक स्थान है। मुर्धा यानी हमारे मुख में ऊपर का भाग मुंह के अंदर जिसको हम तालु कहते हैं पूरे को हम तालु कह देते हैं। उसे तालु के हिस्से का व्याकरण। तो उसमें बीचो-बीच का भाग है। ऊपर वाले तालु में जिसको अंग्रेजी में पलेट कहते हैं। उसमें जो सबसे बीचो बीच का भाग है केंद्र भाग। उसका नाम मुर्धा है। उसको बोलने में जीभ हमारी ऐसी मूडती है और मूड करके बीचो-बीच जाकर टकराती है। मुर्धा का

स्पर्श करती है। तो जहां जीहवा मुर्धा का स्पर्श करें और मुर्धा के स्पर्श से जो व्यंजन उच्चरित हो। वे ट, ठ, ड, ढ, ण। ट, ठ, ड, ढ, ण इन पांच वर्णों का एक वर्ग बनता है। इस वर्ग का नाम होता है ट वर्ग। इसका छोटा नाम होता है टु। इसको यहां क्यों रखा ? क्योंकि उच्चारण स्थान में यह तृतीय स्थान पर हैं। पोंचो को एक साथ क्यों रखा की पांचो एक ही स्थान से बोले जाते हैं। एक ही स्थान से बोले जाते हैं जो उनको एक-एक वर्ग बनाकर इस वर्णमातृका में अलग-अलग बांध दिया है। तो क, ख, ग, घ, ङ अंग पांच वर्ग वर्णों का क वर्ग, च, छ, ज, झ, ञ यह पांच व्यंजनों का च वर्ग चु और ट, ठ, ड, ढ, ण यह पांच व्यंजनों का ट वर्ग टु। अब इसके बाद आप देखते चलिए स्वयं बोल करके अभ्यास कीजिए, प्रेक्टिकल करते चलिए की जीत जाकर दांत में टकराएगी। स्वयं प्रत्यक्ष कीजिए सारे वर्ण। तो आप बोलिए त, त और देखिए कि जीभ ने दांत को छुआ। तो जिन-जिन व्यंजनों को बोलने में जिहवा दांत का स्पर्श करेगी। वह सारे व्यंजन मिलकर के एक वर्ग में बन जाए। उन सारे व्यंजनों का एक वर्ग बन जाएगा। ये त आप बोलने के साथ देखते जाइए की जीभ दांत को छू रही है कि नहीं। त, थ, द, ध, न ये पांच व्यंजन बोलने के समय जीहवा दांत से टकराती है। इसलिए इन पांच व्यंजनों का उच्चारण स्थान बनता है दन्ताः। दांत यह कहलाते हैं दन्त्य। ये व्यंजन कहलाते हैं दन्त्य और इन पांचो का जो वर्ग बनता है उसका नाम होता है त वर्ग। उसका छोटा नाम होता है तु। अब अगले पांच व्यंजनों जो आते हैं तो देखिए हम कंठ से चल रहे हैं कंठ, तालु, मुर्धा, दन्त्य, ओष्ठ्य। यह क्रम है। कोई कहे क वर्ग के बाद च वर्ग उसके बाद ट वर्ग, त वर्ग, प वर्ग ऐसे क्यों कहा ? क्योंकि पहला स्थान कण्ठ्य है और आखिरी स्थान ओष्ठ्य है दोनों ओष्ठ्य दोनों ओष्ठ्य आपस में मिलते हैं और दोनों होठों के आपस में मिलने से जो ध्वनियां निकलती है, उनका एक वर्ग बना और व्यंजन कहलाते हैं ओष्ठ्य। ओष्ठ्य यह है पांच यह है दोनों होठ हम ना मिलाए और प बोलदे यह संभव है न। तो हमें वर्णों के स्थान रटना नहीं है। स्वयं बोल करके देख लेना है और पहचान लेना है। प दोनों होठ मिल गए। फ दोनों होठ मिल गए। दोनों होठ के मिलने से जो फ निकलता है। यही हम भारतवासियों का फ है। यही संस्कृत का हिंदी का फ है।

तो हमारी जो भाषा है संस्कृत वह वैज्ञानिक है। ऋषियों ने उस विज्ञान का दर्शन किया है। भाषा को उन्होंने साक्षात्कार किया है और तदनुसार सुव्यवस्थित करके हमको दिया है। यह हमारी अनादि वर्णमातृका है। इसी रूप में प्रकट हुई है। इसी रूप में शास्त्र में वर्ण की उत्पत्ति बताई गई है। तो क, ख, ग, घ, ङ च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म यह पांच वर्णों के नाम है कु, चु, टु, तु, पु।

तो यह पांच कहलाए वर्ग। क वर्ग, च वर्ग, ट वर्ग, त वर्ग, प वर्ग। इनमें रहने वाले अक्षर आए 25 उनका नाम हुआ वर्गाक्षर। उनको हम कहेंगे वर्गाक्षर और इन वर्णों का छोटा नाम हमने पढा कु, चु, टु, तु, पु। इतना विज्ञान हमको पहले होना चाहिए। उसके बाद आठ व्यंजन और बचे हैं। ये य, र, ल व। य, र, ल व अपने-अपने स्थान का पूरा-पूरा उपयोग नहीं करते। इसलिए इनको अलग रखा। तो जो 25 व्यंजन है के से म तक इनका नाम है स्पर्श। कादयो मावसाना स्पर्शाः। क से लेकर म तक जो 25 व्यंजन है। यह स्पर्श कहलाते हैं और य, र, ल व यह कहलाते हैं अंतःस्थ और श, ष, स, ह यह चार कहलाते हैं ऊष्म। तो 25 स्पर्श चार अंतःस्थ और चार ऊष्म। इस प्रकार से यह 33 व्यंजन हमारी इस वर्णमातृका में है। नौ स्वर और 33 व्यंजन, 33 व्यंजनों के तीन विभाग हो गए। 25 स्पर्श, चार अंतःस्थ और चार ऊष्म। उसका यह 25 स्पर्शों के पांच वर्ग बने हैं क वर्ग, च वर्ग, ट वर्ग, त वर्ग, प वर्ग इनका एक नाम और है वह नाम है कु, चु, टु, तु, पु और कु, चु, टु, तु, पु का नाम क्या है। इनका नाम है उदित। कु, चु, टु, तु, पु एते उदिताः। यह उदित कहलाते हैं। क्योंकि उ की इत् संज्ञा हो जाएगी। कु मे उ की इत् संज्ञा हो जाएगी। उसका लोप हो जाएगा। जो वह पांचो का बोध कराएगा। तो क वर्ग कहने से भी हमको पांच अक्षरों का ज्ञान होता है और कु कहने से भी पांच अक्षरों का ही हमें ज्ञान होता है। इस प्रकार वर्णमातृका, वर्णमातृका के वर्ग। वर्णों के भीतर पांच पांच अक्षर, उन वर्गाक्षरों का नाम स्पर्श और वर्ग के बाहर है उन में चार का नाम अन्तःस्थ और चार का नाम ऊष्म। वर्णों का जो दूसरा नाम है कु, चु, टु, तु, पु इनको कहते हैं उदित और जो कुछ अक्षर

बच गए हैं। कुछ वर्ण बच गए हैं। जिनको वर्णमातृका और माहेश्वर सूत्र में नहीं कहा गया है। इसलिए उनको अयोगवाह कहते हैं।

साक्षात् वर्णमातृका में और साक्षात् माहेश्वर सूत्र में उपदेश न होने के कारण इनका नाम होता है अयोगवाह। यह अयोगवाह भाषा में तो प्रयुक्त होते हैं तो यह कौन है और कैसे होते हैं इनका हम विचार कर लेते हैं तो इसमें एक तो पहला होता है अनुस्वार। जिसका उच्चारण स्थान होता है नासिका। गृहं गच्छति। पुस्तकं पठति। पत्रं लिखति। यह जो अम् है यह हमेशा अच् के बाद ही आता है। हल् के बाद इसको नहीं बोला जा सकता। तो अच् के बाद आनेवाला जो अम् है। इसका नाम अनुस्वार होता है। यह जो अनुस्वार और : (विसर्ग) होते हैं। यह हमेशा अच् के बाद आते हैं स्वर के बाद ही आते हैं उनके पहले स्वर का होना आवश्यक है। यह हमने कहा रामः। रामः तो यह : (विसर्ग) है, इसके पहले अ है और वनं यह अ है अ के बाद अनुस्वार है। यह अ है अ के बाद : (विसर्ग) है। हरिः इ के बाद : (विसर्ग) है। भानुः उ के बाद : (विसर्ग) है। अनुस्वार और : (विसर्ग) हमेशा अच् के बाद होते हैं। बिना अच् के उनकी स्थिति नहीं होती। इनका स्वरूप यही है यह है : (विसर्ग) यह है अं। अनुस्वार अम्— अः। अं अः इत्यचः परावनुस्वारविसर्गौ। अच् के बाद आनेवाले अच् और अम् और इनका नाम है अनुस्वार और विसर्ग। तो इनको लिखेंगे कैसे ? ये ऐसा गोल बनेगा उपर और ये दो गोल बनेगा तो ये विसर्गकी लिखने की यही स्थिति है। ऐसे पुरा विसर्ग ऐसे ही होता है।

अब यह जो आठ अक्षर हम बता रहे हैं। यह ना तो वर्णमातृका में पढ़े पढ़े गए हैं और ना ही माहेश्वर सूत्र में पढ़े गए हैं। यह कहीं नहीं पढ़े गये हैं। भाषा में इनका व्यवहार होता है। इसलिए उनको अयोगवाह कहते हैं। इनका योग नहीं है। वर्णमातृका में भी नहीं है माहेश्वर सूत्र में भी नहीं है फिर भी ये भाषा में प्रयुक्त होते हैं। अयोगवाह कहलाते हैं उनमें से पहले आपको बता रहे हैं अनुस्वार और : (विसर्ग)। तो ये अनुस्वार स्वर के बाद आता है : (विसर्ग) भी स्वर के बाद आता है। अनुस्वार अच् के बाद आता है और : (विसर्ग) भी अच् के बाद आता है। बिना अच् की उनकी स्थिति नहीं होती है। तो अच् कौन होता है इनका आश्रय होता है। अच् के आश्रय से यह रहते हैं। आगे हम बताएंगे कि यह जितने भी वर्ण हैं। हमारी भाषा में यह कैसे बोले जाते हैं। इनको बोलने का स्थान क्या है। इनको बोलने का करण क्या है। किस प्रकार इनका उच्चारण होना चाहिए। यह हम आगे बताएंगे चु कि अनुस्वार की बात चल रही है। इसलिए अनुस्वार हमेशा समझे। अनुस्वार कैसे बोला जाते हैं अनुस्वार के लिए कहते हैं पाणिनि शिक्षा में —

अनुस्वारे विवृत्त्यां तु विरामे चाक्षरद्वये।

द्विरोष्ठ्यौ तु विगृहणीयाद्यत्रोकारवकारयोः।⁴

द्विरोष्ठ्यौ तु विगृहणीयाद्यत्रोकारवकारयोः। द्विरोष्ठ्यौ तु विगृहणीयात्। दोनों होठ अलग-अलग होना चाहिए। ऐसा बंद नहीं होना चाहिए। रामम् ऐसा बंध नहीं करना चाहिए। होठ दोनों अलग-अलग होना चाहिए। दोनों होठ अलग-अलग होने चाहिए। एक दूसरे में सटना नहीं चाहिए। अनुस्वार के उच्चारण में। अच्छा, अनुसार होता कहाँ है ? और कहाँ नहीं होता ? तो हमारे सामने पढ़ेंगे तो अनुस्वारस्य को हो जाता है पर सवर्ण। अनुस्वारो ययि पर सवर्णः। ८-४-८५। आठ अक्षर है जिनके पहले आपको अनुस्वार सुनाई पड़ता है। य, र, ल, व और श, ष, स, ह आठ अक्षर के पहले ही अनुस्वार का उच्चारण होता है और बाकी जगह तो अनुस्वार को पर सवर्ण हो जाता है। जैसे हमने कहा य — संयमः, र — संरावः, ल— संलापः और व—संवारः। य, र, ल, व जब अनुस्वार के बाद दिखाई पड़ते हैं तभी अनुस्वार का उच्चारण होता है और यदि क से म तक जो २५ अक्षर है। यह अनुस्वार के बाद आते हैं। तो अनुस्वार को पर सवर्ण हो जाता है। तो अनुस्वार नहीं रह जाता और पदान्त में हो तो अपदान्त(वा पदान्तस्य लग जाएगा) लग जाएगा। इसलिए शुद्ध अनुस्वार कहाँ कहाँ दिख रहा है, वह आपको हम दिखा रहे हैं। चार तो यह हो गए और श, ष, स, ह। संशयः से श है। संसारः ये स हो गया। संहारः ये ह हो गया। तो य र ल व और श ष स ह जब बाद में आते हैं तब अनुस्वार शुद्ध अनुस्वार रहता है। तो जब शुद्ध अनुस्वार रहता है तो उसका उच्चारण कैसे करना चाहिए। जैसे सिंहः, अंहः दोनों होठ अलग-अलग करके बोलना है सिंह नहीं बोलना है। दोनों होठ चिपके नहीं एक दूसरे से। अंहः, हंसः ओष्ठ चिपकाना नहीं है एक दूसरे को। दोनों होठ को विवृत रखना है। अलग-अलग रखना है दोनों होठ एक दूसरे से सटेंगे नहीं और उसका उच्चारण होगा।

औष्ठौ में जो य प्रत्यय है वो स्वार्थ में है । औष्ठौ तु विगृहणीयात् । दोनों होठों को अलग-अलग करके रखना है । एक दूसरे से चिपकाना नहीं है और अनुस्वार लिखने की जो शुद्ध विधि है वह यही है । अब हम इसको शॉर्टकट ऐसा लिख देते हैं सरलता के लिए किंतु हम समझेंगे की उसकी आकृति यही है । विसर्ग कि भी आठ स्थिति बताई गई है । तो हम पहले आपको हम शुद्ध विसर्ग बता रहे हैं । विसर्ग के पहले अच् का होना आवश्यक है और लिखा जाता है : यह : (विसर्ग) है । तो यह कब : (विसर्ग) रहता है कब यह ओ बन जाता है कब इसका लोप हो जाता है कब इसको स हो जाता है । कब इसको तालव्य श हो जाता है । कब इसको मूर्धन्य ष हो जाता है । कब इसको जीह्वामूलीय हो जाता है । कब इसको ऊपदमानीय होता है । इसकी आठ स्थितियां होती है । तो हम आपको सामान्य बता रहे हैं आपको क्योंकि हम आरंभ कर रहे हैं पाठ का तो : (विसर्ग) अच् के बाद होता है और जब अच् के बाद होता है शुद्ध : (विसर्ग) तो बोला जाता है कंठ से । रामः, सिंहः, हंसः यह कंठ से बोला जाता है । तो कंठ में कब तक रहेगा? जब तक कोई उसके साथ धक्का मुक्की नहीं करेगा । छेड़खानी कोई नहीं करेगा तब तक कंठ में बैठा रहेगा । तो जब तक उसके आगे पीछे दूसरे अक्षरों का पूरा प्रभाव नहीं हो रहा है तब तक शुद्ध : (विसर्ग) हम कंठ से बोलेंगे । यह देखिए, बालकः क्रीडति और बालकः खेलति । यह दो वाक्य हमने लिया । यह : (विसर्ग) है इसके बाद क है, यह : विसर्ग है इसके बाद ख है । अब यह जो : विसर्ग है जिसके बाद क और ख आते हैं । तो देखिए क और ख बोले जाते हैं कंठ से और : विसर्ग भी बोला जाता है कंठ से । तो दोनों एक साथ घुस जाएंगे गले में । दोनों एक साथ कंठ में जब जाकर घुसेंगे तो धक्का मुक्की तो होगी न । जब क, ख को कंठ चाहिए तो क, ख क्या करेगा इस : विसर्ग को थोड़ा नीचे धकेल दे । तो बोल कर देखिए बालकः क्रीडति । उच्चारण स्थान रटता नहीं है । उच्चारण हमारे अवयवों से हो रहे हैं । हमारा हमारे जो उच्चारण अवयव है, उन्हीं से उच्चारण हो रहा है । तो हम स्वयं उसको देखें, अनुभव करें, बालकः कहां से सुनाई पड़ रहा है कंठ से अनुभव बालकः कंठ से बोला जा रहा है और जब कहते हैं बालकः क्रीडति । तो जो : विसर्ग था उतर गया नीचे पहुंच गया नीचे जीह्वा के मूल में और कंठ में कौन आ गया क, बालकः खेलति । तो : विसर्ग चला गया जीह्वा के मूल में जीह्वा जहां से शुरू होती है वहां चला गया और कंठ में आ गया ख । तो जब : विसर्ग के बाद क, ख आते हैं तो : विसर्ग का स्थान बदल जाता है । वह : विसर्ग चला जाता है जीह्वा मूल में और जब चिह्वा मूल में चला जाता है, जब वह जीह्वा मूल से बोला जाता है तब उसका नाम हो जाता है जीह्वामूलीय । तो यह जो जीह्वा मूल है, जिससे यह : विसर्ग बोला जा रहा है कौन सा : (विसर्ग) जिसके बाद क और ख आया है । आठ स्थान है, यह अलग है, वर्णों के उच्चारण का ।

अष्टौस्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा ।

जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च ॥⁵

यह आठ स्थान है । यह चला गया जीह्वा मूल में जब जीह्वा के मूल में चला गया वहां से उसका उच्चारण होने लगा । अब यह स्पष्ट विसर्ग नहीं जाएंगे । अब इसका नाम क्या हो गया । जीह्वामूलीय इसका नाम हो गया । तो इसको लिखने का चिन्ह भी अलग होना चाहिए । जितने वर्ण होते हैं सबके अलग-अलग लिपि चिन्ह होते हैं लिखने में । यह तो आपका : (विसर्ग) है । इसका नाम है : (विसर्ग) । यह : (विसर्ग) चिन्ह है और जीह्वामूलीय का क्या चिन्ह होगा ? तो आधा : (विसर्ग) आधा कैसे ? : (विसर्ग) इसको भी आधा कर दो और इसको भी आधा कर दो । इसको भी आधा कर दीजिए और इसको भी आधा कर दीजिए । तो देखिए क्या बचा रहेगा? : (विसर्ग) यह रह गया । यह आधा : (विसर्ग) हो गया । ऐसा होता तो पूरा हो जाता । आधा इसका और आधा इसका । इसका नाम अर्ध : (विसर्ग) क, ख के पहले अर्ध : (विसर्ग) शदृशो जिह्वामूलीयम् । क ख के पहले यह जो जिह्वामूलीय होते हैं । यह आधे : (विसर्ग) के समान लिखा जाता है । तो क्या लिखेंगे इसको हम ? बालकः क्रीडति । बालकः खेलति । इसका स्थान कंठ नहीं है कंठ के नीचे चला गया है । जीह्वा के मूल में चला गया है । तो क, ख के पहले जो : (विसर्ग) है वह आधे : (विसर्ग) के समान लिखा जाता है और जिह्वामूल से बोला जाता है । इसका नाम होता है जीह्वामूलीय । तो हमने देखा कि : (विसर्ग) के बाद जब क, ख आते हैं तो यह : विसर्ग जीह्वामूलीय बन जाता है और यह विकल्प से बनता है । यह : (विसर्ग) भी रह सकता है और जिह्वामूलीय भी रह सकता है । तो : (विसर्ग) कैसे रहेगा ? तो थोड़ा सा बोलने में विराम मिल जाएगा । क्षण भर का विराम मिल जाएगा तो बालकः क्रीडति और लगातार

बोलेंगे तब तो : (विसर्ग) को नीचे जाना ही पड़ेगा। तो क, ख परे होने पर : (विसर्ग) के स्थान पर जिह्वामूलीय होता है और पक्ष में : (विसर्ग) भी रहता है। तो बालकः क्रीडति। बालकः खेलति में हम : (विसर्ग) भी लिख सकते हैं और जीह्वामूलीय भी लिख सकते हैं। अब आया प, और फ : (विसर्ग) के बाद यदि प, फ आते हैं। यह सब चल रहा है कहां से ? : (विसर्ग) विसर्गजनीय से चल रहे हैं। क, ख परे होने पर : (विसर्ग) को ऐसा होना चाहिए था। उसी के सब बाधक है हम कहते हैं, वृक्षः पतति। वृक्ष गिरता है और वृक्षः फलति। वृक्ष फलता है। अब यह कोई उच्चारण स्थान रटना नहीं है। स्वयं बोलना है। स्वयं देखना है। अनुभव करना है। कहां से आप बोल रहे हैं। उच्चारण अवयव हमारे हैं। हमको दूसरे से नहीं पूछना है। हम बोल रहे बताओ कहां से बोल रहे हो, व्यवहार करके देखो। वृक्षः पतति। यह : विसर्ग है और उसके बाद प और फ आ गए। यदि प, फ नहीं है। वृक्षः यह : (विसर्ग) है। यह शुद्ध : (विसर्ग) है और यह कंठ से बोला जा रहा है। अब उसके बाद प, फ आ गए, तब इसको बोलकर देखिए। तो कंठ से आपका : (विसर्ग) और होंठ से बोलना है प २ कोई कहेगा प कहां से बोलते है आप। प को बोलकर देख लीजिए, प दोनों होट चिपकाना नहीं है। मिला दिया तो प निकला। प का स्थान क्या हुआ ओष्ठ। प, फ, ब, भ, म दोनों होठों को चिपकाए बिना मिलाए बिना कोई प, फ नहीं बोल सकते। इनका स्थान है ओष्ठ। अब : (विसर्ग) के बाद प, फ, आज तो देखिए, वृक्षः पतति। २ वृक्षः फलति। यह यहां आ गया। ओष्ठ वहीं से बोलने लगे इसको क्योंकि कंठ से उछल कर यहां तक नहीं आ सकता। अकेला कंठ में बैठा था। अब प, फ बोलना है उसके बाद तो प, फ के पहले जो : (विसर्ग) आता है। उसका स्थान हो जाता है ओष्ठ। दोनों ओष्ठ। प, फ के पहले जो : (विसर्ग) होता है उसका उच्चारण स्थान कौन होता है ओष्ठ। दोनों ओष्ठ उसके उच्चारण के स्थान बनते हैं। बोल के देख लीजिए। वृक्षः पतति। वृक्षः फलति। यहां से बोल रहे हैं और बालकः क्रीडति। बालकः खेलति। इसको हम कंठ के नीचे से बोल रहे हैं। तो तीन प्रकार के : (विसर्ग) हो गए। एक शुद्ध : (विसर्ग) हो गया एक हो गया उपदमानीय, एक हो गया जीह्वामूलीय। तो इसको भी हम आधे : (विसर्ग) के समान लिख देते हैं हम। इसको हम देखेंगे एक पक्ष में है और विकल्प से : (विसर्ग) भी रह सकता है। यह सब संधि का विषय है। यह आगे हम लोग चर्चा करेंगे इसकी। अभी तो हम केवल वर्णों की संख्या गिन रहे हैं। कितने वर्ण हमारी भाषा में है। उनका क्या नाम है। स्थान हमारे बताये गए विस्तार से अभी स्थान नहीं बता रहे हैं अभी तो हम केवल गणना कर रहे हैं। हमने ३३ व्यंजन और नौ स्वर वर्णमातृका में पढ़े, उसके अलावा यह अनुस्वार और : (विसर्ग) जीह्वामूलीय और उपदमानीय यह चार भी हमारी भाषा के अवयव है। यह चार वर्ण भी हमारी भाषा में है। क्योंकि वर्ण मातृका में नहीं पढ़े गए इसलिए उनको हम अयोगवाह कहते हैं। इसी के साथ हम जान ले की जो : (विसर्ग) होता है जिसको हम सामान्य समझते हैं कि अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः। इसका उच्चारण स्थान कंठ है। किंतु इसका उच्चारण स्थान हमेशा कंठ नहीं होता है। जीह्वामूलीय उपदमानीय जो है इसके प्रमाण है तो यह जिसके बाद आते हैं क्योंकि अयोगवाहा विज्ञेया आश्रयस्थानभागिनः।⁶ हम कहते हैं रामः, बालकः, देवदत्तः, तो यह अकार के बाद आ रहा है : (विसर्ग) तो अकार का उच्चारणस्थान कंठ है इसलिए : विसर्ग का उच्चारण स्थान कंठ है और जो कहते हैं हरिः मतिः, गिरिः, कविः, कपिः यहां इकार के बाद आने वाला : (विसर्ग) इसका उच्चारण स्थान जो इकार का उच्चारण स्थान है तालु वही है और जब गुरुः, भानुः, शंभूः, इत्यादि उकार के बाद : विसर्ग आता है। तो इसका वही उच्चारण स्थान होता है जिसका उच्चारण स्थान होता है आश्रयका, आश्रय है उकार। तो अयोगवाहा विज्ञेया आश्रयस्थानभागिनः।। अयोगवाह नाम उच्चारण। आश्रयस्थानभागिनः। आश्रय बिना स्वतंत्र नसंभवति। अयोगवाह का उच्चारण आश्रय के बिना स्वतंत्र से नहीं होता है। इसलिए आश्रय का जो स्थान होता है वही स्थान इस : (विसर्ग) का भी बन जाता है। यह हमको जानना चाहिए। : विसर्ग जिस वर्ण का आश्रय लेता है वही स्थान : विसर्ग का हो जाता है और हकार को हम कंठ से बोलते हैं, ह। किंतु हकार के ये मत जानना चाहिए। जब यह हकार पंचम वर्ण से युक्त होता है अथवा अंतःस्थ वर्ण से युक्त होता है तो इसका स्थान उरः उर होता है। उरः क्योंकि उच्चारण के आठ स्थान कहे गए।

अष्टौस्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा।

जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च।⁷

वर्णों के उच्चारण आठ स्थान है। मुरः कण्ठः शिरस्तथा। जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च।। पाणिनीयशिक्षा - १३।। तो यह जो हकार है ये केवल हम ह बोलते हैं तो यह हम कंठ से बोलते हैं। किंतु इसके बाद यदि हम पंचम अक्षर जैसे हमने कहा ब्रह्म, ऊर्वाण, चिह्न, पूर्वाहण, ह के बाद पंचम अक्षर है चिह्न। च वर्ण का पंचम अक्षर है। ब्रह्म, प वर्ण का पंचम अक्षर है। ऐसा हकार जिसके बाद पंचम अक्षर है संयुक्त, उस हकार का स्थान उरस् है।

हकारं पञ्चमैर्युक्तमन्तःस्थाभिश्च संयुतम्।

उरस्यं तं विजानीयात्कण्ठ्यमाहुरसंयुतम्।।⁸

तो जो असंयुक्त हकार है उसका स्थान कंठ है और जो संयुक्त हकार है और उस कैसा संयोग है हकार के बाद पंचम वर्ण हैं किसी भी ५ वर्ण में से किसी वर्ण का तब उस हकार का उच्चारण स्थान उरस् होता है और हकार जब अंतःस्थ से युक्त होता है जैसे बाह्यर यकार से संयुक्त है। प्र - रेफ से संयुक्त है। ह्रद, ह्राद, लकार से संयुक्त है। तो य, व, र, ल यह अंतःस्थ है। इनसे जब संयुक्त होता है हकार तब भी उसका उच्चारण स्थान उरस् होता है। तो हकार का उच्चारण स्थान कंठ है। किंतु जब वह पंचम वर्ण से ५ वर्णों के पंचम वर्ण से युक्त होता है अथवा अंतःस्थ से युक्त होता है तो उसका उच्चारण स्थान उरस् हो जाता है। यह विशेष बात हमको इसके लिए जानना चाहिए। अब हमारे पास रह गए चार अयोगवाह और जिनको कहते हैं यम और यह यम वेद में प्रयुक्त होते हैं। लोक में प्रयुक्त नहीं होते।

जो वर्णमातृका पढ़ी है। उसमें हमें यह भी देखना चाहिए, क, ख, ग, घ, ङ यह पांच अक्षर क वर्ण के भीतर है। इसमें क वर्ण इस क वर्ण में ककार प्रथम है, खकार द्वितीय है, गकार तृतीय है, घकार चतुर्थ है, ङकार पंचम है। वर्ण को सुनने के साथ ही उसका वर्ण वर्ण की भी उसका क्रमांक हमें मालूम होना चाहिए। जैसे हम कहते हैं भ तो प वर्णस्य चतुर्थ है। ङ - ट वर्णस्य तृतीय है। झ - च वर्णस्य चतुर्थ है। ख-क वर्णस्य द्वितीय है। म-प वर्णस्य पंचम है। ऐसा जब तक अभ्यास न हो तब तक इस वर्णमातृका को पढ़ते रहना चाहिए। तो यम को पहचानने के लिए क्या है? की वर्ण के चार अक्षर, किसी भी वर्ण के, एक, दो, तीन, चार अक्षर है, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, और उसके तुरंत बाद, किसी वर्ण का पंचम अक्षर है, तो उनके बीच में, एक वर्ण का आगम होता है। एकस्य नासिक वर्णस्य आगमो भवति स यमो वर्णः। वह नासिक वर्ण ही यम कहलाता है। तो जो दीक्षित जी ने कहा है कि वर्ण स्वाध्यानां चतुर्णां पञ्चमे परे मध्यनाम पूर्व सदृसाय वर्णः। तो पूर्व के सदृश कहते हैं तो यह सदृश स्थान कृत नहीं है। इस सादृश्य स्थान का वह उसी के हो यह जो पूर्व सादस्य है यह संख्या क्रम रूपम सादृश्य। यह संख्या का क्रम पेपर लिया गया तो पंचम वर्ण है ज, म, ङ, ण, न, इनके पहले यदि वर्ण के प्रथम अक्षर आते हैं प्रथम अक्षर है क, च, ट, त, प यदि पंचम के पहले प्रथम अक्षर आते हैं तो जो यह होगा आगम यह कुँ आगम होगा। वह क होगा अनुनासिक यदि पंचम के पहले द्वितीय वर्ण आते हैं ख, फ, छ, ठ, थ। तो वह होगा खुँ। यदि पंचम के पहले तृतीय वर्ण आते हैं ज, ब, ग, ड, द,। तो होगा गुँ और पंचम के पहले यदि चतुर्थ व्यञ्जन आते हैं झ, भ, घ, ढ, ध। तो होगा घुँम। तो यम चार ही है २० बीस नहीं है। यम चार ही है। पांच प्रथम जब होंगे तो कुँम और पांच द्वितीय होंगे तो खुँम और पांच तृतीय होंगे तो गुँम और पांच चतुर्थ होंगे तो घुँम। कुँम, खुँम, गुँम, घुँम यमः। तो ककार है उसके बाद आया न। पलिक्नी कहा। पलिक्नी में यम को ककाररूप जानना चाहिए। तो ककार है प्रथम उसके बाद नकार है पंचम तो यहां कुँम कुँम का आगम होगा। पलिक्नीः और चख्खनतुः खकार है उसके बाद नकार है पंचम तो नकार के पहले द्वितीय है खकार इसलिए वहां खुँम का आगम हो गया और अग्निः, गकार के बाद पंचम है नकार तो इस नकार के परे होने पर गकार यदि तृतीय है इसलिए गुँम का आगम होगा घनन्ति, घनन्ति में घकार के बाद नकार है नकार पंचम है और घकार उसके पहले जो है वह चतुर्थ है तो चतुर्थ जब होगा तो वहाँ घुँम का आगम होगा। तो यहां सादृश्य का अर्थ स्थान सादृश्य नहीं है, अपितु संख्याक्रम रूप सादृश्य है। संख्याक्रम सादृश्य है। तो पंचम वर्ण के पहले क, च, ट, त, प होने पर कुँम। पंचम वर्ण से ख, फ, छ, ठ, थ पूर्व होने पर खुँम। पंचम वर्ण से पहले ज, ब, ग, ड, द होने पर गुँम। पंचम वर्ण से पहले झ, भ, घ, ढ, ध पूर्व होने पर घुँम। ये चार यम है। ये चार यम कहे गए हैं।

अब एक और दुष्पृष्ठ (दुःस्पृष्ट) होता है। जो वेद में होता है और हिंदी में होता है और संस्कृत में नहीं होता। पर हिंदी वाले उसका नाम नहीं जानते और पाणिनि का जो छात्र है उसका नाम जानते हैं। तो दुःस्पृष्ट को हम जाने की जो ड होता है। ट वर्ग का तृतीय व्यंजन तथा जो मूर्धन्य है। ये ड जो मूर्धन्य है। इसके पहले और इसके बाद जब अच् होता है पहले भी अच् हो और बाद में भी अच् हो, तो इसको वेद में ड नहीं बोलते। तब इसको वेद में ळ कहते हैं जैसे हिंदी में खड़ा, बड़ा, पड़ा बोलते हैं। इसी प्रकार जैसे "अग्निम् ईळे" यह ड के पहले ही है और ड के बाद ए है। तो ड के आगे पीछे दोनों और अच् स्वर हैं। ऐसे ड का उच्चारण ळ होता है और जब ड के आगे पीछे कहीं एक स्थान पर अच् न हो तो उसका उच्चारण ड होता है। जैसे ईढ्यः तो ड के पहिले इ है, बाद में य है हल्। तो इस ड को हम ड बोले। जैसे हिन्दी में उब्बा कहते हैं। तो ड के पहले हम कुछ भी नहीं है। और हम जब कहते हैं, खड़ा, पड़ा तो ड के पहले और बाद में आगे पीछे दोनों और स्वर है उसको हम ळ बोलते हैं। इसी का नाम होता है दुःस्पृष्ट। ऐसा डकार और ऐसाढकार जिसके आगे पीछे पहले और बाद में अच् हो ईळे, इढ्यः। ये दुःस्पृष्ट है। हम ढके बारे में विचार करें। ढ है ढ के पहले भी स्वर हो ढ के बाद में भी स्वर हो। तो जैसे मित्रृषे ढ के दोनों और अच् है तो इसको हम ढ नहीं बोलेंगे इसको ळ कहेंगे। हिंदी में बोलते हैं पढ़ा, बड़ा यह हिंदी में लिखते हैं जो ड और ढ के नीचे बिंदु लगा देते हैं। ड और ढ के नीचे बिंदु लगा देते हैं और संस्कृत में जो वेद में लिखा जाता है उसके लिए अलग से लिपि चिन्ह है अलग से लिपि चिन्ह है। तो मित्रृषे यह दुःस्पृष्ट है। मिद्वान दाश्वान् मिद्वान्च। तो जब मिद्वान कहते हैं तो ढ के बाद व है। तो ढ के बाद अच् के किंतु बाद में हल् है। इस लिए इनको हम ढ कहेंगे। तो ढ को कहां पर ढ कहे और कहां हम ड कहे। ड को कहां पर हम ड कहे और कहां उसको हम ळ कहे। तो ये ड और ळ ये दो ध्वनियाँ है इनको दुःस्पृष्ट कहा जाता है और यह ध्वनियाँ वेद में प्राप्त होती है।

इसके बाद हमें आनुपूर्वी का विचार करना चाहिए। आनुपूर्वी का अर्थ होता है वर्णानुक्रम। किसी पद में या किसी प्रकृति में प्रातिपदिक में धातु में किसी में भी जो वर्ण बैठे हुए हैं उनका क्या क्रम है। जैसे हमने कहा राम तो इससे पहले रेफ है, फिर आकार, फिर मकार और अकार तो रेफ के उत्तर आकार, आकार के उत्तर मकार, मकार के उत्तर रेप। रेफ, आकार, मकार, अकार यह चार वर्ण इसमें है राम में। यह चारों वर्ण इसी क्रम में बैठे हैं। पहले रेप है, फिर आकार है, फिर मकार है फिर अकार हैं। यह चारों इसी क्रम से हमारे मुख से बाहर निकलना चाहिए। यह अनिवार्य है क्योंकि, संस्कृत भाषा जो नहीं जानते हैं। विशेष रूप से जो हिंदी भाषा को जानते हैं वह अंत के अकार को नहीं बोलते। वह राम को कहते हैं राम्। रमेश्, सुरेश् यह सब हलन्त कर देते हैं और इसलिए हिंदी भाषा बोलने वालों के लिए संस्कृत का उच्चारण करना बहुत कठिन होता है क्योंकि, हिंदी भाषा का संस्कार बैठा हुआ है। सारे अकारान्त अदन्त वर्णों को हलन्त करके बोलने का जो अंत में अ हे उसको भी नहीं बोलते और जो बीच में जो अ है उसको भी नहीं बोलते। वह जनता को जन्ता कहते हैं और समता को समता कहते हैं ममता को मन्ता कहते हैं। तो इसलिए हमें संस्कृत भाषा में प्रवेश करना है। तो हमें उच्चारण पहले ठीक करना पड़ेगा और आनुपूर्वी को जान करके जो वर्ण जहां बैठा है उसका वही उच्चारण करना पड़ेगा। यह अनिवार्य है। तो जनता, जनता समता, ममता। तो ममता में छ अक्षर है, जनता में छ अक्षर हैं, समता में छ अक्षर हैं। यह जब तक नहीं मालूम होगा तो लोग कहते हैं पूरी गीता पढ़ करके बैठे हैं और जब पूछो तो पहला श्लोक पढ़ते हैं। समवेता युयुत्सवः। तो एक एक अक्षर जिस क्रम से बैठा है उस क्रम से उस सारे वर्णों का उच्चारण होना ही चाहिए। उसको लपेट के हम उनको लौकिक के समान जो बना देते हैं। उसमें संस्कृत का उच्चारण करना संस्कृत पढ़ना गेर भाषियों के लिए बहुत कठिन हो जाता है। इसलिए आनुपूर्वी को बहुत अच्छे समझना चाहिए।

तो अभी तक के विवेचन में हमने वर्णमातृका पढ़े। उसमें वर्ण जाना, जो वर्ण है उसी को हम अक्षर कहते हैं। यह दो प्रकार के हुए स्वर और व्यंजन, फिर हमने उन व्यंजनों को वर्ग में रखके पढ़ा। तो क वर्ग, च वर्ग, ट वर्ग, त वर्ग, प वर्ग इनका नाम वर्ग है और इन पांच वर्गों में रहने वाले २५ अक्षरों का नाम वर्गाक्षर है और इन वर्गों का दूसरा नाम है कु, चु, टु, तु, पु। यह हमने जाना और य, व, र, ल का नाम अंतःस्थ है। श, ष, स, ह का नाम उष्म है और कु, चु, टु, तु, पु का दुसरा नाम है उदित और के से म तक

जो वर्ण है स्पर्श हुए। य, व, र, ल अंतःस्थ हुए। श, ष, स, ह उष्म हुए और इसके अलावा अयोगवाह हमने पढे, अनुस्वार, विसर्ग, जीह्वामूलीय, उपध्मानीय और चार यम। इस प्रकार हमने लगभग 96 सोळ संज्ञाएँ जानी।

इस वर्णमातृकोओं में से कैसे बने? कैसे प्रकट हुए। तो पहले उन्होंने बनाया अ म ङ ण न म्। सब से पहले अन्तःस्थ ले लिए। फिर अ म ङ ण न म्। अ म ङ ण न म्। सूत्र कैसे बना ? तो जो पाँच वर्ण पढे हमने कु चु टु तु पु इन पाँचो वर्णों का पाँचवा, पाँचवा, पाँचवा अक्षर ले लिया। तो क ख ग घ ङ से ङ लिया। च छ ज झ ञ से लिया अ। ट ठ ड ढ ण से लिया ण और त थ द ध न से लिया न और प फ ब ब म से लिया म। पाँचो वर्ण के पाँचवे, पाँचवे, पाँचवे अक्षरों को लेकर उन्होंने बना दिया अ म ङ ण न म्। यह क्रम है, इन माहेश्वर सूत्रों की संरचना का। तो सबसे पहले अच्, सबसे पहले स्वर, स्वर के बाद हल्। उसके बाद अन्तःस्थ। अन्तःस्थ के बाद पाँचो वर्णों के पाँचवे, पाँचवे अक्षर। फिर बनाया झ भ ञ्। घ ढ ध ष। झ भ घ ढ ध। ये कौन से अक्षर है ? यह प्रत्येक वर्ण के चौथे चौथे अक्षर है। झ, च वर्ण का चौथा है। भ, प वर्ण का चौथा है। घ, क वर्ण का चौथा है। ढ, ट वर्ण का चौथा है और ध, त वर्ण का चौथा है। तो पाचों वर्णों के चतुर्थ, चतुर्थ वर्णों को लेकर के झ भ ञ्। घ ढ ध ष दो सूत्रों बनाएँ। तो पहले पांचवें, उसके बाद चौथे तो हम समझ सकते हैं कि आगे आएंगे तीसरे दूसरे पहले। उल्टे क्रम से चल रहे हैं। पाँच, चार, तीन, दो, एक के क्रम से उन्होंने वर्णों को इसके भीतर संयोजित किया। अब आया ज ब ग ङ द श्। ज ब ग ङ द ये पाँचो अक्षर अपने अपने वर्ण के तीसरे वर्ण। ज, च वर्ण का तृतीय है। ब, प वर्ण का तृतीय है। ग, क वर्ण का तृतीय है। ज ब ग ङ द। ड, ट वर्ण का तृतीय है और द, त वर्ण का तृतीय है। तो ज ब ग ङ द श् उन्होंने बनाया तो प्रत्येक वर्ण के तीसरे तीसरे अक्षर को लेकर यह माहेश्वर सूत्र बना। बने बना सूत्र भगवान शिव ने दि जिसके आधार पर व्याकरण खडा हो गया। जो सारे संस्कृत वाङ्मय का द्वार हैं। अब आये ख फ छ ठ थ उनके बाद कोइ अनुबन्ध नहीं लगाया। द्वितीय व्यंजनों को हम अलग से नहीं बोल सकते। उनको प्रथम के साथ बोलना पड़ेगा। ख फ छ ठ थ यह प्रत्येक वर्ण के दूसरे व्यंजन है। और च ट त क प। च ट त क प ये पाँच प्रत्येक वर्ण के पहले व्यंजन (अक्षर) है। इस प्रकार पहले स्वर, फिर ह—कार का, उसके बाद अन्तःस्थ, फिर पाँच, चार, तीन, दो, एक के क्रम से ये जो स्पर्श व्यंजन हैं उनको रखा और सबसे अन्त में रखे उष्म। श ष स द, ह ल्। क्योंकि भाषा में जो परिवर्तन दिखाई पढ़ते हैं वह इसी क्रम से होते हैं। कभी दूसरे व्यंजन को पहले हो जाता है कभी चौथे को तीसरा हो जाता है। यह क्रम से होता है। उन्होंने पूरी भाषाओं का लौकिक वैदिक इनका अवलोकन करके उन्होंने उनमें होने वाले परिवर्तनों को देखा, उसका अवगाहन किया और उसके आधार पर व्याकरण प्रकट हुआ।

इस तरह भारतीय ज्ञान में संस्कृत शिक्षा के वर्णों का अन्वय और समन्वय किया गया है। जो विश्व कि भाषाओं में सबसे अलग तरीके से उपलब्ध है और सर्वश्रेष्ठ है। उसीसे विश्व की सभी भाषा का ज्ञान प्राप्त होता है और वैज्ञानिक है।

पाद—टीप :-

- | | |
|------------------------------------|----------------------|
| 1. वाक्यपदीयम् — भर्तृहरिः 9.923। | 5. पाणिनीयशिक्षा—93। |
| 2. काव्यादर्श 9.3। | 6. पाणिनीयशिक्षा—22। |
| 3. अष्टाध्याय — ८.9.23(वार्तिकम्)। | 7. पाणिनीयशिक्षा—93। |
| 4. पाणिनीयशिक्षा—24। | 8. पाणिनीयशिक्षा—96। |

संदर्भ—ग्रन्थ—सूची :-

1. वाक्यपदीय— भर्तृहरि विरचितम् ,विवरणकार डॉ० शिवशङ्कर अवस्थी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी— पुर्नमुद्रित संस्करण, 2006 ई
2. काव्यादर्श— आचार्यदण्डिविरचितः, प्रकाशकः — मेहरचन्द लछमनदास, प्रथमं संस्करण—9693 ई० (वि. सं. 2030)
3. पाणिनीय शिक्षा, महर्षिपाणिनिविरचिता—'प्रभावती' हिन्दी व्याख्यासंवलिता, व्याख्याकार—डॉ. कमलाप्रसाद पाण्डेय, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी— प्रथम संस्करण : 2003 ई०

बोध : सामाजिक परिवर्तन का आन्तरिक कारक

डॉ. अनूप पति तिवारी*

सारांश :- सामाजिक परिवर्तन केवल संरचनात्मक या संस्थागत बदलावों का परिणाम नहीं है, बल्कि उसके मूल में मानवीय समझ/अर्थबोध की निर्णायक भूमिका होती है। सामाजिक चेतना, मूल्य-बोध और व्यवहार में परिवर्तन का आधार बनती है। डिल्थे, मैक्स, वेबर और समकालीन सामाजिक चिंतकों ने यह स्पष्टत कहा गया है कि सामाजिक यथार्थ को केवल कारणात्मक व्याख्या से नहीं समझा जा सकता, बल्कि उसके लिए अर्थ, अनुभव और संदर्भ आधारित समझ आवश्यक है। समझ के माध्यम से व्यक्ति सामाजिक संरचनाओं, परंपराओं और असमानताओं को अर्थ प्रदान करता है, जिससे आलोचनात्मक चेतना विकसित होती है और परिवर्तन की प्रक्रिया आरम्भ होती है यह शोध-पत्र सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को प्रमाण-शास्त्र के आलोक में विश्लेषित करता है। इस अध्ययन का केंद्रीय तर्क यह है कि सामाजिक परिवर्तन का मूल कारण केवल भौतिक परिस्थितियाँ नहीं, बल्कि वे प्रमाण हैं जिनके माध्यम से व्यक्ति सामाजिक यथार्थ को जानता, समझता और स्वीकार करता है। वस्तुतः 'समझ' ज्ञान की प्रमाणिकता और उसके आन्तरिकीकरण का परिणाम है। प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान और अर्थापत्ति जैसे प्रमाण यह स्पष्ट करते हैं कि सामाजिक यथार्थ की समझ बहुआयामी है। प्रत्यक्ष अनुभव सामाजिक पीड़ा और असमानता को प्रत्यक्ष करता है, अनुमान सामाजिक संरचनाओं के कारण-कार्य संबंध को उद्घाटित करता है, जबकि शब्द-प्रमाण (शास्त्र, परंपरा और संवाद) सामाजिक मूल्यों और मान्यताओं का निर्माण करता है। जब इन प्रमाणों का आलोचनात्मक पुनर्मूल्यांकन होता है, तब सामाजिक चेतना विकसित होती है, जो परिवर्तन की दिशा तय करती है।

बिना प्रमाणिक ज्ञान के परिवर्तन न तो टिकारू होता है और न ही मूल्य-परक। भारतीय चिंतन परंपरा में समझ / बोध / प्रज्ञा / विवेक को केवल बौद्धिक प्रक्रिया नहीं, बल्कि आन्तरिक रूपांतरण का साधन माना गया है। सामाजिक परिवर्तन की वास्तविक और स्थायी प्रक्रिया बाह्य सुधारों से नहीं, बल्कि व्यक्ति के भीतर घटित होने वाले नैतिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक परिवर्तन से आरम्भ होती है। उपनिषदों के आत्मबोध, बौद्ध दर्शन की प्रज्ञा, भगवद्गीता के स्थितप्रज्ञ और गाँधी विचार के आत्मशुद्धि सिद्धांतों का सत्व यह है कि जब व्यक्ति अपने कर्तव्य, करुणा और विवेक को समझता है, तब उसका आचरण स्वतः परिवर्तित होता है। यह आन्तरिक रूपांतरण सामाजिक स्तर पर मूल्यों, संबंधों और संस्थाओं में परिवर्तन को जन्म देता है।

कुंजी शब्द :- सामाजिक परिवर्तन, Understanding, पहचान, विमर्श, कर्ता-क्षमता।

सामाजिक परिवर्तन समाज की स्थिरता और गतिशीलता दोनों का। द्योतक है। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के आरंभिक समाजशास्त्रीय सिद्धांतों में सामाजिक परिवर्तन को प्रायः आर्थिक, तकनीकी या संरचनात्मक कारकों से समझाया गया। किंतु इक्कीसवीं शताब्दी में वैश्वीकरण, डिजिटल, तकनीक, पहचान-आधारित आंदोलनों और पर्यावरणीय संकटों ने सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा को जटिल बना दिया है। इन परिवर्तनों के संदर्भ में यह प्रश्न महत्वपूर्ण हो गया है कि परिवर्तन की वास्तविक प्रेरक शक्ति क्या है— संरचनाएँ या मानवीय समझ? जहाँ तक सामाजिक परिवर्तन की परंपरागत अवधारणा की बात है— उनमें मार्क्सवादी दृष्टि सामाजिक परिवर्तन को उत्पादन संबंधों और वर्ग-संघर्ष से जोड़ती है, जबकि कार्यात्मकतावादी दृष्टि इसे सामाजिक संतुलन और संस्थागत अनुकूलन के रूप में देखती है। इन दृष्टियों में मानवीय चेतना और अर्थबोध की भूमिका अपेक्षाकृत सीमित रही। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में कई नई बहसों इन सीमाओं को रेखांकित करती हैं। उनमें अर्थ-बोध की अवधारणा और सामाजिक परिवर्तन की दृष्टिकोण महत्वपूर्ण है—प्रसिद्ध समाजशास्त्री विल्हेम डेल्टी ने मानव विज्ञानों में बोध (Verstehen) को केंद्रीय पद्धति के रूप में स्थापित किया। उनके अनुसार मानवीय जीवन, इतिहास और संस्कृति को कारणात्मक व्याख्या से

* दर्शनशास्त्र विभाग, गया कॉलेज, गया जी, बिहार।

नहीं, बल्कि अर्थ और अनुभव के माध्यम से समझा जाना चाहिए। मैक्स वेबर ने इस अवधारणा को समाजशास्त्र में लागू करते हुए सामाजिक क्रिया के व्यक्तिपरक अर्थ को परिवर्तन की कुंजी माना। मैक्स वेबर के अनुसार सामाजिक परिवर्तन एक जटिल और बहुआयामी प्रक्रिया है, जो केवल आर्थिक कारणों से नहीं, बल्कि विचारों, मूल्यों, धर्म और सांस्कृतिक मान्यताओं से भी संचालित होती है। वेबर ने इस बात पर विशेष बल दिया कि मनुष्य के व्यवहार को केवल भौतिक हित ही नहीं, बल्कि आदर्श और वैचारिक तत्व भी प्रभावित करते हैं। इसी संदर्भ में उनका प्रसिद्ध कथन है— "Not ideas, but material And ideal interests, directly govern men's conduct." अर्थात् मनुष्य के आचरण को केवल विचार ही नहीं, बल्कि भौतिक और वैचारिक हित दोनों मिलकर नियंत्रित करते हैं।

वेबर ने अपनी प्रसिद्ध कृति *The Protestant Ethic and the Spirit of Capitalism* में यह प्रतिपादित किया कि पश्चिमी यूरोप में पूँजीवाद के विकास में प्रोटेस्टेंट धर्म की नैतिकता का महत्वपूर्ण योगदान था। उन्होंने बताया कि कैल्विनवाद जैसे धार्मिक विचारों ने परिश्रम, अनुशासन, समय की पाबंदी और मितव्ययिता को बढ़ावा दिया, जिससे आर्थिक विकास और सामाजिक परिवर्तन संभव हुआ। इस प्रकार वेबर ने यह स्पष्ट किया कि धार्मिक विचार भी सामाजिक संरचना को बदलने की क्षमता रखते हैं।

वेबर के अनुसार सामाजिक परिवर्तन की एक प्रमुख विशेषता "तर्कीकरण" है। उनका मानना था कि आधुनिक समाज में परंपरागत और भावनात्मक आधारों की जगह तर्क, नियम और वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास हो रहा है। उन्होंने कहा— "The fate of our times is characterized by rationalization and intellectualization." अर्थात् आधुनिक युग की पहचान तर्कसंगतता और बौद्धिकीकरण है। यह प्रक्रिया समाज को अधिक संगठित और नियमबद्ध बनाती है, जिससे सामाजिक परिवर्तन को गति मिलती है। इसके अतिरिक्त, वेबर ने प्राधिकरण के स्वरूप में परिवर्तन को भी सामाजिक परिवर्तन का एक महत्वपूर्ण कारक माना। उन्होंने पारंपरिक, करिश्माई और वैधानिक—तर्कसंगत प्राधिकरण के प्रकारों का वर्णन किया। जब समाज पारंपरिक व्यवस्था से हटकर वैधानिक—तर्कसंगत व्यवस्था की ओर अग्रसर होता है, तो सामाजिक संरचना में व्यापक परिवर्तन होता है। विशेष रूप से करिश्माई नेतृत्व, समाज में नई दिशा और परिवर्तन ला सकता है।

वेबर का दृष्टिकोण में सामाजिक परिवर्तन केवल आर्थिक संरचनाओं का परिणाम नहीं है, बल्कि यह विचारों, धर्म, मूल्यों और तर्कसंगत प्रक्रियाओं के सम्मिलित प्रभाव से उत्पन्न होता है। इस प्रकार वेबर ने सामाजिक परिवर्तन को एक व्यापक सांस्कृतिक और वैचारिक परिप्रेक्ष्य में समझाने का प्रयास किया, जो उन्हें अन्य समाजशास्त्रियों, विशेषतः मार्क्स से भिन्न बनाता है। नई बहसों में बोध को सामाजिक चेतना के निर्माण और परिवर्तन की दिशा तय करने वाला तत्व माना गया है। संरचना और कर्ता—क्षमता की नई बहस में एंथनी गिडेन्स का स्ट्रक्चरेशन सिद्धांत समाज और कर्ता के द्वैत को अस्वीकार करता है। उनके अनुसार संरचनाएँ कर्ता की क्रियाओं से निर्मित होती हैं और कर्ता संरचनाओं के भीतर कार्य करता है। इस दृष्टि में बोध कर्ता को सामाजिक परिवर्तन का सक्रिय घटक बनाता है।

समकालीन सामाजिक आंदोलनों में आर्थिक मांगों के साथ-साथ पहचान और सम्मान का प्रश्न प्रमुख हो गया है। एक्सेल होनैथ का रिकग्निशन सिद्धांत सामाजिक परिवर्तन को मान्यता की संघर्ष—प्रक्रिया के रूप में देखता है। मिशेल फूको के अनुसार ज्ञान और सत्ता के विमर्श परिवर्तन की दिशा निर्धारित करते हैं। इस प्रकार सामाजिक परिवर्तन अब विमर्शात्मक और सांस्कृतिक आयाम भी ग्रहण करता है। भारतीय चिंतन परंपरा में सामाजिक परिवर्तन का मूल आधार बोध (प्रज्ञा, विवेक, आत्मज्ञान) को माना गया है। यहाँ परिवर्तन को केवल बाह्य संस्थागत या विधिक सुधार के रूप में नहीं, बल्कि व्यक्ति के आंतरिक नैतिक और बौद्धिक रूपांतरण से जुड़ी प्रक्रिया के रूप में देखा जाता है।

भारतीय परंपरा में लोकहित—नाशक वृत्तियों के दोष—दर्शन तथा लोकहित—वर्धक गुणों की प्रशंसा इसी पूर्वमान्यता पर आधारित है कि मनुष्य की वृत्तियाँ ही सामाजिक परिवर्तन का कारक बनती हैं। लोकहित—नाशक वृत्तियों को आसुरी संपदा, अधर्म और तामसिक वृत्तियाँ कहा गया है, तथा लोकहित—वर्धक

गुणों को दैवी संपदा, धर्म और सात्त्विक वृत्तियाँ माना गया है। ज्ञान के प्रसंग में उल्लिखित बीस गुण तथा योगारूढ़ व्यक्तियों के लक्षण इसी संदर्भ में बताए गए हैं। तुलसीदास जी ने इसे रामराज्य तथा जगमंगल की संकल्पना द्वारा व्याख्यायित किया है। गायत्री मंत्र में भी इस संकल्प को देखा जा सकता है—

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ।

परमात्मा ही सब कुछ है— वही पृथ्वी, अंतरिक्ष और स्वर्ग है। उस भगवान का हम सूर्यदेव के तेज के रूप में ध्यान करते हैं। वह हमारी बुद्धियों को सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा दे। लोकहित की दृष्टि से गायत्री मंत्र की विशेषता यह है कि इसमें 'धीमहि' तथा 'नः' ये बहुवचन-सूचक शब्द हैं, अर्थात् यह प्रार्थना सामूहिक हित के लिए है, केवल व्यक्तिगत हित के लिए नहीं। दूसरी बात यह है कि गायत्री मंत्र में भगवान से सदबुद्धि की प्रार्थना की गई है। संक्षेप में, गायत्री मंत्र सर्वबुद्धि के माध्यम से सर्वहित की कामना करता है। सामूहिक हित की रक्षा का दूसरा दृष्टांत ऋग्वेद द्वारा दी गई चेतावनी में मिलता है— उन व्यक्तियों के लिए जो अन्य प्राणियों की उपेक्षा करके केवल अपना ही पेट भरना चाहते हैं—

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य ।

नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी ।।

यह अप्रचेता (मूर्ख) मनुष्य व्यर्थ अन्न प्राप्त करता है। मैं सत्य कहता हूँ कि यह उसके विनाश का कारण है। वह न तो अग्नि तत्त्व का पोषण करता है और न ही अपने सखा (अन्य प्राणियों) का। जो केवल अपना ही पेट भरता है, वह पाप का भागी होता है। "यह मंत्र सर्वपोषण के माध्यम से सर्वसुख-प्राप्ति का मंत्र है।

सामूहिक हित की रक्षा का तीसरा उल्लेखनीय दृष्टांत वैदिक यज्ञ में बोले गए मंत्र का वह भाग है, जिसमें द्रव्य को अग्नि में अर्पित करते समय यजमान कहता है— "इदं न मम" अर्थात् "यह मेरा नहीं है, मैं इसे अमुक देवता को अर्पित करता हूँ।"

उपनिषद् व्यक्ति को अहंकार और अज्ञान से मुक्तकर समाज के प्रति उत्तरदायी बनाता है। बुद्ध दर्शन में प्रज्ञा और करुणा के माध्यम से दुःख की सामाजिक संरचनाओं को समझने और बदलने का मार्ग प्रशस्त होता है। कठोपनिषद् तथा कई अन्य उपनिषदों का आरम्भ ही इस मंत्र से होता है— ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।

ॐ (परमात्मा) हमारा एकत्र विकास करे, हमारा एकत्र रक्षण करे। हम एकत्र पराक्रम करें। हमारा अध्ययन तेजस्वी हो। हम एक-दूसरे का द्वेष न करें। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः। भर्तृहरि ने स्वार्थ या परार्थकृद्द्वय से किसे प्राथमिकता दें और किसकी उपेक्षा करेंकृद्द्वय दो मापदण्डों के आधार पर चार प्रकार के व्यक्तियों का वर्णन किया है, जिनमें से प्रथम— अर्थात् सत्पुरुषकृद्दे हैं जो अपने लाभ को छोड़कर दूसरों को लाभ पहुँचाते हैं। नीतिशतक का यह प्रसिद्ध श्लोक इस प्रकार हैकृ

एते सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान् परित्यज्य ये ।

सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये ।।

तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये ।

ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते केन जानीमहे ।।

जो व्यक्ति अपने लाभ को छोड़कर दूसरों को लाभ पहुँचाते हैं, वे सत्पुरुष हैं। जो अपने लाभ को जोखिम में न डालते हुए दूसरों के लाभ के कार्यों में लगे रहते हैं, वे साधारण कोटि के लोग हैं। जो अपने लाभ के लिए दूसरों के हितों पर आघात करते हैं, वे मनुष्य के रूप में राक्षस हैं। जो बिना कारण, व्यर्थ ही दूसरों के हितों का हनन करते हैं, वे कौन लोग हैं— मैं नहीं जानता (अर्थात् वे राक्षसों से भी नीचे हैं, क्योंकि वे न अपना हित साधते हैं, न दूसरों का)।

भगवद्गीता में स्थितप्रज्ञ की संकल्पना यह दर्शाती है कि जब व्यक्ति कर्म के अर्थ को समझता है, तब उसका आचरण लोक-कल्याण की दिशा में उन्मुख होता है। गीता-प्रतिपादित निष्काम कर्म का वास्तविक अर्थ समझने के लिए मानव-हृदय में उठने वाली इच्छाओं को दो मुख्य वर्गों में विभाजित करना

आवश्यक है, जिनमें से एक वर्ग 'स्व' से संबंधित है और दूसरा 'सर्व' से। गीता कहती है कि 'स्व' से संबंधित इच्छा— जैसे स्वार्थ—लाभ की इच्छा— का त्याग करना निष्काम कर्म के लिए आवश्यक है। इसके विपरीत 'सर्व' से संबंधित इच्छा, जैसे सर्वलोकहित की कामना, को बनाए रखने में कोई हानि नहीं है, यदि उसके साथ अनासक्ति का आदर्श निभाया जा सके। भगवान् ने गीता के श्लोक ३.२५ के 'असक्तः' तथा 'चिकीर्षु लोकसंग्रहम्' इन दोनों शब्दों को साथ—साथ प्रयुक्त करके यह स्पष्ट कर दिया है कि सच्चा ज्ञान प्राप्त होने पर, अर्थात् विद्वान् व्यक्ति द्वारा सर्वलोकहित की इच्छा से प्रेरित होकर जनसेवा—कार्य में संलग्न रहते हुए अनासक्ति का आदर्श भी निभाया जा सकता है।

गीता में निष्काम कर्म एवं लोकसंग्रह के बीच सामंजस्य स्थापित हो जाता है। आधुनिक भारतीय चिंतन में महात्मा गाँधी ने सामाजिक परिवर्तन को आत्मशुद्धि, सत्य और अहिंसा से जोड़ा, जबकि डॉ. बी. आर. अम्बेडकर ने सामाजिक संरचनाओं के साथ—साथ चेतना—परिवर्तन की आवश्यकता पर बल दिया। इस प्रकार भारतीय दृष्टि में बोध केवल ज्ञानात्मक नहीं, बल्कि मूल्यपरक और व्यावहारिक है, जो सामाजिक परिवर्तन को स्थायित्व प्रदान करता है। समकालीन संदर्भ तकनीक और पर्यावरण से गहरे रूप में प्रभावित है। आज डिजिटल तकनीक और पर्यावरणीय संकटों ने सामाजिक परिवर्तन की नई दिशाएँ खोली हैं। सूचना की अधिकता के बावजूद समझ का अभाव नई चुनौतियाँ प्रस्तुत करता है। पर्यावरणीय न्याय और सतत विकास की बहसों सामाजिक परिवर्तन को नैतिक और वैश्विक संदर्भ प्रदान करती हैं।

स्पष्ट होता है कि सामाजिक परिवर्तन पर नई अकादमिक बहसों परंपरागत संरचनात्मक और आर्थिक निर्धारणवादी दृष्टियों से आगे बढ़कर अर्थबोध, पहचान, विमर्श और नैतिक चेतना को केंद्रीय स्थान देती हैं। डिल्थे और वेबर की व्याख्यात्मक परंपरा यह दर्शाती है कि बिना मानवीय अनुभव और अर्थग्रहण के समाज की वैज्ञानिक समझ संभव नहीं है। वहीं भारतीय चिंतन सामाजिक परिवर्तन को आंतरिक रूपांतरण, विवेक और नैतिक कर्म से जोड़कर उसे मूल्यपरक आधार प्रदान करता है। अतः समकालीन समाज में टिकाऊ और सार्थक सामाजिक परिवर्तन के लिए संरचनात्मक सुधारों के साथ—साथ मानवीय अर्थबोध का विकास अनिवार्य है। यही दृष्टि सामाजिक परिवर्तन को मानवीय, न्यायपूर्ण और दीर्घकालिक बनाती है।

संदर्भ सूची :-

1. Ambedkar, B. R. (1936). *Annihilation of Caste*. Bombay: Self-published.
2. Dilthey, W. (1988). *Introduction to the Human Sciences*. Princeton: Princeton University Press.
3. Foucault, M. (1980). *Power/Knowledge*. New York: Pantheon Books.
4. Gandhi, M. K. (1938). *Hind Swaraj*. Ahmedabad: Navajivan Publishing House.
5. Giddens, A. (1984). *The Constitution of Society*. Cambridge: Polity Press.
6. Honneth, A. (1995). *The Struggle for Recognition*. Cambridge: Polity Press.
7. Sen, A. (2009). *The Idea of Justice*. Cambridge, MA: Harvard University Press.
8. Weber, M. (1978). *Economy and Society*. Berkeley: University of California Press

मर्यादित समाज के निर्माण में श्रीरामचरितमानस की भूमिका

डॉ. राहुल मिश्र*

शोध-सार :- गोस्वामी तुलसीदास द्वारा रचित श्रीरामचरितमानस की प्रतिष्ठा धर्मग्रंथ के रूप में है, लेकिन लोक-व्यवहार से जुड़े नीति-निर्देशक तत्त्वों की व्यापक उपस्थिति इस ग्रंथ को लौकिक और मानवीय महत्त्व का बना देती है। मानस में मर्यादित जीवन से लगाकर मर्यादित समाज की संकल्पना का विस्तृत वर्णन है। इसके साथ ही विविध प्रसंगों के माध्यम से गोस्वामी तुलसीदास ने मर्यादा के वृहत्तर आयामों को संकेतित किया है। तुलसी के उपास्य श्रीराम स्वयं मर्यादा का पालन करते हैं; और मर्यादित व्यवहार, आचार-विचार आदि के कारण मर्यादापुरुषोत्तम के रूप में पूजनीय होते हैं। गोस्वामी जी की भक्तिपरक दृष्टि से इतर आधुनिक तर्कसम्मत एवं विज्ञान सम्मत दृष्टि मर्यादित समाज के निर्माण में श्रीरामचरितमानस की भूमिका को देखती है। इन अर्थों में मानस की भूमिका धर्मग्रंथ की परिधि से आगे कहीं अधिक विस्तृत और समाजपरक हो जाती है। मानस में अंतर्निहित इस वैशिष्ट्य के कारण मानस का विस्तार विदेशों तक हुआ है। इसके साथ ही श्रीरामचरितमानस के रचनाकाल से आज के समय तक विभिन्न सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं वैचारिक आदि परिवर्तनों के मध्य मानस प्रत्येक काल में, हर युग में समाज को मर्यादा, नीति-नैतिकता, लोकसंग्रह, समानता, समरसता आदि उच्चादर्शों की...मानवीय मूल्यों की सीख देता है। मर्यादित समाज की स्थापना में इन्हीं तथ्यों की भूमिका होती है। प्रस्तुत शोध-आलेख में इनके अवलोकन का प्रयास है।

बीज-शब्द :- मर्यादा, नीति-नैतिकता, समानता, विश्वधर्म, सामाजिक दायित्व आदि।

श्रीरामचरितमानस गोस्वामी तुलसीदास द्वारा रचित भक्तिपरक रचना है। हिंदी के भक्तिकाल की इस कृति को भले ही रामकथा काव्य का अद्वितीय ग्रंथ कहकर भक्तिपरक रचनाओं में वर्गीकृत कर दिया जाए, लेकिन मानस का विस्तार इससे कहीं अधिक है। गोस्वामी जी ने श्रीरामचरितमानस के माध्यम से जिस व्यापक विश्वधर्म की स्थापना की, जिस वैश्विक स्वीकार्यता की स्थापना की, उसने भारतीय ही नहीं, विदेशी विद्वानों को भी अभिभूत किया है। रूस के प्रसिद्ध विद्वान वरान्निकोव ने श्रीरामचरितमानस का रूसी भाषा में पद्यबद्ध अनुवाद किया। रेवरेण्ड एटकिन्स ने अंग्रेजी में मानस का अनुवाद किया। ये तथ्य, ये कथन उस विश्वधर्म की व्यापकता और वैश्विक स्वीकार्यता को इंगित करते हैं। यह विश्वधर्म किसी धार्मिक पद्धति या क्रियाकलाप या धार्मिक कार्य-व्यवहार से संबद्ध नहीं है। यह विश्वधर्म वस्तुतः मानवता का, नैतिकता का धर्म है। इस विश्वधर्म के केंद्र में मर्यादा के पालन व निर्वहन का भाव है। इस भाव का आधार श्रीराम के विराट व्यक्तित्व व उनकी लीलाओं (कृतित्व) से निर्मित होता है। इसी कारण श्रीराम मर्यादापुरुषोत्तम हैं। गोस्वामी जी के आराध्य श्रीराम के प्रति अनन्य भक्ति-भावना श्रीरामचरितमानस में प्रकट होती है; साथ ही व्यवहार का, व्यावहारिकता का पक्ष मर्यादित जीवन व मर्यादित समाज के माध्यम से प्रकट होता है। तुलसी के युग की भी यह अनिवार्यता थी। मानस-मीमांसा की भूमिका में कामिल बुल्के एवं दिनेश्वर प्रसाद लिखते हैं- "उनके भक्तिमार्ग की एक प्रधान विशेषता भक्ति और नैतिकता का अन्योन्याश्रय संबंध है। उनकी दृढ़ धारणा है कि सदाचरण के अभाव में भक्ति पाखण्ड मात्र है। अतः वह मानस में नैतिकता और लोकसंग्रह पर बल देते हैं। वह भक्ति के लिए काम, क्रोध आदि मनोविकारों का त्याग आवश्यक मानते हैं तथा ऐसे पात्रों का चित्रण करते हैं, जो नैतिक आदर्शों के ज्वलंत उदाहरण हैं। यही कारण है कि यह रचना आज भी करोड़ों लोगों को नैतिक बल और प्रेरणा प्रदान करती है।"¹

श्रीरामचरितमानस का सृजन-काल अनेक विषमताओं से भरा था। सामंती व्यवस्था और बादशाहशाही का समय अनेक स्तरों पर सामाजिक विघटन और अन्यायपूर्ण स्थितियों से भरा था। गोस्वामी जी ने मानस के सृजन में अपनी भक्ति-भावना के साथ ही अपने सामाजिक दायित्वबोध का निर्वहन भी

*क्षेत्रीय निदेशक, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, क्षेत्रीय केंद्र-मुंबई, नवीन पनवेल- 410 206, रायगढ़, नवी मुंबई (महाराष्ट्र)

किया। वे तत्कालीन समाज के विघटन की भयावह स्थितियों के द्रष्टा भी थे, और उसके दुष्प्रभावों के गहन अनुभूतिकर्ता भी थे। इसी कारण तुलसीदास ने व्यक्तिगत—पारिवारिक जीवन की विसंगतियों पर, धार्मिक मर्यादाओं की उपेक्षा की विषम स्थितियों पर और राजनीतिक विकृतियों पर समाधान देने का प्रयास किया। इस तरह तुलसी के उपास्य राम उनकी भक्ति—भावना की पुष्टि के साथ ही उनके सामाजिक दायित्व—बोध के निर्वहन का माध्यम भी बन जाते हैं। तुलसी अपने उपास्य के माध्यम से समाज को मर्यादित जीवन जीने की सीख देते हैं, और वह भी समाज के साथ.. लोक के साथ जुड़कर...। गोस्वामी जी ने मानस को लोक के लिए रचा, इस कारण लोक की भाषा ही मानस की भाषा बनी, साथ ही जन—जन तक विस्तार के उद्देश्य से मानस को मंच से भी जोड़ा। तुलसीदास की रामलीलाएँ इसकी साक्षी हैं। जिन लोगों के लिए मानस पढ़कर सुलभ नहीं हो सकता था, उनके लिए मानस देखकर सुलभ हुआ।

प्रसंगवश उल्लेख करना होगा, कि पुराने समय में रामलीलाओं का आकर्षण सिर चढ़कर बोला करता था। इसी आकर्षण ने उत्तरप्रदेश के हमीरपुर जनपद के एक अत्यंत सुदूरवर्ती ग्राम भरखरी के मुंशी रहमान खान को सूरीनाम का लोककवि और राष्ट्रकवि बना दिया। सरकारी विद्यालय के मुंशी रहमान खान अपने गाँव से रामलीला देखने के लिए कानपुर गए थे। वहाँ वे अंग्रेजों के चंगुल में फँस गए और ब्रिटिश उपनिवेश सूरीनाम को जा रहे गिरमिटिया मजदूरों के जहाज में उन्हें भी बैठा दिया गया। मुंशी रहमान खान के अतिरिक्त उस जहाज में कोई भी पढ़ा—लिखा नहीं था। मजदूरों के पास श्रीरामचरितमानस की पोथियाँ थीं। जहाज की यात्रा के समय दुःखी और परेशान मजदूरों को मानस पढ़कर सुनाने का काम मुंशी रहमान खान ने किया। सूरीनाम पहुँचकर वे 'कथावाचक' के रूप में प्रसिद्ध हो गए। यह प्रसंग श्रीरामचरितमानस के उस वैशिष्ट्य को रेखांकित करता है, जिसकी समाज को सदा—सर्वदा आवश्यकता होती है। भारत के बाहर सुदूरवर्ती देशों तक जाने वाले भारतवंशियों के साथ गोस्वामी जी के मानस का वैश्विक विस्तार भी यह स्पष्ट करता है, कि काल व भूगोल के बंधनों में यह कृति बँधी नहीं है।

मानस को जीवन में उतारने पर जिजीविषा, संघर्ष की चेतना और विषम स्थितियों में भी आत्म के बोध को, स्व के गौरव को जिलाए रखने का साहस मिलता है। मानस में समरसता के साथ ही सामूहिकता की भावना को धरातल पर उतारने की सामर्थ्य है। मानस के विभिन्न कथा—प्रसंगों में गोस्वामी जी ने इन विशिष्टताओं को उकेरा है। मानस के मर्मज्ञ डॉ. बलदेव प्रसाद मिश्र लिखते हैं— "हमारा दृढ़ निश्चय है कि 'रामचरितमानस' न तो काव्यकला की प्रेरणा से तैयार हुआ है न इतिहास की प्रेरणा से। यह यथार्थतः लोकहित की भावना से प्रेरित होकर निर्मित हुआ है। रामकथा और काव्यकला तो उस लोकहित की भावना के आवरण रूप हैं। इसी लोकहित की भावना के कारण गोस्वामी जी ऐसी बातें कह गये हैं जो एकत्र की जाने पर अनायास ही भक्तिशास्त्र का रूप धारण कर लेती हैं।"² लोकहित की भावना तुलसी द्वारा नीति—नैतिकता, आदर्श और मर्यादा की स्थापना के माध्यम से पुष्ट होती है। वे विषमता से भरे समाज को सही दिशा देने के लिए राम के विराट व्यक्तित्व को, उनके मर्यादापुरुषोत्तम स्वरूप को स्थापित करते हैं। मानस के अन्य पात्र तदनुरूप नैतिकता, मर्यादा व आदर्श की स्थापना में सहयोगी—सहभागी बनते हैं। मानस में रामकथा के क्रमानुसार विस्तार के साथ स्थान—स्थान पर नीति—नैतिकता और व्यवहार के अनेक पक्ष देखने को मिलते हैं। व्यक्ति से लगाकर समाज तक के लिए विभिन्न कथा—प्रसंगों के माध्यम से गोस्वामी जी ने संकेत दिए हैं।

वनवासी राम लोक के साथ अधिक निकटता से जुड़ते हैं। राम के वनगमन का प्रसंग अयोध्या के राजपरिवार का प्रसंग—मात्र नहीं बनता, अपितु यह समाज को संबंधों की मर्यादा का, त्याग और समर्पण का संदेश देता है। राजकुमार राम, जिनका राजतिलक होने वाला है, उन्हें तत्काल ही वन जाने का आदेश दिया जाता है। वे इस आदेश को स्वीकार करते हैं, हृदयंगम करते हैं। गोस्वामी जी लिखते हैं—

"नव गयंदु रघुबीर मनु राजु अलान समान।

छूट जानि बन गवनु सुनि उर अनंदु अधिकान।।"³

राजपाट गज के पैरों में पड़ी बेड़ियों के समान है और वनवास का आदेश बेड़ियों से मुक्ति का द्योतक है। बेड़ियों से मुक्त होकर राम का मन आनंदित होता है। राम को अयोध्या के राजपाट का लेश—मात्र

भी मोह नहीं है। दूसरी ओर भरत हैं, जिन्हें अयोध्या का राजपाट मिलना है। वे यह जानकर प्रसन्न नहीं होते हैं। वे माता कैकेयी को भला-बुरा कहते हैं, लेकिन राम भरत को भी समझाते हैं। भरत राम के प्रतिनिधि के रूप में अयोध्या की व्यवस्था देखते हैं। दोनों भाइयों के बीच अयोध्या के राजपाट को लेकर कोई विवाद नहीं होता है। दोनों भाइयों के अगाध प्रेम के मध्य अयोध्या की संपदा बाधक नहीं बनती है। गोस्वामी जी लिखते हैं—

“अवध राजु सुर राजु सिहाई। दसरथ धनु सुनि धनदु लजाई।
तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा। चंचरीक जिमि चंपक बागा।”⁴

अयोध्या का राज्य अपनी समृद्धि के कारण इंद्रदेव को भी ईर्ष्या में डालने वाला है। राजा दशरथ के राज्य की धन-संपदा के बारे में सुनकर धनपति कुबेर भी लज्जित हो जाते हैं। ऐसे समृद्धिशाली राज्य के प्रमुख भरत निरासक्त भाव से रह रहे हैं। जैसे चंपक के वन में भौरा निर्लिप्त-निरासक्त होकर रहता है, वैसे ही भरत रह रहे हैं। भरत द्वारा निर्लिप्त भाव से अवधि भर के लिए अयोध्या का शासन-सूत्र संचालन एक आदर्श शासक की संकल्पना की निर्मिति करता है। आज के समय में देखें, तो स्पष्ट होता है कि लोकतांत्रिक व्यवस्था में, जबकि लोक एक अवधि भर के लिए शासन का दायित्व जनप्रतिनिधि को सौंपता है, उस अवधि-मात्र में जनप्रतिनिधि कितना 'जन' के लिए और कितना 'स्व' के लिए करते/कर लेते हैं, इसका उल्लेख यहाँ करने की आवश्यकता नहीं है। भ्रष्टाचार और घोटालों से जुड़े आये दिन के समाचार इस सत्य को स्वतः स्पष्ट करते हैं।

अपनी समकालीन स्थितियों के मध्य गोस्वामी जी भरत का आदर्श रखते हैं। शासक होकर भी वे सत्ता का दुरुपयोग नहीं करते। राम और भरत के प्रेम के मध्य राजपाट, धन-वैभव आदि विषय लेशमात्र को भी नहीं आते हैं। एक शासक की मर्यादा का श्रेष्ठतम उदाहरण यहाँ प्रस्तुत होता है। इसके पूर्व चित्रकूट में भरत और वनवासी राम का मिलन हुआ था। पूरी अयोध्या ही मानों वहाँ पर एकत्र हो गई थी। पाँच दिनों तक चर्चा चली थी। भरत राम को अयोध्या वापस ले जाना चाहते थे, लेकिन राम अपने पिता द्वारा दिए गए आदेश का पालन करने के लिए अडिग थे। वे भरत को निर्देश देते हैं—

“मोर तुम्हार परम पुरुषारथु। स्वारथु सुजसु धरम परमारथु।।
पितु आयसु पालिहिं दुह भाई। लोक बेद भल भूप भलाई।।
गुरु पितु मातु स्वामि सिख पालें। चलेहुँ कुमग पग परहिं न खालें।।
अस बिचारि सब सोच बिहाई। पालहु अवध अवधि भर जाई।।”⁵

भरत-मिलाप का प्रसंग रामचरितमानस का अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रसंग है। रामलीलाओं के मंचन में यह प्रसंग अलग से रखा जाता है। राजसत्ता हो, या लोकतांत्रिक व्यवस्था... हर विधान में सर्वोच्च पदासीन व्यक्ति के आचरण पर यह प्रसंग विशेष निर्देश देता है। भरत और राम के लिए अयोध्या के राजपाट से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण सामाजिक मर्यादा का पालन है, धर्म व नीति का पालन है। इस कारण राम अपने अनुज भरत को समझाते हैं, और वह भी भरे समाज में सभी के सम्मुख उपदेशात्मक पद्धति में कहते हैं, ताकि सर्व समाज तक उनका यह संदेश प्रसारित हो सके। वे भरत से कहते हैं, कि मेरा और तुम्हारा श्रेष्ठ पुरुषार्थ, स्वार्थ, सुयश, धर्म और परमार्थ इसी में है, कि हम दोनों भाई पिता की आज्ञा का पालन करें। इसी में लोक की, शास्त्र की, और राजा की भलाई है, अर्थात् इसी में सभी का हित है। गुरु, पिता, माता और स्वामी की शिक्षा का पालन करने पर कुमार्ग जैसी लगने वाली शिक्षा में भी अहित नहीं होता है, अर्थात् हमारी समझ से अनुचित दिखने वाली दिशा वस्तुतः उचित होती है, क्योंकि उसे दिखाने वाले गुरु, पिता, माता या स्वामी हैं। इस प्रकार का विचार करते हुए निःशंक होकर अवध का निर्दिष्ट अवधि भर के लिए पालन करो। इसी क्रम में गोस्वामी जी लिखते हैं—

“मुखिया मुख सों चाहिये खान पान कहुँ एक।
पालइ पोषइ सकल अंग तुलसी सहित बिबेक।।”⁶

गोस्वामी जी के राम नेतृत्वकर्ता की मर्यादा को सोदाहरण यहाँ स्थापित करते हैं। मुखिया मुख की भाँति होना चाहिए, जो मुख की भाँति भोजन-रस ग्रहण करे, और विवेक के साथ, बिना किसी भेदभाव के शरीर के सभी अंगों का समान रूप से पोषण करे। चाहे सत्ता के शीर्ष पर आसीन मुखिया हो, या परिवार

का प्रमुख हो... यदि समानता व समरसता का व्यवहार नहीं करता है, तो अव्यवस्था और अस्थिरता उत्पन्न होती है। किसी भी प्रकार का भेदभाव मुखिया के लिए उचित नहीं है। सामाजिक मर्यादा के अनुपालन की यह प्राथमिक शर्त है। समाज के संगठनकर्ता और कुशल नेतृत्वकर्ता के रूप में राम का व्यक्तित्व उनकी प्रथम वन यात्रा में ही उभरने लगता है। समाज में समानता व नैतिक मूल्यों की स्थापना हेतु राम और लक्ष्मण गुरु विश्वामित्र के साथ जाते हैं और वन प्रांतों को राक्षसों के आतंक से मुक्त कराते हैं। इसी यात्रा में वे समाज से परित्यक्त अहल्या को उनकी प्रतिष्ठा दिलाते हैं। चौदह वर्षों की वन-यात्रा में निषादराज गुह का आत्मीय भाव, केवट की सेवकाई, चित्रकूट में वनवासियों के मध्य निवास, कोल-किरातों के साथ बारह वर्षों का समय व्यतीत कर दंडक वन की ओर प्रस्थान; वानर, भालु, रीछ आदि का संगठन श्रीराम के सामाजिक सहकार व समन्वय-सद्भाव को प्रकट करने वाले विविध प्रसंग हैं। विभिन्न वर्गों, प्रजातियों और समूहों का सार्थक एवं सकारात्मक समन्वय मर्यादित समाज की नींव रखता है।

आधुनिक तर्कसम्मत दृष्टि से यदि मानस के प्रसंगों पर विचार करें, तो स्पष्ट होता है, कि राम वनगमन और भरत-मिलाप के प्रसंगों सहित इनसे संबद्ध अन्य स्फुट प्रसंगों में परिवार और समाज के जुड़ाव और आत्मीय लगाव के मनोरम दृश्य उभरते हैं। इसी प्रकार वनवासी राम के अहल्या, केवट, निषादराज गुह, कोल-किरातों, शबरो, सुग्रीवादि वानरों, रीछों, भालुओं आदि के साथ राम का आत्मीय संबंध स्थान-स्थान पर प्रस्तुत होता है। राम की राजगद्दी के प्रसंग में सभी का अयोध्या में एकत्रित होना और रामराज्य का साकार होना सामाजिक समरसता, सौहार्द और आपसी समन्वय-भाईचारे को स्थापित करता है। मानस में प्रसंग आता है, कि लंका विजय के उपरांत समूचा रामादल अयोध्या आ गया था। राम के राज्याभिषेक के बाद वे सब अयोध्या में ही रुके रहे। उन्हें छह मास का समय बीतने का पता ही नहीं चला। गोस्वामी जी लिखते हैं— “बिसरे गृह सपनेहुँ सुधि नाही। जिमि परद्रोह संत मन माहीं।।”⁷

राम के आत्मीय भाव और उनकी सहृदयता के कारण रामादल अपने घर तक की सुधि भूल जाता है। राम का साथ-सानिध्य छोड़ने का विचार भी उनके मन में नहीं आता है। यदि व्यावहारिक रूप से इस प्रसंग का विश्लेषण करें, तो सहज ही स्पष्ट होता है, कि विपत्ति में पड़े हुए राम के लिए वानर, भालु, रीछ आदि के साथ आत्मीय और अत्यंत प्रगाढ़ संबंध रखना विवशता हो सकती थी, लेकिन महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है, कि अयोध्या का राजपाट मिलने के बाद भी राम की सहजता और सरलता कम नहीं होती है। इसी कारण रामादल उनसे अलग होने का विचार भी मन में नहीं लाता है। समाज में स्वार्थपरकता सामाजिक मर्यादा को नष्ट करती है। स्वार्थ के कारण प्रीति सभी करते हैं, लेकिन यहाँ पर निःस्वार्थ प्रेम का अद्भुत दृश्य प्रस्तुत होता है। सामाजिक समरसता का भाव यहाँ प्रकट होता है।

गोस्वामी जी ने रामराज्य का मनोरम वर्णन किया है। रामराज्य में मर्यादित आदर्श जीवन की विविध स्थापनाएँ हैं। मर्यादित समाज के लिए अनेक संकल्पनाएँ हैं। रामराज्य में दंड और भेद का कोई स्थान नहीं है, क्योंकि मानव से लगाकर मानवेतर जगत तक चहुँ ओर नीति, नैतिकता, मर्यादा व सहकार-सहअस्तित्व का भाव विद्यमान है। दंड तो केवल यतियों, योगियों के हाथ में है। भेद नृत्य की कलाओं से संबंधित है, और नर्तक समाज के पास है। रामचंद्र के राज्य में दंड और भेद की नहीं, केवल मन को जीतने की बात होती है। गोस्वामी जी लिखते हैं—

“दंड जतिन्ह कर भेद जहँ नर्तक नृत्य समाज।

जीतुहँ मनहिं सुनिअ अस रामचंद्र कें राज।।”⁸

वर्तमान की विषम स्थितियों में; जबकि परिवार और समाज जैसी संस्थाओं में दिन-प्रतिदिन असुरक्षा, विघटन, असमानता और अमर्यादित आचरणों-कार्य-व्यवहारों की बढ़ोत्तरी हो रही हो; राजव्यवस्था से लगाकर अर्थनीति तक.... नैतिकता, मानवता, समरसता, विश्व-बंधुत्व, सैद्धांतिक आदर्शवादिता और लोकमंगल की केवल बातें ही शेष रह गई हों.... तब रामराज्य की संकल्पना का कल्पनालोक जैसा लगना... एक ‘यूटोपिया’ लगना स्वाभाविक ही कहा जाएगा। यहाँ रमेश कुंतल मेघ का कथन उल्लेखनीय है। वे इसी संदर्भ को विस्तार देते हुए लिखते हैं— “कलिकाल की प्रति-व्यवस्था के रूप में तुलसी ने रामराज्य का ‘राजनीतिक दर्शन’ (फिलॉसफी) तथा सांस्कृतिक ‘यूटोपिया’, पेश की है जिसके केंद्र परब्रह्म तथा रघुवंशी

राजेश्वर श्रीराम हैं। इस दार्शनिक यूटोपिया में तत्कालीन स्वामी-सेवक-संबंधों का आदर्शीकरण दास्यभाव की भक्ति में हुआ है : स्वामी श्रीराम की पूर्ण शरणागत-वत्सलता तथा सेवक भक्त का समग्र आत्मनिवेदन के साथ पूर्ण समर्पण। श्रीराम के हिंदू सम्राटतंत्र (मोनार्की) को उन्होंने कूटनीति अथवा सैन्यवाद प्रधान न बनाकर मूलतः एक सर्वोत्तम आदर्श राज्यव्यवस्था अर्थात् लोकराज की मौलिक कल्पना में परिणत कर दिया है। उन्होंने राजा राम की नीति में दंड एवं भेद का बहिष्कार तथा 'सुख' एवं 'संपत्ति' के लौकिक मूल्यों को स्वीकार किया है। उन्होंने भारतीय नीतिशास्त्र के अनुरूप जनरक्षक (नरपति) तथा पृथ्वीरक्षक (भूमिपति) को ईश्वर-अंश मानने के बजाय जब जीव को ही ईश्वर-अंश माना तो रघुवंशी राम स्वयं परब्रह्म हो गए। प्रजा के लोकमत से वे पवित्र देश और विवेकी राजा तथा हरिभक्त प्रजा का आदर्श देते हैं। इस तरह श्रीराम स्वयं ईश्वर तथा सार्वभौम धर्म हैं। श्रीराम लोकमत तथा लोकमन, दोनों के पुंज हैं; वे ब्रह्म, सम्राट तथा लोकमत तीनों के प्रतीक हैं।⁹ डॉ. भगीरथ मिश्र का मत है, कि- "राजनीतिक दृष्टि से तुलसी के समय में 'कलियुग' की ही व्यवस्था थी, पर समाज में उन्होंने 'रामराज्य' की पूरी व्याख्या की। जिसका प्रभाव आज भी, हमारी ग्राम समाज की पढी तथा अर्ध-शिक्षित जनता के आदर्श एवं त्यागमय व्यवहारों में देखा जाता है। स्त्री-समाज में आज भी कितनी ही प्रशिक्षित किंतु आदर्श माताएँ हैं, जो राम के द्वारा स्थापित आदर्श और मर्यादा की पग-पग पर रक्षा करती हैं। महात्मा तुलसीदास स्वयं 'रामराज्य' में रहे और सभी को खरे कलियुग के बीच 'रामराज्य' की व्यवस्था करने की विधि भी बता गये।"¹⁰ रामराज्य का आधार मर्यादित जीवन, मर्यादित व्यवहार और व्यक्ति से लगाकर परिवार तथा समाज तक मर्यादित, संयमित जीवन-दृष्टि है।

समग्रतः, श्रीरामचरितमानस भारतीय संस्कृति, भारतीय आदर्श, नीति-नैतिकता, मर्यादा व लोकसंग्रह-लोकरक्षा का समेकित पुंज है। यह ग्रंथ भले ही अपने धार्मिक पक्ष के कारण भक्ति-भावना के केंद्र में हो, लेकिन व्यावहारिक जीवन की अनेक शिक्षाएँ इस ग्रंथ को जीवन-पथ का प्रदर्शक बनाती हैं। इसी कारण देश में ही नहीं, विदेशों तक इस ग्रंथ का विस्तार होता है। विश्वभर के आस्थावान जनों के लिए यह ग्रंथ मार्गदर्शक है, प्रेरक है। गोस्वामी जी अपने आराध्य श्रीराम के प्रति अपनी भक्ति-भावना को प्रस्तुत करने के साथ ही अपने समकालीन समाज की विषम स्थितियों को देखते-समझते हुए मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम का आदर्श देते हैं। वे मर्यादा, नैतिकता, समरसता, सहजता, शालीनता और लोकरक्षण हेतु संलग्नता के लिए 'मानस' को मानस में उतारने का संदेश देते हैं।

"भव भेषज रघुनाथ जस सुनिहिं जे नर अरु नारि।

तिन्ह कहँ सकल मनोरथ सिद्ध करहिं त्रिसिरारि।।"¹¹

संदर्भ सूची :-

1. बुल्के, कामिल एवं प्रसाद, दिनेश्वर, भूमिका, मानस-कोमुदी, अनुपम प्रकाशन, पटना, सं. 1979, पृ. 23-24,
2. मिश्र, डॉ. बलदेव प्रसाद, प्राक्कथन, तुलसी-दर्शन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं. 1967, पृ. 04-05,
3. गोस्वामी तुलसीदास कृत श्रीरामचरितमानस, लोकभारती टीका, योगेंद्रप्रताप सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम सं. 1999, अयोध्याकांड, 51, पृ. 386,
4. वही, अयोध्याकांड, 6-8/324, पृ. 587,
5. वही, अयोध्याकांड, 3-5/315, पृ. 581,
6. वही, अयोध्याकांड, 315, पृ. 581,
7. वही, उत्तरकांड, 1/16, पृ. 853,
8. वही, उत्तरकांड, 22, पृ. 859,
9. मेघ, रमेश कुन्तल, मानस चतुश्शती के मौके पर गोष्ठी का प्रवर्तक पत्र, तुलसी : आधुनिक वातायन से, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, सं. 2007, पृ. 38,
10. मिश्र, भगीरथ, तुलसी का राज्यादर्श, तुलसी रसायन, साहित्य भवन (प्रा.) लिमिटेड, इलाहाबाद, सं. 1970, पृ. 119-120,
11. गोस्वामी तुलसीदास कृत श्रीरामचरितमानस, लोकभारती टीका, योगेंद्रप्रताप सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम सं. 1999, किष्किंधाकांड, 30, पृ. 668।

भक्ति साहित्य में जीवनबोध और मूल्य चिन्तन

डॉ. प्रमोद शंकर पाण्डेय *

भारतीय संस्कृति की धारा वैदिक काल से आज तक अनवरत रूप से प्रवाहित होती आ रही है। यह सांस्कृतिक प्रवाह काल के व्यवधान से कभी बाधित नहीं हुआ, बल्कि किंचित युगानुरूप परिवर्तन के साथ निरंतर बना रहा। समयानुरूप परिवर्तन भारतीय संस्कृति की एक ऐसी विशेषता रही है, जिसने भारतीय परम्परा को सदा नवोन्मेष प्रदान किया है।

दक्षिण भारत में ही भक्ति का प्रादुर्भाव हुआ। आचार्य शंकर केरल में जन्मे थे। नयनार एवं आलवार संतों का महत्वपूर्ण योगदान भक्ति के स्वरूप की स्थापना में और आम जन तक इसे पहुँचाने में रहा। नयनार संतों, जो शिव भक्त थे, ने भगवान शिव के प्रति निष्ठापूर्ण प्रेम, समर्पण, जाति प्रथा का विरोध, जाति भेद से उठकर शिव भक्तों की सेवा पर बल देने जैसे उपदेश दिये। 6वीं से 9वीं सदी के मध्य तमिलनाडु में इन संतों ने भक्ति के मार्ग को सर्वसुलभ बनाया। नयनार संत, जिनकी कुल संख्या 63 है, ने अपने त्यागमय जीवन से और अपने उपदेशों से जनता को सरल जीवन जीने को प्रेरित किया। अप्पार (तिरुनावक्करसर), संबंदर, सुन्दरार व मणिक्कवकार आदि नयनार संतों की रचनाओं में से लगभग 800 भजनों को संग्रह के रूप में प्रकाशित किया गया, जिसे 'तिरुमुराई' कहा जाता है। इस ग्रंथ को 'तेवारम' भी कहा जाता है, जिसका अर्थ है – 'शिव के लिए मालाएँ'। इन नयनार संतों में समाज के सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व था – कूण पांडियन (राजा), येनाथिनथर (सेनापति) के साथ नेसा (बुनकर), कनमपुल्ला (घास काटने वाले), अनया (चरवाहे), कन्नापन (आदिवासी) के साथ कराईकल अम्मायर एवं मंमायार्करासियार आदि महिलायें भी सम्मिलित थीं। इस प्रकार नयनार संतों ने अपने जीवन से समाज में समरसता का संदेश दिया।

आलवार संत विष्णु के भक्त थे। आलवारों की संख्या 12 थी और उन्होंने तमिल भाषा में अपने उपदेश दिये। नयनारों की ही भाँति आलवार संतों ने भी जाति और वर्ग के भेद से मुक्त होकर सभी के लिये भक्ति को सुलभ बनाया। नम्मालवार, कुलशेखर, मधुरकवि आलवार, आण्डाल (महिला) आदि संतों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से जन-मन में भक्ति भाव की स्थापना की। आलवार संतों ने लगभग 4000 गीत रचे जिन्हें ग्रन्थ 'नालाइयरा दिव्य प्रबंधम्' नाम से संकलित किया गया। आलवार संत भी भिन्न जातियों में पैदा हुए किन्तु अपनी भक्ति के कारण समादृत हुए। इन संतों के अनुसार संतों का अपना अलग कुटुंब होता है, जो सदा भगवान के साथ तादात्म्य स्थापित कर उनके नाम का संकीर्तन करता रहता है। वास्तव में नीच वही है, जो भगवान नारायण की पूजा प्रेमपूर्वक नहीं करता है।

भक्ति का जो स्वरूप दक्षिण भारत के इन आरंभिक संतों द्वारा निर्धारित हुआ, उसे परवर्ती काल के वैष्णव भक्ति के प्रतिष्ठापक आचार्यों द्वारा दार्शनिक स्वरूप प्रदान किया गया। आचार्य रामानुज द्वारा प्रवर्तित विशिष्टाद्वैत, आचार्य मध्व द्वारा प्रतिपादित द्वैत एवं विष्णुस्वामी और उनके शिष्य वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित शुद्धाद्वैत तथा आचार्य निम्बार्क द्वारा प्रतिपादित द्वैताद्वैत दर्शन ने भक्ति के स्वरूप को स्पष्ट किया। इन आचार्यों द्वारा न केवल भक्ति को दार्शनिक स्वरूप प्रदान किया गया बल्कि उसे व्यावहारिक धरातल पर भी उतारा गया और जन-सामान्य के मन में भक्ति की भावना को जगाने का कार्य संपन्न किया गया। इन सभी आचार्यों के विचारों में किंचित मतभेद अवश्य रहा लेकिन जाति एवं वर्ण के बंधनों से मुक्त भक्ति की सर्वसुलभता, भक्ति की श्रेष्ठता एवं श्रेष्ठ जीवन मूल्यों का उपदेश सभी ने दिया।

दक्षिण भारत से प्रारंभ हुआ यह भक्ति आंदोलन उत्तर की ओर आगे बढ़ते हुए सर्वप्रथम महाराष्ट्र पहुँचा। महाराष्ट्र के संतों द्वारा लोकभाषा मराठी का आश्रय लेते हुए अपनी शिक्षाओं को, भक्ति भावना को

जनता तक पहुँचाने का कार्य किया गया। संत ज्ञानेश्वर की कृतियों में 'ज्ञानेश्वरी', 'अमृतानुभव', 'चांगदेव पासष्ठी', 'संत अभंग' महत्वपूर्ण हैं। 'ज्ञानेश्वरी' या 'भावार्थ दीपिका' मराठी भाषा में लिखी गई श्रीमद्भगवद् गीता की टीका है। यह ग्रंथ मराठी की सबसे प्राचीन एवं लिखित पुस्तक है, जिसमें 9000 छंद हैं। इस ग्रंथ ने भक्ति आंदोलन के कई मराठी संतों जैसे संत नामदेव तथा संत तुकाराम आदि को प्रेरणा प्रदान की। व्यापक प्रभाव एवं महत्ता के कारण इसे 'माउली' या माता का दर्जा प्रदान किया गया। ज्ञानेश्वर ने अध्यात्म ज्ञान की महत्ता स्थापित करते हुए सर्वसाधारण के लिए सुलभ भक्ति मार्ग का प्रतिपादन किया। नीच कुल में जन्म लेने के कारण सामाजिक दृष्टि से हीन माना जाने वाला मनुष्य भी ईश्वर के यहाँ समान आश्रय पाता है। भगवान केवल कठोर न्यायाधीश ही नहीं अपितु सहज वत्सल पिता भी हैं, उनकी दृष्टि में माता सी करुणा है। संत ज्ञानेश्वर के ऐसे उपदेशों से महाराष्ट्र में भक्ति का मार्ग प्रशस्त हुआ। संत ज्ञानेश्वर ने कई संतों और कवियों को प्रेरित किया, अतः इन्हें महाराष्ट्र संस्कृति का आद्य प्रवर्तक भी माना जाता है।

संत ज्ञानेश्वर के समकालीन संत नामदेव पहले सगुण भक्त थे और बिठोवा (विह्वल भगवान) की आराधना करते थे। बाद में उन्होंने एक नाथपंथी साधु खेचरनाथ से दीक्षा ली और निर्गुण भक्ति को अपनाया। संत नामदेव पहली बार भक्ति को उत्तर भारत की ओर ले जाते हैं। संत ज्ञानेश्वर की समाधि के पश्चात् संत नामदेव पंजाब की ओर गए और गुरदासपुर के धोमान में नाथपंथ की स्थापना की। नामदेव ने मराठी में करीब 6000 अभंग रचे, जिन्हें 'सकल संतगाथा' और 'मुखबानी' में संकलित किया गया है। 'गुरु ग्रंथ साहिब' में भी नामदेव के 61 पद प्राप्त होते हैं। नामदेव ने कबीर से भी पहले निर्गुण भक्ति को प्रतिष्ठित किया। अपने उपदेशों में नामदेव ने व्रत, तीर्थ आदि बाह्याडंबरों की उपेक्षा की। भगवन्नाम का महत्त्व एवं सद्गुरु के प्रति आदरभाव नामदेव के पदों में प्राप्त होता है— "हिंदू अंधा तुरकौ काना, दुवौ ते ज्ञानी सायाना।/हिंदू पूजै देहरा, मुसलमान मसीद।/नामा सोई सेविया, जँह देहरा न मसीद।"¹ "हरि नांव हीरा हरि नांव हीरा। हरि नांव लेत मिटै सब पीरा।/हरि नांव जाती हरि नांव पाती। हरि नांव सकल जीवन में क्रांती।"²

संत तुकाराम महाराष्ट्र के एक अन्य प्रमुख संत हैं, जिनके अभंगों ने मराठी जनमानस को प्रभावित किया। संत तुकाराम ने 5000 अभंगों की रचना की, जो 'गाथा' शीर्षक से संगृहीत है। संत तुकाराम ने भी कण— कण में उसी परमेश्वर का वास माना, जो सबका मंगल करते हैं— "विष्णुमय जग वैष्णवांचा धर्म। भेदाभेद भ्रम अमंगळ।"³ संत तुकाराम ने समाज में नैतिक मूल्यों की स्थापना का प्रयास अपनी रचनाओं के माध्यम से किया है— "पराबिया नारी माउली समान। मानिलिया धनकाये वेचे।/न करिता परनिंदा परद्रव्य अभिलासा काय यास वेचे तुमचे सांगर।"⁴ अर्थात् परस्त्री को माँ के समान मानने में तुम्हारा क्या धन खर्च होता है। दूसरों की निंदा न करो और न ही दूसरों के धन की अभिलाषा करो। ऐसा करने में तुम्हारा क्या खर्च होता है सो कहो। अन्य भक्त कवियों की भांति तुकाराम ने भी भक्ति को किसी भी प्रकार के सामाजिक बंधन से मुक्त और सर्वसुलभ स्वीकार किया— "ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र चांडाळाही अधिकार।/ वाळे नारी नर आदि करोनि वेश्या ही।"⁵ अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, चांडाल, वेश्या, स्त्री, पुरुष बच्चे सभी को भक्ति का अधिकार है।

कर्नाटक में बसवन्ना ने भक्ति आंदोलन को एक नई दिशा दी। बसव ने स्थानीय कन्नड़ भाषा को अपनाया और अपने संदेशों को जनता तक पहुँचाया। बसव द्वारा प्रेरित आंदोलन जिसे 'वीरशैव' नाम से जाना जाता है, का उत्स तमिल भक्ति परंपरा विशेष रूप से नयनार में सन्निहित है। बसव ने मंदिर में की जाने वाली पूजा एवं धार्मिक परंपराओं को नकार दिया। इसके स्थान पर उन्होंने भक्तों द्वारा व्यक्तिगत स्तर पर की जाने वाली शैवोपासना को स्थापित किया। बसव ने भी प्रत्येक काल के प्रत्येक व्यक्ति में भगवान शिव की उपस्थिति को स्वीकार किया। बसव ने मनुष्य शरीर को ही मंदिर के रूप में स्वीकारा। बसव ने अपनी रचनाओं में स्त्री और पुरुष के मध्य समानता और घनिष्ठ सामाजिक संबंधों की पैरवी की। समाज में प्रेम, एकत्व और समता का उपदेश दिया। उन्होंने दृढ़तापूर्वक जाति व्यवस्था को नकारा, उच्च और निम्न वर्ण के विचार को खारिज किया। बसव ने स्त्रियों को समान अधिकार देते हुए उन्हें प्रार्थना करने, मन्त्र जप करने, तीर्थयात्रा करने, ईश्वर की उपासना करने और पुरुष के साथ कंधे से कंधा मिलाकर काम करने की

अनुमति प्रदान की। बसव ने कायका की अवधारणा दी, जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को जीविकोपार्जन हेतु न केवल श्रम करना चाहिए, बल्कि इसे ईश्वर को समर्पित भी करना चाहिए। बसव के उपदेश आत्म-परिष्कार और आत्म-विकास के साथ ही सामाजिक सुधार पर भी बल देते हैं— “चोरी न करो, हत्या न करो/ झूठ न बोलो, क्रोध न करो/ दूसरों का अपमान न करो, आत्मश्लाघा न करो/ दूसरों पर दोषारोपण न करो/ केवल ये ही तुम्हारे अंतरंग और बहिरंग की शुद्धि करेंगे/ और ये ही हमारे भगवान को प्रसन्न करने के उपाय हैं।”⁶

बसवेश्वर को भारत का पहला स्वतंत्र चिंतक स्वीकार किया जाता है। आर्थर मिल्स ने अपनी पुस्तक ‘द लैंड ऑफ लिंगम’ में लिखा है — “बसव के बारे में जो भी कथाएँ प्रचलित हों, एक बात तो पूर्णतः सत्य है कि वह भारत का पहला स्वतंत्र चिंतक था जिसे भारत का लूथर कहा जा सकता है।”⁷ इसी प्रकार सर जेम्स कैम्पबेल की भी टिप्पणी है — “भारत के वर्तमान काल के समाज सुधार बसव के विचारों की शरण लेते हैं और उनकी भाषा बोलते हैं।”⁸

असम में शंकरदेव ने ‘महापुरुषिया’ संप्रदाय की स्थापना की। भक्ति मार्ग में जिस प्रकार आराध्य के प्रति भक्ति एवं पूर्ण समर्पण की प्रतिष्ठा की गयी, ठीक वैसे ही शंकरदेव ने एक ही ईश्वर (महापुरुष) के प्रति सम्पूर्ण समर्पण का उपदेश दिया। ‘एक देव, एक सेव, एक वीन नै केव’ अर्थात् एक ईश्वर, एक आश्रय कोई और नहीं केवल एक। शंकरदेव इस पूर्ण समर्पण को प्रतिष्ठित करते हुए अन्य देवी देवताओं की भक्ति को त्याज्य बताते हैं। इसी कारण उनके द्वारा प्रवर्तित भक्ति मार्ग को ‘एकसरन’ (एकशरण) नाम दिया गया। शंकरदेव ने विपुल साहित्य सृजन किया। शंकरदेव ने संस्कृत में भक्ति प्रदीप, भक्ति रत्नाकर आदि ग्रन्थ लिखने के साथ संस्कृत के भक्ति विषयक ग्रंथों रामायण, भागवत आदि के अंशों का असमिया में अनुवाद करने के साथ विविध भक्त चरित, भक्तों के जीवन प्रसंगों पर असमिया भाषा में काव्य सृजन किया। उनकी ऐसी कृतियों में रुक्मिणी हरण, गजेन्द्र उपाख्यान, अजामिल उपाख्यान, गोपी— उद्धव संवाद आदि प्रमुख हैं। शंकरदेव ने अपनी रचनाओं में भक्ति की प्रतिष्ठा के साथ ही भक्तों की महिमा का भी वर्णन किया है। अन्य संतों की भाँति भक्ति उनके लिए भी मुक्तिदायी है और प्रत्येक मनुष्य को सहज प्राप्य है। जाति और वर्ण के बंधन से मुक्त प्रत्येक व्यक्ति भक्ति का अधिकारी है। प्रत्येक भक्त महिमावान है क्योंकि उसके हृदय में ईश्वर की भक्ति और जिह्वा पर प्रभु का नाम होता है—

“सीतो चण्डालका गरिष्ठ मणि।यार जिह्वाग्रे थके हरि वाणी।

एहिसे कुलीन वेदक बुजे:। यहाँ मुखे हरि नाम सिजे।”⁹

राजस्थान में मीराबाई ने कृष्ण भक्ति के काव्य राजस्थानी भाषा में रचे। मीराबाई यद्यपि सगुण भक्त थीं लेकिन उनके गुरु रैदास (रविदास) निर्गुण भक्ति के मार्ग के पथिक थे। यही कारण है कि मीराँ की कविताओं में निर्गुण संतों की भाँति धर्म—कर्म के बाह्याडंबरों का निषेध भी प्राप्त होता है—

“भज मन चरण कँवल अवणासी।

जेताई दीसा धरण गगन माँ, तेताई उठ जासी।

तीरथ बरतो गयाणां कथंता, म्हाँ लयाँ करवत कासी।

यो देही रो गरबु णा करणा, माटी माँ मिल जासी।”¹⁰

निर्गुण संतों की भाँति मीराँ भी जीवात्मा और परमात्मा की मौलिक एकता को स्वीकार करती हैं और मानती हैं कि उनके और उनके प्रियतम ईश्वर में कोई अंतर नहीं है। वह उसी हृदय में अवस्थित है, जिसमें सारा ताप है, द्वंद्व है, प्रेम है, विरह का रोग है। इस रोग का वैद भी उसी हृदय में वास करता है।

“जा घट बिरहा सोई लखि है।, कै कोई हरिजन मानै हो।

रोगी अंतर वैद बसत है, वैद ही ओखद जाणै हो।”¹¹

मीराँ का महत्त्व इस मायने में बहुत ज्यादा है कि मध्यकाल में उन्होंने स्त्री की मुक्ति का, रूढ़िवादी समाज के बंधन के विरुद्ध विद्रोह का पथ चुना। जाहिर है कि उस दौर में मीराँ ने बहुत सारी सामाजिक बाधाओं को, दमन को स्वीकार किया, लेकिन भक्ति के मार्ग को छोड़ा नहीं। इस मायने में मीराँ ने स्त्री चेतना के आधुनिक उभार से भी बहुत पहले स्त्री मुक्ति का कंटकाकीर्ण पथ अपनाया था। यही नहीं विद्रोही मीराँ ने शासन सत्ता का विरोध भी निर्भीक होकर किया। मीरा का जीवन एक स्वतंत्रचेता नारी का जीवंत

उदाहरण है। मध्यकालीन जीवन मूल्यों को नकारने का साहस उनमें भरपूर भरा था। समाज के श्रेष्ठतम कुलीन राजपरिवार की वधू होने के बाद भी उन्होंने अछूत रैदास को अपना गुरु सहर्ष स्वीकार किया, जो अपनी जाति और पेशे को स्वीकारते हुए कहते हैं—

“नागर जनां मेरी जाति बिखिआत चमारं।

मेरी जाति कुट बांठला ढोर ढोवंता, नितहि बानारसी आसपासा।”¹²

रैदास ने भी अपनी रचनाओं में जीव मात्र की एकता को स्वीकार किया है और सबका सिरजनहार एक ही ईश्वर को स्वीकार किया है—

“एकै माटी के सब भाँड़े, सभ का एकौ सिरजन हारा।

रविदास व्यापै एकौ घट भीतर, सभकौ एकै घड़ै कुम्हारा।।”¹³

संत रविदास ने मनुष्य मात्र की समता को स्वीकार किया है और धर्म, वर्ण, जाति आदि के भेद को अस्वीकार किया है। “रविदास देखिया सोधि करि आदम सभी समान।

हिन्दू मुसलमान कउ, स्त्रिष्टा इक भगवान।।”¹⁴

संत रविदास की भक्ति समाजविमुख नहीं है, बल्कि उनमें समाज की चिंता विद्यमान है। वह मनुष्य मात्र के जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की आपूर्ति की, प्रसन्नचित्त जीवन का कामना करते हैं —

“ऐसा चाहौं राज मैं, जहाँ मिले सबन को अन्न।

छोट बड़ो सभ सम बसै, रैदास रहें प्रसन्न।।”¹⁵

गुजराती कवि नरसी मेहता ने भी सरल और सहज भक्ति के मार्ग को दर्शाया है। उन्होंने सरल, सहज जीवन का संदेश देने के साथ ही मनुष्य की चारित्रिक दृढ़ता का संदेश दिया है।

“शुं थयुं तप ने तीरथ कीधा थकी, शुं थयुं मालग्रही नाम लीधे?

शुं थयुं तिलक ने तुलसी कार्या थकी, शुं थयुं गंगाजल पान कीधे?

शुं थयुं वेद व्याकरण वाणी वचे, शुं थयुं राग न रंग जाण्ये ?”¹⁶

सम्पूर्ण भारतवर्ष में प्रवाहित भक्ति आंदोलन का समग्र विश्लेषण करने से हमें यह बोध होता है कि सुदूर दक्षिण भारत के केरल, तमिलनाडु से लेकर उत्तर भारत तक, पूर्व में असम से लेकर पश्चिमी सीमा के गुजरात, राजस्थान तक यह आंदोलन विस्तृत था। महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि सभी संतों ने प्राणी मात्र की समानता, जीव को ईश्वर का अंश मानने, जाति, वर्ण, ऊँच-नीच के भेद को स्वीकार न करने, भक्ति को सर्वसुलभ बनाने, सच्चरित्र जीवन जीने, दूसरों को कष्ट न देने आदि उच्च जीवन मूल्यों का संदेश दिया है। चाहे वह नयनार, आलवार संत हों या मराठी कवि संत ज्ञानेश्वर, संत नामदेव, संत तुकाराम हों या कर्नाटक के बसवन्ना हों या असम के शंकरदेव, हिन्दी के निर्गुण भक्त कवि रैदास आदि हों या राजस्थान की मीराँ या फिर गुजरात के नरसी मेहता, इन सभी संतों की कविता और उपदेशों में निहित जीवन-मूल्यों में आशातीत साम्यता है। इन भक्तों ने लोकभाषा में अपने उपदेश दिए और पूरे भारत की जनता को सदाचार का सन्देश दिया। यही उच्च जीवन मूल्य भारत की सांस्कृतिक परंपरा में, आम जनमानस में विद्यमान हैं और भारत की जनता में आज भी उच्च जीवन मूल्यों के प्रति आदर और सर्वमान्य स्वीकार्यता है।

संदर्भ सूची :-

1. वैष्णव धर्म और दर्शन — पं. रघुवीर सिंह शर्मा
2. संत नामदेव — राधास्वामी सत्संग, व्यास
3. नामदेव रचनावली — गोविन्द रजनीश
4. Biography of Dnyaneshwar, V.V. Shirvaikar
5. Basavanna: India's First Free Thinker, Lankesh Gauri
6. सन्त तुकाराम, हरि रामचंद्र दिवेकर
7. सन्त तुकाराम, डॉ. हरिकृष्ण देवसरे
8. सन्त रविदास, इन्द्रराज सिंह
9. गुरु रविदास — काशीनाथ उपाध्याय
10. मीराबाई की संपूर्ण पदावली, रामकिशोर शर्मा
11. मीराँ ग्रन्थावली — कल्याण सिंह शेखावत
12. Sankaradev and Neo-Vaishnavism in Assam, Bhuyan Abhijit
13. नरसिंह मेहता, मंगल, गीता प्रेस
14. परम वैष्णव नरसिंह मेहता, पन्नालाल पटेल

आदिवासी चिन्तन की दृष्टि एवं सृष्टि

डॉ. योगेश कुमार तिवारी*

आदिवासी शब्द जैसे ही हमारे सामने आता है, वैसे ही एक ऐसे मानव समुदाय का चित्र हमारे मस्तिष्क में उभरता है; जो जंगल, पहाड़, पठार आदि दुर्गम स्थानों में निवास करते हैं तथा जिनकी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक स्थिति अन्य सभी से भिन्न होती है। ये अन्य समुदायों की अपेक्षा अति पिछड़े एवं उपेक्षित रहे मध्य भारत और पूर्वी राज्यों में इनका घनत्व सर्वाधिक है। भारत के आदिवासियों को आज संवैधानिक रूप में जनजाति कहा जाता है। इससे पहले ये कई नामों से पुकारे जाते रहे हैं। जैसे— 'लोग जो धर्म से आदिवासी है' (1891 की जनगणना); 'जंगली' (1901 की जनगणना); 'जंगली जन' (1911 की जनगणना); 'पहाड़ी और आदिवासी' (1921 की जनगणना); 'आदिम जन' (1931 की जनगणना); 'आदिवासी' (1941 की जनगणना); और 1951 से 'जनजाति'। वैश्विक परिवर्तन में आदिवासी समूह को प्रिमिटिव (आदिम), एबॉरिजिनल्स (देशज), इंडिजिनस (देशज), सेवेज (जंगली), नेटिव (मूलनिवासी), ट्राइब (आदिवासी) और भारतीय परिप्रेक्ष्य में इन समुदाय को जंगली, आदिमजाति, वन्यजाति, आदिवासी, वनवासी, गिरीजन, आरण्यक, जनजाति आदि शब्दों से संबोधित किया गया है। इन शब्दों की पड़ताल करने पर यह बोध होता है कि इन शब्दों में दो ही अर्थ परिलक्षित हैं; जिसमें कुछ शब्द 'आदि समय' का और कुछ शब्द 'आदिम अवस्था' का बोध कराते हैं। आदिवासी शब्द एक ऐसा शब्द है जो 'आदि समय' से और 'आदिम अवस्था' दोनों अर्थों का सही-सही प्रतिनिधित्व करता है। इसमें इंडिजिनस और ट्राइब दोनों शब्दों से ध्वनित होने वाला अर्थ समाहित है। आजादी के बाद भारतीय संविधान का निर्माण हुआ; जिसमें आदिवासी समुदायों के लिए 'अनुसूचित जनजाति' नाम प्रस्तावित किया गया; जो भारतीय संविधान के अनुच्छेद 342 के अनुसार स्वीकार किया गया है।

प्राचीनकाल में भारत की जनजातियां या तो अपने हिन्दू पड़ोसी के साथ समझौता कर लिया या फिर वे जंगली और पहाड़ी क्षेत्रों में बसनें चले गए। लम्बी अवधि तक हिन्दू पड़ोसी के सम्पर्क में रह रही भारतीय आदिवासी एक हद तक अपने आपको हिन्दू संस्कृति में सम्मिलित कर लिया था। प्राचीन आदिवासियों के कुछ प्रतीक हम आज भी देख सकते हैं। प्राचीन भारत में एक मत्स्य गणराज्य हुआ करता था और इस राज्य का नामकरण, वहां पाई जाने वाली एक आदिवासी समुदाय 'मत्स्य' के नाम पर हुआ था। आधुनिक काल की 'मीना जनजाति' को इसी मत्स्य आदिवासी का ही वंशज माना जाता है।¹ हमारे प्राचीन धर्मग्रंथों में भी कुछ मूल निवासियों का जिक्र किया गया है, जैसे— किरात, कोल, भील, कीरी, बानर, असुर, निषाद, मत्स्य आदि।

मुस्लिम शासकों के पहले तक आदिवासी समाज अपने स्वशासन द्वारा निर्देशित और नियंत्रित होती थी; जिसमें उनकी सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक और आर्थिक नीति शामिल थी। मुसलमानों के आने से पहले छोटानागपुर में नागवंशी राजा— मुण्डा तथा उरांव के प्रमुख रूप से हुआ करते थे। सोलहवीं सदी के अंत में उन्हें मुगल शासकों द्वारा आदिवासियों व उनके मुखियों को तंग किया जाना प्रारम्भ हो गया। 1564 में मुगल सेना ने गढ़ को अपने अधीन कर लिया और अन्त में गोंडो को मुगल सम्राटों की सत्ता स्वीकार करनी पड़ी। उन्होंने छोटा नागपुर व अन्य क्षेत्रों के उरांव, मुंडा तथा हो आदिवासियों के ऊपर आतंक फैलाया। इसके बाद तो सामाजिक, सांस्कृतिक हमले होते रहे और 1585 में मुसलमान शासकों द्वारा केवल मालगुजार बना दिया गया। 1765 में मुगल बादशाह शाह आलम द्वितीय ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी ईस्ट इण्डिया कंपनी को सौंपी तो मध्य भारत के आदिवासी क्षेत्र अंग्रेजों के अधिकार में आ गए। पश्चिम भारत में भील, मीणा, मध्य भारत में गोंड के साथ उनका संघर्ष सर्वविदित है। मुगलों ने अपनी दक्षिण विजय के समय इनका उपयोग किया, जिसके चलते वे दक्षिण पठार पर बस गये। मुगलों की इस्लामी नीति के कारण बहुत

*हिन्दी विभाग, शासकीय तुलसी महाविद्यालय, अनूपपुर (म.प्र.)

से आदिवासियों ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया, पर उन्होंने अपनी आदिवासी विशिष्टता नहीं छोड़ी। 'मुगल शासकों के पहले तक आदिवासी अपने स्वशासन द्वारा नियंत्रित तथा निर्देशित होती थीं। लेकिन सोलहवीं सदी के अन्त में उन्हें मुसलमान शासकों द्वारा उत्पीड़ित किया जाने लगा। अंततोगत्वा उन्हें अपना स्वशासन त्यागना पड़ा।' पश्चिम भारत के भील भी मुसलमान तथा मराठा आक्रमणकारी से काफी आन्दोलित रहें। मध्यकाल में वृहदस्तर पर भीलों का धर्मान्तरण मुसलमानों के रूप में हुआ। मध्य भारत के गोंड आदिवासियों को भी इस प्रकार की स्थिति का सामना करना पड़ा। 1780 तक प्रायः सभी गोंड राजवंशों की सत्ता का अन्त हो गया था।

भारत में अंग्रेजों का आगमन व्यापारिक उद्देश्य से हुआ। अपने इस उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए अंग्रेजों ने आदिवासी क्षेत्रों में प्रवेश करने का भरसक प्रयास किया; लेकिन आदिवासियों ने अपने परंपरागत निवास स्थान में किसी प्रकार के अतिक्रमण को सहन नहीं कर सकीं और आदिवासी असंतोष की खुली अभिव्यक्ति के रूप में सशस्त्र विद्रोह किया। अंग्रेज इस चाल में अपने को पिछड़ता हुआ देखकर अपनी इस नीति को बदली और आदिवासियों क्षेत्रों को विनिमय मुक्त घोषित कर उनकी परम्परागत प्रशासनिक प्रणाली को मान्यता प्रदान कर आदिवासियों से समझौता कर लिया; लेकिन दूसरी ओर अंग्रेजों ने मिशनरियों के माध्यम से इनका धर्मांतरण कराने का काम किया। अंग्रेजों के शासनकाल में जनजातियों को ईसाई धर्म में परिवर्तन की समस्या को भी झेलना पड़ा। ईसाई धर्म प्रचारकों को अंग्रेज शासकों का पूर्णतः सहयोग प्राप्त था। ईसाई धर्म प्रचारक शिक्षा एवं स्वास्थ्य सेवा के नाम पर जनजातीय क्षेत्रों में गए तथा उन्हें ईसाई धर्म में परिवर्तित कर उनका धार्मिक एवं सांस्कृतिक शोषण किया, दूसरी तरफ ठेकेदारों, बिचौलियों, जमींदारों, राजस्व व पुलिस अधिकारियों के नए शोषक वर्ग ने मिशनरियों के साथ मिलकर आदिवासियों का खूब आर्थिक और शारीरिक शोषण किया जिससे उनकी परंपरागत सामाजिक, सांस्कृतिक व आर्थिक प्रणाली में बाधाएं उत्पन्न हुईं। ब्रिटिश शासनकाल में जनजातीय ग्रामीणों को भी जमींदारी प्रथा के अन्तर्गत लाया गया तथा उन पर कर लाद दिए गए। जमीन से कर वसूलने के लिए जमींदारों की नियुक्ति की गई। जमींदारों द्वारा ठेकेदारों, जागीरदारों, दरबारियों की नियुक्ति की गई। जमींदारों और उनके लठैतों द्वारा जनजातियों का भरपूर शोषण तथा उत्पीड़न किया गया। धीरे-धीरे उनकी उपजाऊ जमीनों पर नए अप्रवासियों द्वारा कब्जा कर लिया गया। ब्रिटिश शासनकाल में जनजातीय भूमि तथा जंगल को अधिग्रहण करने का प्रयास किया गया था। जनजातीय समाज की राजनैतिक व्यवस्था को भी छिन्न-भिन्न करने का प्रयास किया गया था। खुशहाल जिंदगी बिताने वाली आदिवासी शोषण के कारण यथार्थ रूप से दरिद्रता की शिकार हो गए। जमींदारों और महाजनों ने अंग्रेजों की सहायता से लगान वसूलने के कारण इनका जमकर शोषण करना प्रारम्भ कर दिया। जिसकी परिणित 1771-1780 में पहाड़िया विद्रोह के रूप में देखने को मिलती है।

आधुनिक युग में जब अंग्रेज शासक सर्वप्रथम छोटा नागपुर में प्रवेश किया तो उन्हें यहाँ के आदिवासियों के जोरदार विरोध का सामना करना पड़ा; लेकिन बाद में अंग्रेज शासकों के साथ छोटा नागपुर में अनेक प्रकार के ठेकेदारों का आगमन भी प्रारम्भ हो गया। इन बाहरी लोगों के द्वारा जनजातियों का शोषण किया जाने लगा। जंगलों में ब्रिटिश सरकार तथा ठेकेदारों का अधिकार हो गया और जंगलों पर जनजातीय स्वायत्तता समाप्त हो गया। वन ठेकेदार वन उपज का अधिकांश हिस्सा ले जाने लगे और जब इन लोगों ने आदिवासियों की परम्परागत व्यवस्था को तार-तार करना प्रारम्भ किया तो आदिवासियों में अपने शोषकों के खिलाफ विद्रोह की ज्वाला प्रज्वलित हो उठी। इसी कारण 1831-32 में महान 'कोल विद्रोह' अस्तित्व में आया परन्तु इस विद्रोह को दबा दिया गया; लेकिन इसके परिणाम स्वरूप 1833 का 'विनियमन-13' को पारित किया गया। छोटानागपुर को गैर-विनियमन क्षेत्र घोषित किया गया। यह अंग्रेजों की प्रथम जनजातीय अलगवाव नीति थी। 1846 का खोंड आन्दोलन, 1854 का संथाल आन्दोलन तथा 1869-70 का धनबाद विद्रोह जिससे गैर-विनियमन व्यवस्था को और विस्तार एवं मजबूती प्राप्त हुई। इसके बावजूद 1887 में सरदारी विद्रोह, 1895 में बिरसा आन्दोलन तथा 1914 में ताना भगत आन्दोलन हुआ। इन आन्दोलनों का अन्तिम परिणाम यह रही कि इन्हें बलपूर्वक शांत कर दिया गया। अतः आदिवासियों में विद्रोह तो बहुत हुए पर आत्मसम्मान के लिए कहीं कोई विद्रोह नहीं देखने को मिलता है। इसके विषय में प्रो० वीर भारत तलवार

लिखते हैं कि 'यह जो एक आत्मसम्मान की भावना है, यह आत्मसम्मान का आन्दोलन एक ऐसा आन्दोलन है जिसकी आदिवासियों को सख्त जरूरत है। आदिवासियों में विद्रोह तो बहुत हुए— कभी औपनिवेशिक शोषण के खिलाफ, तो कभी सामन्ती शोषण के खिलाफ। लेकिन आत्मसम्मान का वह आन्दोलन नहीं हुआ जो उनको आत्मगौरव प्रदान करें और उनकी अस्मिता की रक्षा के लिए उनको खड़ा होना सिखाये।'

आजादी के उपरान्त आदिवासी समाज को संवैधानिक अधिकार प्रदान किए गए। भारतीय संविधान में आदिवासी विकास हेतु सुरक्षात्मक नीति और विकासात्मक नीति पर विशेष जोर दिया गया। भारतीय संविधान में आदिवासियों के लिए सुरक्षात्मक व्यवस्था तब तक के लिए गई जब तक वे सामान्य स्तर नहीं प्राप्त कर लेते और देश की मुख्य धारा से नहीं जुड़ जाते। दूसरा विकासात्मक नीति के तहत पंचवर्षीय योजनाओं में तरह-तरह के कार्यक्रमों का सूत्रीकरण और क्रियान्वयन किया गया; लेकिन जब विकास के क्रम में बाहरी लोगों का प्रवेश आदिवासी क्षेत्रों में हुआ, तब आदिवासी समाज बाहरी लोगों के सम्पर्क में आए। गैर आदिवासी समाज का इनके क्षेत्रों में अनाधिकार प्रवेश किया और इन्हें इनके परम्परागत संसाधनों से विलग कर दिया। इस प्रक्रिया में आदिवासियों की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और राजनैतिक व्यवस्था में परिवर्तन होना शुरू हो गया। जस्टिश मार्कंडेय काटजू व ज्ञान सुधा मिश्र की खण्डपीठ की इस टिप्पणी से स्पष्ट है—'यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि आज आदिवासी, जो कि संभवतः भारत के मूल निवासियों के वंशज हैं, अब देश की आबादी के 9 प्रतिशत बचे हैं। वे एकतरफ गरीबी, निरक्षरता, बेरोजगारी, बीमारियों और भूमिहीनता से ग्रस्त हैं। वहीं दूसरी तरफ भारत की बहुसंख्यक जनसंख्या जो कि विभिन्न अप्रवासी जातियों के वंशज हैं, उनके साथ भेदभावपूर्ण व्यवहार करती है।' इसलिए आदिवासियों ने अपने शोषण और उत्पीड़न के खिलाफ कई आन्दोलन किए। उनके आन्दोलनों को या तो सैन्य शक्ति से कुचल दिया गया या फिर झूठे आश्वासन देकर सामाप्त करवा दिया गया। इसका प्रतिफलन यह हुआ कि कुछ आदिवासी हिंसक संगठनों की ओर चले गए। जिनके दमन के नाम पर आदिवासियों को आज भी शारीरिक और मानसिक शोषण जारी है। अन्ततः अध्ययन एवं चिन्तन के बाद यह कहा जा सकता है कि आदिवासी के रहन-सहन, हाव-भाव, आचार-विचार, धार्मिक विश्वास व संस्कार आदि में कोई विशेष अन्तर नहीं है। वह प्रत्येक सदी में छला व सताया गया मनुष्य है, जिसे एक सोची समझी साजिश के तहत जंगलों की तरफ खदेड़ दिया गया; जो अपनी स्वतंत्र परम्परा सहित हजारों सालों से दूर जंगलों में रहने के लिए विवश है। जब आदिवासी समाज आया तो वह अपनी संस्कृति और परम्पराओं के साथ अपनी भाव-भंगिमाओं को लेकर आया है; क्योंकि आदिवासी एक विशेष पर्यावरण में अपने सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यों को हर कीमत में संजोकर रखना चाहते हैं। वह प्रकृतिनिष्ठ और प्रकृति निर्भर मनुष्य है; जो भोजन की तलाश में मारा-मारा भटकने वाला शिकारी मनुष्य बनकर रह गया है। उसके वर्तमान जीवन में लाचारी, अभावग्रस्त व पशुवत् जीवन जीने के अलावा कुछ नहीं दिखता है। वस्तुतः आदिवासी का अर्थ जो आदिम युग से अपने मूल प्रदेशों और क्षेत्रों में अपनी मौलिक स्थिति और परिस्थितियों के साथ निवासरत है। सभी आदिवासियों के आचार-विचार, रहन सहन, संस्कृति, मान्यताएं और परम्पराएं परस्पर भिन्न-भिन्न हैं; लेकिन इन भिन्नताओं के बावजूद भी इनके सामाजिक-सांस्कृतिक विकास की कुछ समानताएं देखने को मिलती हैं।

वर्तमान में आदिवासियों की संस्कृति संरक्षण की बात की जाती है। आदिवासियों के पास सांस्कृतिक विरासत ही शेष बची है और इसी के बल पर वे अपनी अस्मिता और अस्तित्व को बचाए रखने में सक्षम हुए। आदिवासी समाज सदियों से अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं, मान्यताओं के साथ जीवन-यापन कर रहा है किन्तु आदिवासी समाज की संस्कृति को छेड़े जाने के कारण उसे अपने 'स्व' का बोध होने लगा है। 'कहा जाता है कि किसी समाज को अगर तोड़ना है तो सबसे पहले उसकी भाषा, संस्कृति पर हमला करो। आज यह सिद्धांत हमारे बीच के लोग हम पर आजमा रहे हैं। बारीकी से देखा जाए तो आज हमारे बीच से तथाकथित बुद्धिजीवी और सभ्रान्त लोगों का एक वर्ग है जो हमें हमारे वर्ग से अलग करने में जुटा है, तो दूसरी तरफ कुछ लोग हमारी संस्कृति को तोड़-मरोड़ कर हमें दिग्भ्रमित कर रहे हैं।' और कुछ विद्वान का मानना है कि प्रगति और विकास की धारा में शामिल होने के लिए आदिवासी समाज की मौलिक संस्कृति में परिवर्तन होना चाहिए; क्योंकि आदिवासी समाज ने अपनी मौलिक संस्कृति को बचाने में अपने समाज का मार्ग अवरूद्ध कर

लिया है। इसका प्रतिउत्तर देती हुई निर्मला पुतुल कहती हैं कि 'आज हम जब अपने अस्मिता का सवाल उठाते हैं और उससे जुड़े सवालों को लेकर संघर्ष करते हैं तो हमें विकास विरोधी कहा जाता है। लेकिन हम तथाकथित सभ्य समाज और सभ्रांत लोगों से पूछना चाहते हैं जो हमारी अस्मिता के सवालों को विकास विरोधी बताकर हमें हाशिए पर टेलने की कोशिश करते हैं कि वह हमारा विकास चाहते हैं।' आदिवासी समाज के प्रति मुख्यधारा के प्रबुद्धलोगों को उनकी अस्मिता और संस्कृति से कोई विशेष मतलब नहीं है। परन्तु वर्तमान में वह आदिवासियों से जुड़ी समस्याओं में इसलिए रुचि ले रहे हैं कि आधुनिक समाज का रवैया आदिवासियों के प्रति कुछ सकारात्मक हुआ है।

आदिवासी समाज में अस्मिता और अधिकारों के प्रश्नों के प्रति चेतना जागृत हुई है। वर्तमान में आदिवासी अस्मिता और अधिकारों के जो प्रश्न उठाए गए तो उनमें अलग-अलग दृष्टिकोण सामने आए। पहला दृष्टिकोण यह है कि आदिवासियों की परम्परा और संस्कृति से कोई छेड़छाड़ न किया जाए लेकिन इसका आशय यह नहीं कि उनका विकास न किया जाए। आदिवासी संस्कृति और परम्पराओं को संरक्षित करते हुए यदि विकास का प्रावधान किया जायेगा तो सार्थक है। इस तरह उनकी अस्मिता और अस्तित्व में किसी भी प्रकार का आंच नहीं आयेगी। दूसरा दृष्टिकोण यह है कि आदिवासियों को विकास के विभिन्न लाभ देते हुए समाज की मुख्यधारा से उन्हें जोड़ा जाए। आदिवासी समाज की सांस्कृतिक परम्पराओं को इस दृष्टिकोण से खतरा है; क्योंकि यदि मुख्यधारा से ये समाज जुड़ेगा जो उसकी संस्कृति और परम्पराओं के खत्म होने की संभावनाएं अधिक प्रबल हो जायेगी। आदिवासी समाज अपनी संस्कृति और परम्पराओं को बचाए रखना चाहता है। उनकी लोक संस्कृति में ही उनके जीवन-मूल्य निहित है और वह उन्हें जीवित रखने का हर संभव प्रयास कर रहा है। आधुनिकता की इस गति में आदिवासी संस्कृति और परम्पराओं का क्षरण हुआ है। आदिवासी अध्ययन का एक मुद्दा यह भी बन जाता है कि किस प्रकार आदिवासी सांस्कृतिक मूल्य, जीवन दर्शन व मान्यताओं को संरक्षित किया जाए।

आदिवासी समाज में मौखिक साहित्य देखने को मिलता है। मौखिक साहित्य में लोकगीत, लोककथा, पहेलियां और कहावतें मुख्य हैं। लोकगीतों, लोककथाओं, पहेलियों और कहावतों का उद्देश्य मात्र मनोरंजन नहीं रहा, इनके माध्यम से अनुभवों का आदान-प्रदान, मानवता की शिक्षा, सद्कर्म का महत्व तथा अनुचित कर्म से दूर रहने का संदेश दिया जाता रहा है। इनके मौखिक साहित्य में खान-पान, रहन-सहन, रीति-रीवाज तथा सम्पूर्ण जीवन दर्शन का समावेश देखने को मिलता है। मौखिक साहित्य परम्परा में आदिवासी जीवन दर्शन की अभिव्यक्ति है जो भावनात्मक प्रवृत्ति का पोषक होने के साथ साथ उनके स्वरूप का प्रतिनिधित्व करता है। आदिवासी जीवन मूल्य प्रमुख रूप से प्रकृति से लगाव, स्वछंदता, आवश्यकता से अधिक संग्रह न करना, एकान्तिक जीवन जीने की प्रवृत्ति, के साथ कर्तव्यनिष्ठ, ईमानदारी, सच्चाई, वचन का पक्का होना, सेवा की भावना, श्रम के प्रति निष्ठा, क्षमा और पशु प्रेम देखने को मिलता है। उनमें स्वाभिमान की कमी नहीं होती है। स्वाभिमान की रक्षा करने के लिए अपने प्राणों की बाजी लगा देते हैं। अब प्रश्न उठता है कि ये सब जीवन मूल्य उनमें कहां से आए; क्योंकि उनकी कोई आचार-संहिता भी नहीं है। अगर मूल में जाकर देखा जाए तो आदिवासियों में ये जीवन मूल्य उनकी वंश परम्परा और शेष वातावरण से आते हैं। उनकी लोक संस्कृति में ही आदिवासी समाज के जीवनमूल्य निहित हैं और वह उनको बचाए रखने के लिए हर संभव प्रयास करता है। आदिवासियों का कोई लिखित साहित्य भले ही न हो। उनके बीच प्रचलित मौखिक साहित्य ही उनकी आचार संहिता है। उनके इस मौखिक साहित्य (पुरखा साहित्य) को पिछले पांच दशकों से कलमबद्ध करने का शिलशिला शुरू हुआ; जो वर्तमान में काफी जोर शोर से लिखा जा रहा है। कुछ आदिवासी लेखक दूसरों के द्वारा अपनी पीड़ा की अभिव्यक्ति पर अपनी कलम की ताकत को पहचानने लगे हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि आदिवासी लेखकों ने हिन्दी भाषा में अपना साहित्य लिखने लगे, जो स्वयं आदिवासी होकर आत्मानुभूति के द्वारा साहित्य का सृजन कर रहे हैं। अपनी भावुक, मानसिक स्फूर्ति, चेतना एवं जीवन्तता को प्रवाहमान बनाए रखने के लिए अन्य प्राणियों की भांति आदिवासियों ने भी साहित्य और कला को माध्यम बनाया है जिसमें भावों, विचारों और अनुभूतियों को संजोया गया है इनके जीवन में हुए उथल-पुथल, पूर्व से लेकर वर्तमान काल तक सभ्यता और संस्कृति का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है। गीतों में

इनकी कोमल भावनाएं, कहानियों में जिज्ञासाएं, आस्थाएं, विश्वास एवं उक्तियों में अनुभूतियां सहज रूप में प्रकट होती हैं।

संस्कृति के तत्वों में से एक महत्त्वपूर्ण तत्व है – धर्म; जो आदिवासी समाजों से लेकर गैर-आदिवासी समाजों तक सभी में पाया जाता है। धर्म एवं संस्कृति में पारस्परिक संबंध है। अपने धर्म से प्रेरित होकर न केवल मनुष्य जीता है बल्कि उसमें सम्मान तथा आत्मविश्वास भी पैदा होता है। सभी आदिवासियों का भी आदि धर्म 'सरना धर्म' है। वह पूर्ण रूप से प्रकृति से जुड़ा है और उसी के सान्निध्य में जीवन-यापन करता है। इसलिए वह प्रकृति पूजक है। आदिवासी समाज अपने पर्वों में प्रकृति के प्रतीक स्वरूप पेड़-पौधों, फूल-पत्तियों, नदी-झरनों आदि की पूजा करते हैं। प्रत्येक आदिवासी समाज के अपने अपने धार्मिक कर्मकाण्ड होते हैं। जिसमें आचार-विचार, व्यवहार, विधि-विधान, जन्म-मृत्यु के संस्कार, पर्व-त्योहार, उनकी पारम्परिक भेष-भूषा, और खान-पान को सम्मिलित किया जाता है। आदिवासी जीवन और उनकी संस्कृति ने साहित्य की अभिव्यक्ति को प्रभावित किया है क्योंकि संस्कृति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य की अभिव्यक्ति और स्वरूप बदलते रहते हैं। वे आर्थिक रूप में पिछड़े हो सकते हैं, उन्हें सांस्कृतिक रूप से पिछड़ा कहना विकास की हमारी एक खास अवधारणा की ही देन है, जहाँ उन्हें भोलेपन और सरलता के कारण पिछड़ा हुआ समझा जाता है। आदिवासियों की अपनी संस्कृति है, उनकी अपनी परम्पराएं-मान्यताएं हैं, और उनके अपने जीवन मूल्य हैं। उनमें से बहुत कुछ हमारी संस्कृति के मुकाबले कहीं अधिक मानवीय एवं संवेदनशील हैं। 'आज की सभ्यता को अपने इन विकृत प्रयोगों के रास्ते, बेकार लम्बी दूरी तय करने के बाद, फिर पीछे लौटकर संसार को मिटने से बचाने के लिए मानवता की जिस मंजिल पर पहुँचना पड़ेगा, वह पवित्र मंजिल आदिवासियों के लिए अपेक्षाकृत निकट है।' अतः आदिवासी जीवन मूल्यों को जीवन्त रखना मानव कल्याण के लिए अति आवश्यक है। आदिवासी प्रकृति पर निर्भर रहने वाला मानव समूह है। वह जिस पर्यावरण में रहता है; उसका संरक्षण करना उसके संस्कारों में निहित होता है। उनके व्रत-अनुष्ठान, पर्व-त्योहार, शादी-ब्याह और जन्म से लेकर मृत्यु तक के सभी संस्कार प्रकृति के सान्निध्य में ही सम्पन्न होते हैं। इसलिए उनके मानव मूल्य प्रकृति के साहचर्य से निर्मित होकर प्रकृति के संरक्षण तक पहुँचती है। इनकी परम्परागत सामाजिक संस्कृति, आचार-विचार, रीतियां, नियम-कानून की जानकारी एक पीढ़ी को हस्तांतरित करने के लिए सामुदायिक केन्द्रों (युवागृह) की परम्परा देखने को मिलती है। जिन्हें विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग नामों से जाना जाता है। तराई क्षेत्रों में भूटिया आदिवासी युवागृह को 'रंगबंग' कहते हैं, भुइयां आदिवासी इसे 'घसरवासा', बिरहोर इसे 'गितिआरों', गोड़ इसे 'घोटुल' और उरांव इसे 'धुमकुरिया' कहते हैं। यह युवा गृह आदिवासियों की सामाजिक और सांस्कृतिक संस्था है। इस युवा गृह का उद्देश्य सामाजिक जीवन की शिक्षा प्रदान करना है। जिसके अन्तर्गत रहन-सहन, आचार-विचार, संस्कृति, परम्परा, रीति-रिवाज आदि की गहन जानकारी प्रदान की जाती है। परन्तु यह दुर्भाग्य है कि संस्कृति और परम्परा को सहेजने वाली ये संस्थाएं आज अपनी अन्तिम सांसे लेती हुई नजर आ रही हैं।

संस्कृति में अनुकूलन, सन्तुलन एवं संगठन का गुण विद्यमान होता है। संस्कृति जड़ एवं स्थिर नहीं होती, उसमें गतिशीलता का गुण विद्यमान रहता है। एक ऐतिहासिक घटना यह कि जब रोहतास के किले में मुगलों के आक्रमण का प्रतिकार करते हुए उराँव वीरों ने अपना सब कुछ न्यौछावर कर दिया था। नारियों ने पुरुष वेश धारण करके भयंकर युद्ध लड़ते हुए तीन बार विजय प्राप्त की थी। उपर्युक्त ऐतिहासिक घटना का जिक्र राकेश कुमार सिंह ने अपने कृति 'जो इतिहास में नहीं है' में किया है। 'हठी पठानों ने जब रोहतास दुर्ग को घेर लिया तो चौकन्ना हुई उराँव स्त्रियाँ। शत्रु चढ़ आया था। नशे में बेसुध डोलते पुरुषों से कोई आशा नहीं थी। स्त्रियों ने साहस संजोया उराँव स्त्रियों के प्रबल प्रतिरोध ने पठानों को किले की प्राचीर के पास भी नहीं फटकने दिया। हर प्रयास विफल रहा। हर बार उराँव स्त्रियाँ उन्हें पहाड़ से नीचे उतर जाने के लिए विवश करती रहीं।' इस विजय का स्वाभिमानी प्रतीक के रूप में अपने माथे पर तीन बिंदिया लगाने का रिवाज उराँव स्त्रियों के बीच बन गया और प्रत्येक बारह वर्षों में उराँव स्त्रियाँ पुरुष वेश धारण कर शस्त्र लेकर शिकार के लिए निकलती हैं, जिसे 'जनीशिकार' कहते हैं और धीरे-धीरे यह परम्परा बन गई कि 'अपनी पराजय और विस्थापन को भी प्रकृति पूजक वनवासियों ने अपने सर्व शक्तिमान देवता

‘सिंगबोगा’ की इच्छा मानकर सिर माथे ले लिया था। सिगनी देई, कइली देई और चम्पू देई नहीं रहीं तो उराँव समाज का स्त्रियों ने उन तीनों सरदारियों की स्मृति को अमरत्व प्रदान कर डाला। उराँव स्त्रियों ने गोदने की तीन बिंदियां धारण करने की परम्परा डाली। रोहतक गढ़ की पराजय का पर्व मनाया जाने लगा, जिसे ‘जनीशिकार’ पर्व कहा गया। इस पर्व में पुरुषों की उपस्थिति वर्जित है।

आदिवासी समाज के विषय में मान्यता है कि ये तंत्र-मंत्र में विश्वास करने वाले अंधविश्वासी लोग हैं, इनमें वैज्ञानिक चेतना नहीं है। आदिवासी समाज इस वैश्वीकरण के दौर में भी सामाजिक, धार्मिक रूढ़ियों से जकड़ा हुआ है। शताब्दियों से उनके पूर्वज जो परम्पराएं, रूढ़ियाँ और मान्यताएं मानते आ रहे हैं, वे उन्हीं को आज भी कहीं न कहीं पकड़े हुए दिखाई दे रहे हैं। आदिवासी क्षेत्रों में तंत्र-मंत्र, ओझाई, टोना-टोटका, ‘टोन्ही’ डायन प्रथा आदि अंधविश्वास एवं रूढ़िवादिता प्रचलित हैं। ऐसी धारणा आदिवासी समाज के लिए नई नहीं है। ये बातें आदिवासी समाज के पिछड़ेपन को उजागर करती हैं। इसलिए आदिवासी परम्परा में झाड़-फूंक, अंधविश्वास आदि देखने को मिलता है। प्रायः सभी आदिवासी जादू-टोने में विश्वास करते हैं। जादू टोने का प्रयोग रोग दूर करने, फसल बढ़ाने, उसकी रक्षा करने और दुश्मनों को नष्ट करने में किया जाता है। इनकी मान्यता है कि जंगल में चरते हुए पशुओं की रक्षा भी जादू से की जा सकती है। बलि-पूजा, ओझा-गुनी आदि का जिक्र लगभग सभी उपन्यास में आता है। ‘बलि’ आदिवासियों के धार्मिक जीवन में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। देवताओं, पितरों की आत्माओं और अन्य शक्तियों को प्रसन्न करने या प्रायश्चित्त करने के लिए ये बलि का विधान करते हैं। मुर्ग, सुअर, बकरे आदि को ये बलि की वस्तु के रूप में प्रयोग करते हैं।

आदिवासी समाज का जिस प्रकार धर्मान्तरण किया गया, यह सर्वविदित है। ईसाई मिशनरीज आदिवासी क्षेत्रों में आकर शिक्षा और स्वस्थ की बुनियादी जरूरतों को पूरा करने का प्रयास किया और शिक्षा का प्रचार-प्रसार किया। शिक्षा और स्वस्थ के आधार पर मिशनरियों ने अपनी पैठ आदिवासी क्षेत्रों में बनाई और धीरे-धीरे इन क्षेत्रों में तरह-तरह प्रलोभन देकर धर्म परिवर्तन का कार्य प्रारम्भ किया। इसी कारण कुछ क्षेत्रों के आदिवासियों का ईसाई धर्म में धर्मान्तरण हुआ है। आदिवासी समाज में धर्म परिवर्तन के कारण उन्हें अच्छी शिक्षा-दीक्षा तथा रोजी-रोटी तो मुहैया हुई है; किन्तु उनके स्वतंत्र अस्तित्व, संस्कृति और परम्परा को जड़मूल से समाप्त करने में महती भूमिका का निर्वहन भी करती है। ईसाई धर्म प्रचारकों ने भी आदिवासी संस्कृति के साथ छेड़छाड़ किया। धर्मान्तरण के कारण इस समाज में अनेक विसंगतियां उत्पन्न हो गई हैं, और वर्तमान में वह इसका सामना करता दिखाई पड़ता है। धर्म को मस्तिष्क और आत्मा दोनों से समझना चाहिए क्योंकि मस्तिष्क और आत्मा दोनों को संतुष्ट करना धर्म की कसौटी होती है। धर्म का अनुशरण अन्धे होकर करना मूर्खता है और धर्म के मर्म को समझे बगैर उसके लिए लड़ना या उसको त्याग करके दूसरा धर्म अपना लेना भी सवर्था गलत ही है। किसी भी समाज की पहचान उसकी बोली, भाषा, संस्कृति और धर्म से की जाती है। इसके बिना कोई भी समाज जीवित नहीं रह सकता है। आदिवासी समाज इन्हीं संकटों से गुजर रहा है। आखिर ऐसे कौन-कौन से कारक हैं; जिनके कारण इनकी भाषा, संस्कृति, परम्पराएं आदि नष्ट होने के कगार पर खड़ी है। इन तथ्यों को सम्पूर्ण भारतीय समाज के सामने लाने का कार्य प्रायः सभी साहित्यकार कर रहे हैं। साहित्य में आदिवासी संस्कृति और दर्शन के साथ साथ उनके जीवन में उत्पन्न हो रही समस्याएं, जूझने के शक्ति, प्रतिरोध आदि देखने को मिलता है। आदिवासी साहित्य के आधार में ये ही तत्व हैं।

प्रत्येक समाज या समुदाय की सामाजिक, सांस्कृतिक और भौगोलिक परिवेश, मानवीय जीवन मूल्य और जीवन दर्शन के आधार पर ही उनकी एक अपनी विचारधारा विकसित होती है; जो उन्हें व्यवस्थित और सकारात्मक विकास की ओर ले जाती है और जब विकास की योजनाएं उनकी विचारधाराओं के अनुकूल नहीं होती तो वह विकास की ओर अग्रसर न होकर विनाश के पथ की ओर अग्रसर हो जाती है। इससे सिद्ध होता है कि विकास की सफलता विचारधारा के अनुरूप सफल नीतियों के कारण और विनाश की परिणित विचारधाराओं के प्रतिकूल होने के कारण होती है। इसलिए विकास की योजनाओं और नीतियों को उस विचारधारा के अनुरूप बनाए जाने के प्रयासों के बिना समुचित विकास संभव नहीं हो सकता है। आदिवासी

के सामने एक नया संकट है विस्थापन। उन्हें उस गांव घर से विस्थापित होना पड़ता है; जिससे न जाने कितनी स्मृतियां जुड़ी होती हैं, जो उन्हें उनके अस्तित्व का एहसास कराती है। दरअसल विस्थापन की पीड़ा को समझ पाना इतना आसान नहीं है। अपने पूर्वजों के साथ और जिनके स्नेह की छाया में वे जीवन व्यतीत करते हैं, तथाकथित विकास के नाम पर वह एहसास पूर्वजों की स्नेहिल छाया उनसे छीन ली गई। विस्थापन ने केवल इनकी जमीन ही नहीं छीनी, इनका रोजगार छीन भी लिया और साथ ही इनको सम्मान एवं गौरवपूर्ण जीवन जीने के अधिकार से भी वंचित कर दिया। जिस जंगल में आदिवासियों को जीवन मिला और वहीं जीवन का पहला पाठ सीखा, आज उसी जंगल से उसे निवारित किया जा रहा है। विस्थापन के उपरान्त ज्यादातर लोग रोजी-रोटी की तलाश में देश के बड़े-बड़े शहरों की ओर चले जाते हैं। ये विस्थापित आदिवासी शहरों में भवन निर्माण में दिहाड़ी मजदूर के रूप, रिक्शा चालक के रूप, कूड़ा कचरा बीनने वालों के रूप में नजर आते हैं। इन लोगों का संपर्क धीरे-धीरे अपने गांव-घर से छूट जाता है। जब कोई गाँव उजड़ता है, जंगल नष्ट होते हैं तो केवल आर्थिक और पर्यावरण संबंधी क्षरण भर नहीं होता है, बल्कि मनुष्य की संस्कृति, परम्पराओं, जीवन मूल्यों का भी क्षरण होता है। उनके ससान, जाहेर थान, सरना आदि धार्मिक आस्था के केन्द्र छूट जाते हैं, साथ ही उनके सामाजिक केन्द्र 'घोटुल' जैसी संस्थाओं से दूरियां बढ़ जाती है। आदिवासी संस्कृति की पहचान में घोटुल जैसी संस्थाओं का विशेष महत्व रहा है। आधुनिक शिक्षा, ज्ञान-विज्ञान का प्रभाव घोटुल जैसी संस्थाओं में पड़ा और ये संस्थाएं वर्तमान में नगण्य होती चली जा रही हैं। ऐसे में उनका प्रतिरोध स्वाभाविक ही है। जिससे आदिवासियों में अलगाववाद की भावना जागृत हुई। आदिवासी समाज स्वच्छंद और चिन्ता मुक्त होकर जीवन जीने की कला जानते हैं; परन्तु विस्थापन स्वरूप उनके जीवन में हुए बदलाव से आज वह चिन्तामुक्त की जगह चिन्तायुक्त दिखाई दे रहे हैं। उनका उन्मुक्त जीवन अब सवर्त्र संघर्ष करता दिखाई दे रहा है; जिसमें भविष्य की चिन्ताएं निहित हैं। आदिवासियों के पुनर्वास को लेकर कई संगठन केवल राजनीति करते दिखाई पड़ते हैं। उनका एक ही उद्देश्य होता है, सत्ता हासिल करना, जिससे इन लोगों को शोषण आसानी से किया जा सके।

देश की आजादी के बाद आदिवासी समाज को विकास के अवसर मिले हैं, किन्तु कई कारणों से इनका समुचित विकास नहीं हो पाया है। कुछ प्रमुख प्रतिमानों को निर्धारित किया जा सकता है, जिनमें प्रकृति आधारित ज्ञान, सामूहिकता, पारंपरिक ज्ञान, अपरिग्रह की प्रवृत्ति, परंपरा और रूढ़ियां, प्रकृति-सहचर, स्वभाषा, स्वाधीनता, प्रकृति में जीवन निर्वाह प्रमुख हैं। आदिवासी संस्कृति, भारतीय समाज की संस्कृति की मेरुदंड पहले भी थी और आज भी है। ऐसे में आज आदिवासी समाज के प्रति यह जरूरी हो गया है कि वह एकजुट होकर अपने सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक, और राजनीतिक सवाल को उठाए, तभी आदिवासी समाज अपनी अस्मिता और अस्तित्व को बचाकर रख सकता है।

संदर्भ सूची :-

1. आदिवासी अस्तित्व और झारखण्डी अस्मिता के सवाल; डॉ0 रामदयाल मुण्डा, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, 2002।
2. आदिवासी अस्मिता का संकट; रमणिका गुप्ता, सामयिक प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2015।
3. आदिवासी : विकास से विस्थापन- संपा. रमणिका गुप्ता, राधाकृष्ण प्रकाशन, पेपर बैक्स 2015, 2/38 अंसारी रोड़ दरियागंज, नई दिल्ली, 2008।
4. आदिवासी दर्शन और साहित्य, सं. वंदना टेटे, विकल्प प्रकाशन, दिल्ली, 2015।
5. आदिवासी भारत; योगेश अटल, रावत पब्लिकेशन, जवाहर नगर, जयपुर, 2011।
6. आदिवासी संस्कृति एवं राजनीति ; एम. कुमार, विश्वभारती पब्लिकेशन, 4378/4बी, अंसारी रोड़ दरियागंज, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2009।
7. आदिवासी कौन, रमणिका गुप्ता (संपा.), राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रा. लि. दरियागंज, नई दिल्ली, 2008।
8. उपनिवेश और आदिवासी संघर्ष, हेरॉल्ड एस. तोपना, विकल्प प्रकाशन, दिल्ली, 2016।
9. झारखण्ड : विस्थापन और पुनर्वास, अलेक्सा; एक्का, भारतीय सामाजिक संस्थान, नई दिल्ली, 2003।
10. भारत की जनजातीय संस्कृति, विजय शंकर उपाध्याय एवं विजय प्रकाश शर्मा, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, 2009।
11. भारतीय आदिवासियों की सांस्कृतिक, प्रकृति-पूजा और पर्व और त्योहार; डॉ. लक्ष्मण प्रसाद सिन्हा; परिधि प्रकाशन, दरियाबाद, इलाहाबाद, 2011।

गुजराती साहित्य में भारतीय चिंतन का स्वरूप

डॉ. गौरांगभाई एच. जानी*

सारांश :- प्राचीन काल में गुजरात को आनर्त, गुर्जरत्रा मंडल, गुर्जरदेश, अनूप, शूर्पारक एवं लाट नामों से पहचाना जाता था। ईसा की पाँचवी सदी के उत्तरार्ध में तथा छठी सदी के प्रथम चरण में विदेशी आक्रांता के रूप में शक जाति की पेटा गुर्जर जाति ने इस प्रदेश पर विजय प्राप्त की। तब से इस प्रदेश ने गुर्जरत्रा भूमि के नाम से अपनी अलग पहचान बनाई। बाद में यही प्रदेश गुजरात के नाम से प्रसिद्ध हुआ। संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाओं से गुजराती भाषा का उद्भव हुआ। ईस. ११५० से १८५० तक के लगभग ७०० वर्षों को मध्यकालीन गुजराती साहित्य के रूप में जाना जाता है। जैन धर्म के साधुओं ने अपने धर्म का प्रचार करने के लिए आम समुदाय में प्रचलित गुजराती भाषा में साहित्य का सृजन किया। गुजराती साहित्य की सर्वप्रथम कृति ईस. ११६६ में ब्रजसेनसूरि नामक सर्जक द्वारा रचित 'भारतेश्वर बाहुबलीधोर' रास साहित्य स्वरूप के रूप में प्राप्त होती है। विधर्मियों के धर्मजनूनी आक्रमण से हतप्राण हुई प्रजा ने धर्म की शरण में आकर प्रभु, प्रभु-भक्ति एवं भारतीय दर्शन शास्त्र की विचारधाराओं को अपने साहित्य-सूजन में प्रवाहित किया। नरसिंह और मीरा के पदों में भक्ति तथा ज्ञान-वैराग्य की भावना प्रकट होती है। छप्पा साहित्य स्वरूप में महारत हासिल करने वाले कवि अखा ने वेदांत के ज्ञान को सरल शब्दों में काव्य-वाणी के रूप में प्रस्तुत किया। प्रेमानंद ने 'रामायण', 'महाभारत' एवं पुराणों में वर्णित कथाओं को आख्यान स्वरूप के माध्यम से रसात्मक शैली में प्रस्तुत किया। कवि शामल ने पद्यवार्ता-स्वरूप के जरिए नर-नारी की चातुरी, उनके चरित्र एवं चिंतनात्मक विचारधारा को प्रवाहित किया। गरबा साहित्य स्वरूप में भट्ट वल्लभ ने बहुचर माता की भक्ति का वर्णन किया है। दयाराम ने नवधा भक्ति में से पुष्टिमार्गीय संप्रदाय में वर्णित कृष्ण-राधा, कृष्ण-गोपी की रूठने-मनाने की लीलाओं तथा कृष्ण लीलाओं का वर्णन गरबी स्वरूप में किया है। ईस. १८५० से आज तक के समय को अर्वाचीन गुजराती साहित्य के रूप में पहचाना जाता है। ईस. १८५० से १८८५ के काल को विद्वानों ने सुधारक युग का नाम दिया है। दलपतराम, नर्मद, नवलराम, दुर्गाराम मेहताजी, करसनदास मुलजी, महीपतराम नीलकंठ आदि, सर्जकों के साहित्य में कुरीतियों, कुप्रथाओं, वहम, अज्ञान एवं अंधश्रद्धा को दूर करने का प्रयत्न किया गया है।

ईस. १८८५ से १९१५ का काल पंडितयुग के नाम से जाना जाता है। 'सरस्वतीचंद्र' उपन्यास में गोवर्धनराम त्रिपाठी ने भारतीयता को उजागर किया है। उन्होंने देशवात्सल्य को आध्यात्मिक विचारधारा से जोड़कर व्यक्ति के परिवार, समाज, भारतीय ज्ञान-परंपरा एवं भारतीय संस्कृति के प्रति उत्तरदायित्व तथा संन्यास में भी समाजोद्धार की भावना को साहित्य में अभिव्यक्त किया है। कवि कान्त के काव्यों में 'नियति नियम-कृत रहिता है' भारतीय ज्ञान-संहिता के इस विचार का प्रकटीकरण होता है। मणिलाल नभुभाई द्विवेदी, आनंदशंकर घुव, बलवंतराय ठाकोर, कवि कलापी, नरसिंहराव दीवेटिया आदि, सर्जकों के साहित्य में धर्म-चिंतन, जीवन-चिंतन तथा संस्कृति-चिंतन प्राप्त होता है। सन. १९१५ से १९३५ के काल को गांधीयुग के नाम से जाना जाता है। उमाशंकर जोशी, सुंदरम्, रामनारायण पाठक, झवेरचंद मेघाणी, रमणलाल देसाई आदि, सर्जकों के साहित्य में स्वतंत्रता प्राप्ति, सत्य, अहिंसा, शोषित, पीड़ित, दरिद्र, दलित, समाजोद्धार, विश्व-मानव बनने की अभिलाषा तथा कठोर वास्तविकता की स्वीकृति जैसे विषयों पर चिंतन मिलता है। ईस. १९३५ से १९६० के काल को अनुगांधी युग कहा जाता है। निरंजन भगत, प्रह्लाद पारेख, जयंत पाठक, ऊशनस्, वेणीभाई पुरोहित, प्रियकांत मणियार, राजेंद्र शाह आदि, सर्जकों के साहित्य में मानव-समुदाय के बीच रहते हुए भी एकांत की तीव्र अनुभूति, विकलता, विफलता, विषाद, अस्तित्व की खोज, नगर-जीवन की संकुलता तथा परा-यथार्थ जैसे चिंतनात्मक विषय उपस्थित होते हैं। ईस. १९६० से १९८० के काल को आधुनिक युग कहा जाता है। सुरेश जोशी, सीतांशु मेहता, लाभशंकर ठाकर, चीनू मोदी, चंद्रकांत शेठ, गुलाम मोहम्मद शेख, मणिलाल देसाई, रावजी पटेल, अनिल जोशी, रमेश पारेख, आदिल मन्सुरी, मनहर मोदी, राजेंद्र शुक्ल, मनोज खंडेरिया, रघुबीर चौधरी, राधेश्याम शर्मा, जयंत गाडीत आदि, सर्जकों के साहित्य में आत्म-पहचान, आत्ममंथन तथा एक्सर्डवाद जैसी विचारधाराएँ वर्णित हैं।

*असिस्टेंट प्रोफेसर (गुजराती), बहाउद्दीन गवर्नमेंट आर्ट्स कॉलेज, जूनागढ़।

ईस. १९८० से आज तक के काल को अनुआधुनिक युग के रूप में जाना जाता है। जोसेफ मेकवान, वर्षा अडालजा, धीरेन्द्र मेहता, विनेश अंतानी, ध्रुव भट्ट, इला अरब मेहता, दलपत चौहान, अशोकपुरी गौस्वामी, अश्विनी भट्ट, प्रवीणसिंह चावड़ा, हिमांशी शेलत, मोहन परमार, मणिलाल एच. पटेल, हरेश धोलकिया, अनिरुद्ध ब्रह्मभट्ट, सतीश व्यास, गुणवंत शाह, विनोद भट्ट, रतिलाल बोरीसागर, प्रीतिसेन गुप्ता, प्रवीण दरजी, मीनल दवे, राजेश बणकर आदि, सर्जकों के साहित्य में दलितवाद, देशीवाद, नारीवाद, नगर-जीवन एवं ग्राम-जीवन की समस्याओं जैसे विषयों पर चिंतनात्मक विवरण प्राप्त होता है।

भूमिका-साहित्य केवल अर्थपूर्ण शब्दों से नहीं बनता। सर्जक जिस समाज में जन्म लेता है उस समाज की सांस्कृतिक चेतना, दार्शनिक विचारधारा एवं जीवन मूल्यों से प्रभावित होता है। पश्चिम के एक विवेचक मिशेल फूको का मानना है कि, किसी भी साहित्य को पूर्णतया समझना है तो उसे कृति के सर्जक के जीवन को समझना पड़ेगा। अर्थात् सर्जक जो साहित्य सृजन करता है वह उसके समाज एवं संस्कृति का प्रतिबिंब है। गुजराती साहित्य में भारतीय चिंतन का स्वरूप इस विषय पर विमर्श करना एक गहन कार्य है। इस शोध पत्र में गुजराती भाषा का नामकरण, इस. १९५०से इस २०२५ तक यानी की ८७५ साल में जो गुजराती साहित्य सृजन हुआ उसका घोरा देने का उपक्रम है।

प्राचीन काल में गुजरात को आनर्त, गुर्जरत्रा मंडल, गुर्जरदेश, अनूप, शूर्पारक एवं लाट नामों से पहचाना जाता था। ईसा की पाँचवी सदी के उत्तरार्ध में तथा छठी सदी के प्रथम चरण में विदेशी आक्रांता के रूप में शक जाति की पेटा गुर्जर जाति ने इस प्रदेश पर विजय प्राप्त की। तब से इस प्रदेश ने गुर्जरत्रा भूमि के नाम से अपनी अलग पहचान बनाई। बाद में यही प्रदेश गुजरात के नाम से प्रसिद्ध हुआ। जैसे बंगाल के लोग जो भाषा बोलते थे उनको बंगाली नाम दिया गया। पंजाब प्रांत के लोग जो भाषा बोलते थे उस भाषा को पंजाबी नाम दिया गया है ठीक वैसे ही इस प्रदेश का नाम गुजरात है। गुजरात प्रदेश के लोग जिस भाषा में वाणी-व्यवहार करते हैं उस भाषा को गुजराती भाषा कहते हैं। सर्वप्रथम 'आख्यान साहित्य स्वरूप के पिता' के नाम से प्रसिद्ध भालण कवि ने अपने 'नलाख्यान' कृति में इस भाषा को 'गुर्जर भाषा' कहा। आख्यान शिरोमणि महाकवि प्रेमानंद ने 'दशमस्कंध' नामक आख्यान में 'नाग दमण' के प्रसंग के अंत में इस भाषा को 'गुजराती' नाम दिया ऐसा पहली बार उल्लेख प्राप्त होता है। इस बात से ज्ञात होता है कि, गुजराती भाषा का नामकरण पहली बार प्रेमानंद ने किया है। भाषा वैज्ञानिक डॉ. टी. ऐन. दवे, डॉ. तेस्सीतोरी आदि, भाषा वैज्ञानिकों के मुताबिक गुजराती भाषा इंडो-ईरानियन कूल की है। कुछ भाषा वैज्ञानिकों ने संशोधन करने के बाद यह मानना है कि संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाओं से गुजराती भाषा का उद्भव हुआ।

जब समाज के कुछ लक्षण साहित्य पर प्रभावित होते हैं तब उस कालखंड को अभ्यास की सरलता हेतु विभाजित किया जाता है। ईस. १९५० से १९५० तक के करीबन ७०० वर्ष के कालखंड को मध्यकालीन गुजराती साहित्य के रूप में जाना जाता है। जैन धर्म के साधुओं ने अपने धर्म का प्रचार करने के लिए आम समुदाय में प्रचलित गुजराती भाषा में साहित्य का सृजन किया। गुजराती साहित्य की सर्वप्रथम कृति ईस. १९६६ में ब्रजसेनसूरि नामक सर्जक द्वारा रचित 'भारतेश्वरबाहुबलीधोर' रास साहित्य स्वरूप के रूप में प्राप्त होती है। इस काल में रास, महीना, बारमासी, तिथि, वार, पद, छप्पा, चाबखा, काफी, आख्यान, पद्यवार्ता, गरबो, गरबी आदि साहित्य स्वरूप प्रसिद्ध हुए।

विधर्मियों के धर्मजनूनी आक्रमण से हतप्राण हुई प्रजा ने धर्म की शरण में आकर प्रभु, प्रभु-भक्ति एवं भारतीय दर्शन शास्त्र की विचारधाराओं को अपने साहित्य-सृजन में प्रवाहित किया। नरसिंह और मीरां के पदों में भक्ति, द्वैतवाद अद्वैतवाद तथा ज्ञान-वैराग्य की भावना प्रकट होती है। छप्पा साहित्य स्वरूप में महारत हासिल करने वाले कवि अखा ने भगवत गीता, वेदांत के ज्ञान को सरल शब्दों में काव्य-वाणी के रूप में प्रस्तुत किया। ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त करने वाले उमाशंकर जोशी ने कवि अखों को कबीर का छोटा भाई कहा है। प्रेमानंद ने 'रामायण', 'महाभारत', 'श्रीमत् भागवत पुराण', इतिहास, एवं लोक साहित्य में वर्णित कथाओं को आख्यान-स्वरूप के माध्यम से रसात्मक शैली में प्रस्तुत किया। कवि शामिल ने पद्यवार्ता-स्वरूप के जरिए नर-नारी की चातुरी, उनके चरित्र एवं चिंतनात्मक विचारधारा को मनोरंजन के माध्यम से प्रवाहित किया। गरबा साहित्य स्वरूप में भट्ट वल्लभ ने बहुचर माता की भक्ति का वर्णन किया है। दयाराम ने नवधा भक्ति में से पुष्टिमार्गीय संप्रदाय में वर्णित कृष्ण राधा, कृष्ण-गोपी की रूठने-मनाने की लीलाओं तथा कृष्ण लीलाओं का वर्णन गरबी स्वरूप में किया है।

कवि दयाराम मध्यकालीन गुजराती साहित्य परंपरा के अंतिम कवि रहे हैं। ईस. १६५० से आज तक के समय को अर्वाचीन गुजराती साहित्य के रूप में पहचाना जाता है। अभ्यास की सरलता हेतु अर्वाचीन गुजराती साहित्य को विविध काल में विभाजित किया गया है। ईस. १८५० से १८८५ के काल को विद्वानों ने 'सुधारक युग' का नाम दिया है। दलपतराम, नर्मद, नवलराम, दुर्गाराम मेहताजी, करसनदास मुलजी, महीपतराम नीलकंठ आदि, सर्जकों के साहित्य में कुरीतियों, कुप्रथाओं, वहम, अज्ञान एवं अंधश्रद्धा को दूर करने का प्रयत्न किया गया है। मुक्त, न्याय एवं समतायुक्त जीवन की खेवना है। बाललग्न का विरोध एवं लड़कियों की शिक्षा की आवश्यकता साहित्य में प्रतिबिंबित होती है। वैज्ञानिकता एवं बुद्धिमता इसमें सम्मिलित थी।

ईस. १८८५ से १९१५ का काल पंडितयुग के नाम से जाना जाता है। 'सरस्वतीचंद्र' उपन्यास में गोवर्धनराम त्रिपाठी ने भारतीयता को उजागर किया है। उन्होंने देशवात्सल्य को आध्यात्मिक विचारधारा से जोड़कर व्यक्ति के परिवार, समाज, भारतीय ज्ञान-परंपरा एवं भारतीय संस्कृति के प्रति उत्तरदायित्व तथा सन्यास में भी समाजोद्धार की भावना को साहित्य में अभिव्यक्त किया है। कवि कान्त के काव्यों में 'नियति नियम-कृत रहिता है' भारतीय ज्ञान-संहिता के इस विचार का प्रकटीकरण होता है। मणिलाल नभुभाई द्विवेदी, आनंदशंकर ध्रुव, बलवंतराय ठाकोर, कवि कलापी, नरसिंहराव दीवेटिया आदि, सर्जकों के साहित्य में धर्म-चिंतन, जीवन-चिंतन तथा संस्कृति-चिंतन प्राप्त होता है। सन् १९१५ से १९३५ के काल को गांधीयुग के नाम से जाना जाता है। उमाशंकर जोशी, सुंदरम् के कुछ काव्य में विशेषतः 'वसुधैव कुटुंबकम्' की भावना को उजागर किया है। राम नारायण पाठक के साहित्य में विशेषतः समाज के उपेक्षित की संवेदनाओं को अभिव्यक्ति मिली है। झवेरचंद मेघानी ने अपने एक काव्य संचय का शीर्षक समूचे युग को वंदन करते हुए 'युगवंदना' रखा है। उन्होंने स्वतंत्रता संग्राम की अभिलाषा व्यक्त करते हुए 'सिंधुडो' नाम के काव्य संचय प्रकाशित किया। इस काव्य संचय का इतना प्रभाव रहा की अंग्रेज सरकार ने उसको प्रतिबंधित किया था। रमणलाल वसंतलाल देसाई ने गांधीजी के बारह व्रत को मद्देनजर रखते हुए हर एक व्रत पर एक-एक उपन्यास लिखा था। उमाशंकर जोशी, सुंदरम्, रामनारायण पाठक, झवेरचंद मेघानी, रमणलाल देसाई आदि, सर्जकों के साहित्य में स्वतंत्रता प्राप्ति, सत्य, अहिंसा, शोषित, पीड़ित, दरिद्र, दलित, समाजोद्धार, विश्व-मानव बनने की अभिलाषा, कठोर वास्तविकता की स्वीकृति, परिश्रम एवं स्वाश्रय का गौरव, त्याग एवं सादगी, ग्रामाभीमुखता जैसे विषयों पर चिंतन मिलता है। सन् १९३५ से १९६० के काल को अनुगांधी युग कहा जाता है। निरंजन भगत, प्रहलाद पारेख, जयंत पाठक, ऊशनस, वेणीभाई पुरोहित, प्रियकांत मणियार, राजेंद्र शाह आदि सर्जकों के साहित्य में मानव-समुदाय के बीच रहते हुए भी एकांत की तीव्र अनुभूति, विकलता, विफलता, विषाद, अस्तित्व की खोज, नगर-जीवन की संकुलता तथा परायथार्थ जैसे चिंतनात्मक विषय उपस्थित होते हैं। ईस. १९६० से १९८० के काल को आधुनिक युग कहा जाता है। सुरेश जोशी, सीतांशु मेहता, लाभशंकर ठाकर, चीनू मोदी, चंद्रकांत शेठ, गुलाम मोहम्मद शेख, मणिलाल देसाई, रावजी पटेल, अनिल जोशी, रमेश पारेख, आदिल मंसूरी, मनहर मोदी, राजेंद्र शुक्ल, मनोज खंडेरिया, रघुबीर चौधरी, राधेश्याम शर्मा, जयंत गाडीत आदि, सर्जकों के साहित्य में विषाद, शून्यता, हताशा, निःसहायता, विडंबना, प्रणय, प्रणयभंग, आदि भाव नीतिवाद, नैतिकता, नास्तिकता, आत्म-पहचान, आत्ममंथन तथा असंगति प्रकट वास्तव की धरातल पर चेतन मन, अर्थचेतन मन, चेतन मन, जैसी विचारधाराएँ वर्णित हैं।

ईस. १९८० से आज तक के काल को अनुआधुनिक युग के रूप में जाना जाता है। जोसेफ मेकवान, वर्षा अडालजा, धीरेंद्र मेहता, विनेश अंतानी, ध्रुव भट्ट, इला अरब मेहता, दलपत चौहान, अशोकपुरी गोस्वामी, अश्विनी भट्ट, प्रवीणसिंह चावड़ा, हिमांशी शेलत, मोहन परमार, मणिलाल एच. पटेल, हरेश धोलकिया, अनिरुद्ध ब्रह्मभट्ट, सतीश व्यास, गुणवंत शाह, विनोद भट्ट, रतिलाल बोरीसागर, प्रीतिसेन गुप्ता, प्रवीण दरजी, मीनल दवे, राजेश बनकर आदि, सर्जकों के साहित्य में दलितवाद, देशीवाद, नारीवाद, नगर-जीवन एवं ग्राम-जीवन की समस्याओं जैसे विषयों पर चिंतनात्मक विवरण प्राप्त होता है।

संदर्भ सूची :-

1. गुजराती साहित्यનો इतिहास भाग-१ थी ८, सं-२रमेश २६वे अने अन्य प्रकाशक, गुजराती साहित्य परिषद, अमदावाट, आ-४स- २०१५
2. भारतीय दर्शन-वसंत परीष, प्रकाशक - पार्थ पब्लिकेशन अमदावाट, प्र- आ- ४स-२०२५
3. Beautiful tree & dharmopalji

भारतीय लोक जीवन में दर्शन की अवधारणा

डॉ. रतिलाल जी कालरीया*

सारांश :- भारतीय लोकजीवन में दर्शन की अवधारणा जीवन के व्यावहारिक अनुभवों, आस्था, परंपराओं, लोककथाओं, संतवाणी, उत्सवों और सामाजिक संरचनाओं में अंतर्निहित है। भारतीय दर्शन केवल दार्शनिक ग्रंथों तक सीमित नहीं है, बल्कि वह जनमानस के जीवन-व्यवहार में सक्रिय रूप से विद्यमान है। लोकजीवन में धर्म, कर्म, पुनर्जन्म, मोक्ष, समन्वयवाद, प्रकृति-पूजा और नैतिक मूल्यों का गहरा प्रभाव दिखाई देता है। संत परंपरा ने लोकभाषा के माध्यम से जटिल दार्शनिक सिद्धांतों को सरल और व्यावहारिक बनाया। प्रस्तुत शोध-पत्र में भारतीय लोकजीवन के दार्शनिक आधारों, उनकी सांस्कृतिक अभिव्यक्ति तथा आधुनिक संदर्भ में उनकी प्रासंगिकता का विश्लेषण किया गया है।

मुख्य शब्द :- लोकजीवन, दर्शन, भारतीय संस्कृति, संत परंपरा, समन्वयवाद, प्रकृति-दर्शन, नैतिक मूल्य

9. प्रस्तावना :- भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम, सतत और जीवन्त संस्कृतियों में से एक मानी जाती है। इसकी विशेषता केवल इसके प्राचीन ग्रंथों, दार्शनिक परंपराओं या धार्मिक मान्यताओं में ही नहीं, बल्कि उसके लोकजीवन में निहित है। भारतीय लोकजीवन वह आधारभूमि है जहाँ संस्कृति, परंपरा, आस्था, रीति-रिवाज, लोककथाएँ, लोकगीत, त्योहार, पारिवारिक व्यवस्था और सामाजिक संबंध एक साथ विकसित होते हैं। यही लोकजीवन भारतीय दर्शन की वास्तविक प्रयोगशाला है, जहाँ दार्शनिक सिद्धांत व्यवहार में रूपांतरित होते हैं।

भारतीय दर्शन को यदि केवल शास्त्रों और दार्शनिक ग्रंथों तक सीमित कर दिया जाए तो उसका स्वरूप अधूरा रह जाएगा। यद्यपि उपनिषद, भगवद्गीता और महाभारत जैसे ग्रंथों में गूढ़ दार्शनिक विचार व्यक्त हुए हैं, परंतु इन विचारों की वास्तविक जीवंतता लोकजीवन में दिखाई देती है। सामान्य जन अपने दैनिक जीवन में कर्म, धर्म, पुनर्जन्म, मोक्ष, अहिंसा, सत्य और समन्वय जैसे सिद्धांतों को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अपनाते हैं। इस प्रकार भारतीय लोकजीवन दर्शन का व्यावहारिक स्वरूप प्रस्तुत करता है। भारतीय लोकजीवन की एक प्रमुख विशेषता उसकी आध्यात्मिक दृष्टि है। यहाँ जीवन को केवल भौतिक उपलब्धियों तक सीमित नहीं माना जाता, बल्कि उसे आत्मिक उन्नति का माध्यम समझा जाता है। गाँवों में प्रचलित लोकगीतों, विवाह-संस्कारों, पर्व-उत्सवों और दैनिक पूजा-पद्धतियों में ईश्वर, प्रकृति और मानव के बीच गहरे संबंध का अनुभव किया जा सकता है। यह दृष्टिकोण जीवन को समग्रता में देखने की प्रेरणा देता है। इसके अतिरिक्त भारतीय लोकजीवन में समन्वय की अद्भुत क्षमता दिखाई देती है। विभिन्न धर्मों, संप्रदायों और परंपराओं के विचार लोकमानस में घुल-मिल गए हैं। उदाहरणस्वरूप, बौद्ध धर्म की करुणा और मध्यम मार्ग की भावना तथा जैन धर्म की अहिंसा और अनेकांतवाद की धारणा लोकजीवन में व्यापक रूप से स्वीकार की गई है। इसी प्रकार भक्ति आंदोलन के संतों ने लोकभाषा में आध्यात्मिक चेतना का प्रसार किया, जिससे दर्शन केवल विद्वानों का विषय न रहकर जनसामान्य का जीवन-मूल्य बन गया। लोकजीवन का दर्शन केवल आध्यात्मिक या धार्मिक पक्ष तक सीमित नहीं है; इसमें सामाजिक और नैतिक आयाम भी निहित हैं। परिवार-व्यवस्था, अतिथि-सत्कार, बड़ों का सम्मान, सामूहिक श्रम और सहयोग की भावनाकृये सभी भारतीय लोकजीवन की पहचान हैं। "वसुधैव कुटुम्बकम्" की भावना लोकमानस में गहराई से रची-बसी है, जो संपूर्ण विश्व को एक परिवार के रूप में देखने की दृष्टि प्रदान करती है।

आधुनिक युग में वैश्वीकरण, नगरीकरण और भौतिकवाद के प्रभाव से लोकजीवन में परिवर्तन अवश्य आया है, किंतु उसकी मूल दार्शनिक चेतना अभी भी जीवित है। पर्यावरण संरक्षण, सामाजिक समरसता और आध्यात्मिक संतुलन जैसे विषय आज भी भारतीय लोकजीवन के केंद्र में हैं।

* असिस्टेंट प्रोफेसर, दर्शन विभाग, बहाउद्दीन गवर्नमेंट आर्ट्स कॉलेज, जूनागढ़।

अतः प्रस्तुत शोध-पत्र का उद्देश्य भारतीय लोकजीवन में निहित दार्शनिक अवधारणाओं का विश्लेषण करना तथा यह स्पष्ट करना है कि किस प्रकार यह दर्शन जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मार्गदर्शक भूमिका निभाता है। भारतीय लोकजीवन का दर्शन केवल अतीत की धरोहर नहीं, बल्कि वर्तमान और भविष्य के लिए भी प्रेरणास्रोत है।

२. लोक और दर्शन : संकल्पना :- 'लोक' का अर्थ हैकृसामान्य जनसमुदाय तथा उनका जीवन-संसार। 'दर्शन' का अर्थ हैकृतसत्य का साक्षात्कार। भारतीय संदर्भ में दर्शन केवल तर्कशास्त्र नहीं, बल्कि अनुभूति है। इस दृष्टि से लोकजीवन का दर्शन वह जीवन-दृष्टि है जो सामान्य जन के अनुभवों में निहित है।

३. शास्त्रीय आधार और लोकजीवन:- भारतीय लोकजीवन के दर्शन को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम उसके दार्शनिक आधारों और परंपरागत चिंतन-धाराओं का संक्षिप्त अवलोकन करें। भारतीय दर्शन की प्रमुख विशेषता यह है कि वह जीवन और आचरण से जुड़ा हुआ है। यहाँ दर्शन केवल बौद्धिक चिंतन नहीं, बल्कि साधना और अनुभूति का विषय है।

भारतीय चिंतन परंपरा में सत्य की खोज को सर्वोच्च लक्ष्य माना गया है। उपनिषद में ब्रह्म और आत्मा की एकता का प्रतिपादन किया गया है, जो लोकजीवन में "सबमें एक ही परमात्मा" की भावना के रूप में प्रकट होता है। भगवद्गीता में कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग का समन्वय मिलता है, जो लोकजीवन में कर्मप्रधानता, श्रद्धा और ज्ञान के संतुलन के रूप में दिखाई देता है। भारतीय दर्शन के षड्दर्शनकृसांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदांतकृने जीवन के विभिन्न आयामों का विश्लेषण किया। इन शास्त्रीय सिद्धांतों का प्रभाव लोकमानस पर भी पड़ा। उदाहरणस्वरूप- सांख्य का प्रकृति-पुरुष सिद्धांत लोकजीवन में प्रकृति के प्रति सम्मान के रूप में प्रकट होता है। योग दर्शन का आत्मसंयम लोकाचार में संयम और सादगी के रूप में दिखाई देता है। वेदांत का अद्वैत सिद्धांत लोक में समन्वय और एकता की भावना उत्पन्न करता है। इसके अतिरिक्त बौद्ध धर्म ने मध्यम मार्ग और करुणा का संदेश दिया, जबकि जैन धर्म ने अहिंसा और अनेकांतवाद का प्रतिपादन किया। इन सिद्धांतों का प्रभाव लोकजीवन की नैतिक संरचना में स्पष्ट देखा जा सकता है। संत परंपरा ने इस सैद्धांतिक पृष्ठभूमि को लोकभाषा में रूपांतरित किया। कबीर, नरसिंह मेहता और अन्य संतों ने ईश्वर, मानवता और नैतिकता के सिद्धांतों को सरल भाषा में प्रस्तुत किया, जिससे दर्शन जनसामान्य के जीवन का अंग बन गया।

अतः सैद्धांतिक रूप से भारतीय लोकजीवन का दर्शन वेदांत, कर्मवाद, भक्ति, अहिंसा और समन्वयवाद पर आधारित है।

४. लोकजीवन में धर्म और नैतिकता :- भारतीय लोकजीवन में धर्म का अर्थ केवल किसी विशेष संप्रदाय, पूजा-पद्धति या धार्मिक अनुष्ठान तक सीमित नहीं है। यहाँ धर्म का वास्तविक आशय कर्तव्यपालन, सदाचार, नैतिक आचरण और सामाजिक उत्तरदायित्व से है। लोकमानस में धर्म वह है जो व्यक्ति, परिवार और समाज को संतुलन एवं स्थिरता प्रदान करे। भारतीय परंपरा में "धर्म" का मूल भाव हैकृजो धारण करने योग्य है, वही धर्म है। अर्थात् जो आचरण समाज में सद्भाव, न्याय और करुणा को बनाए रखे, वही सच्चा धर्म है।

"अतिथि देवो भव" का व्यवहारिक अर्थ- "अतिथि देवो भव" की भावना भारतीय लोकजीवन की आत्मा है। गाँवों और पारंपरिक परिवारों में आज भी अतिथि का स्वागत सम्मान और आदर के साथ किया जाता है। अतिथि को भोजन, जल और विश्राम की व्यवस्था देना। उसे सम्मानपूर्वक स्थान देना। उसके प्रति प्रेम और आत्मीयता का व्यवहार करना। यह केवल सामाजिक शिष्टाचार नहीं, बल्कि नैतिक कर्तव्य माना जाता है। इस भावना से समाज में आपसी विश्वास, सौहार्द और मानवता का विकास होता है।

"वसुधैव कुटुम्बकम्" की सार्वभौमिक दृष्टि - "वसुधैव कुटुम्बकम्" का अर्थ हैकृतसम्पूर्ण पृथ्वी एक परिवार है। यह विचार भारतीय लोकजीवन की समन्वयवादी दृष्टि को व्यक्त करता है। जाति, भाषा, धर्म और क्षेत्र के भेद से ऊपर उठकर सबको अपना मानना। दूसरों के सुख-दुःख में सहभागी होना। समाज में भाईचारा और सहअस्तित्व की भावना रखना। लोकजीवन में यह भावना सामूहिक श्रम, पर्व-उत्सवों और सामाजिक सहयोग के रूप में दिखाई देती है।

५. **कर्म और पुनर्जन्म की धारणा** :- लोकजीवन में यह विश्वास व्यापक है कि "जैसा कर्म, वैसा फल।" यह सिद्धांत भारतीय दर्शन के कर्मवाद से जुड़ा है। जीवन को अस्थायी और आत्मा को शाश्वत माना गया है। पुनर्जन्म की धारणा लोकगीतों और कथाओं में स्पष्ट दिखाई देती है।

६. **संत परंपरा और लोकदर्शन** :- भारतीय संतों ने दर्शन को लोकभाषा में सरल रूप में प्रस्तुत किया—
कबीर — निर्गुण भक्ति और सामाजिक समता का संदेश।
नरसिंह मेहता — भक्ति और मानवता का समन्वय।
जवेरचंद मेघाणी — लोकसाहित्य में जीवन—दर्शन की अभिव्यक्ति।
संत वाणी ने जाति—पांति, आडंबर और अज्ञान का विरोध कर समरस समाज की स्थापना का संदेश दिया।

७. **प्रकृति—दर्शन और लोकसंस्कृति** :- भारतीय लोकजीवन प्रकृति के साथ सह—अस्तित्व पर आधारित है। नदियों को माता कहा जाता है। वृक्षों की पूजा की जाती है। पर्वतों और पशुओं को देवस्वरूप माना जाता है। यह दृष्टिकोण पर्यावरण—संरक्षण की दार्शनिक नींव प्रस्तुत करता है।

८. **लोकउत्सवों में दार्शनिक चेतना** :- भारतीय त्योहार जीवन—संघर्ष और आशा के प्रतीक हैं—
दीपावली — प्रकाश का अंधकार पर विजय।
होली — बुराई का दहन।
नवरात्रि — शक्ति की उपासना।
ये पर्व समाज में सामूहिकता और सकारात्मकता को बढ़ावा देते हैं।

९. **समन्वयवाद : भारतीय लोकजीवन की विशेषता** :- भारतीय लोकजीवन में विभिन्न धर्मों और मतों का समन्वय दिखाई देता है—

बौद्ध धर्म — करुणा और मध्यम मार्ग।

जैन धर्म — अहिंसा और अनेकांतवाद।

शैव, वैष्णव, सूफी और अन्य परंपराएँ भी लोकजीवन में समरस रूप से विद्यमान हैं।

१०. **आधुनिक संदर्भ में प्रासंगिकता** :- वैश्वीकरण और भौतिकवाद के इस युग में भारतीय लोकदर्शन संतुलित जीवन का मार्ग प्रस्तुत करता है। पर्यावरण संरक्षण, सामाजिक समरसता, आध्यात्मिक संतुलन लोकजीवन की परंपराएँ आधुनिक समाज को सांस्कृतिक पहचान और नैतिक दिशा प्रदान करती हैं।

११. **निष्कर्ष** :- भारतीय लोकजीवन का दर्शन जीवन के समग्र दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है। यह व्यक्ति, समाज, प्रकृति और परमसत्ता के बीच संतुलन स्थापित करता है। लोकजीवन में निहित यह दर्शन भारतीय संस्कृति की आत्मा है। संत परंपरा, लोककला, उत्सव और नैतिक मूल्यों में यह दर्शन जीवंत रूप से अभिव्यक्त होता है। आज के युग में जब मानवता अनेक संकटों से जूझ रही है, भारतीय लोकजीवन का दर्शन शांति, समन्वय और सह—अस्तित्व का संदेश देता है।

संदर्भ सूची :-

- | | |
|-------------------------|---------------------------------------|
| 1. रामायण | 5. नरसिंह मेहता—भक्तिकाव्य। |
| 2. महाभारत | 6. जवेरचंद मेघाणी : लोकसाहित्य संकलन। |
| 3. भगवद्गीता | 7. बौद्ध धर्म के त्रिपिटक ग्रंथ। |
| 4. कबीर दृ साखी एवं पद। | 8. जैन धर्म के आगम ग्रंथ। |

भारतीय समावेशी शिक्षा का मानवीय प्रदेय : परंपरा, चुनौतियाँ एवं संभावनाएँ

डॉ. सुधीर कुमार तिवारी*

सारांश :- भारतीय संस्कृति मूलतः मानवीय मूल्यों, सह-अस्तित्व एवं समावेशिता की मूलभूत भावना पर केंद्रित रही है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' तथा 'जियो और जीने दो' जैसी विचारधाराएँ इस तथ्य को आधार प्रदान करती हैं कि भारतीय समाज में सभी व्यक्तियों को समान रूप से स्वीकार करने की परंपरा प्राचीन काल से विद्यमान रही है। प्रस्तुत शोध लेख में भारतीय परिप्रेक्ष्य में समावेशी शिक्षा के मानवीय पक्षों के अंतर्गत परंपरा, चुनौतियों तथा भावी संभावनाओं का विश्लेषण किया गया है। अनुसंधान में यह भी प्रतिपादित किया गया है कि भारतीय संविधान, वैश्विक सम्मेलनों (जॉमटियन 1990, सलामांका 1994) तथा राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 ने भारतीय संस्कृति में प्रतिपादित समावेशिता का विस्तार किया है। साथ ही दिव्यांगता की रूढ़िवादी धारणाओं तथा समाज में व्याप्त भेदभावपूर्ण मानसिकता को चुनौती देते हुए समावेशी समाज के निर्माण की अनिवार्यता पर बल प्रदान किया गया है। अर्थात् केवल नीतियाँ ही पर्याप्त नहीं हैं; अपितु सरकार, शिक्षकों एवं नागरिकों के सामूहिक प्रयासों से ही समावेशी शिक्षा सफल हो सकती है। अतः भारतीय समाज में समावेशी शिक्षा के सफल सामाजिक न्याय एवं समानता की दृष्टि भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

मुख्य शब्द :- समावेशी शिक्षा, भारतीय संस्कृति, दिव्यांगता, संवैधानिक मूल्य एवं राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020।

अपनी वैविध्यताओं एवं अनेकता में एकता के सूत्र को ध्यान में रखते हुए भारत में विविधता विद्यमान है। यह विविधता भारत की विशेषता के साथ-साथ एक चुनौती के रूप में भी सामने आती है। इस परिदृश्य में 'शिक्षा सबके लिए' का सूत्र वाक्य तभी सार्थक हो सकता है, जब शिक्षा प्रणाली समावेशी हो, अर्थात् प्रत्येक बालक को उसकी वैयक्तिक आवश्यकताओं, क्षमताओं एवं अभिरुचियों के अनुरूप अधिगम के समान अवसर प्राप्त हों (अहुजा ए. 2020)। समावेशी शिक्षा का तात्पर्य केवल विद्यार्थियों को एक कक्षा में एक साथ शिक्षण प्रदान करना मात्र नहीं है, अपितु उनकी विभिन्नताओं उनकी आवश्यकताओं को दृष्टिगत रखते हुए शिक्षण-अधिगम की प्रक्रिया को अनुकूलित करना है। समावेशी शिक्षा की अवधारणा केवल विशेष आवश्यकता वाले बालकों तक ही सीमित नहीं है बल्कि इसके अंतर्गत शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक विशिष्ट बालकों के साथ-साथ शैक्षिक, सांवेगिक एवं सामाजिक रूप से विशिष्ट बालकों का भी समावेशन होता है। इन वर्गों के बालक प्रायः सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक अथवा शैक्षिक रूप से मुख्य धारा की परिधि पर चले जाते हैं। उन्हें न तो उचित अवसर मिल पाते हैं और न ही उनकी वास्तविक क्षमताओं को पहचाना जाता है। ऐसे में समावेशी शिक्षा इन बालकों के लिए अपनी उपादेयता को सुनिश्चित करता है, जिसके फलस्वरूप इन बालकों में आत्मनिर्भरता, आत्मसम्मान तथा सामाजिक समायोजन की भावना का विकास होता है। साथ ही सामान्य बालक भी विविधताओं के प्रति संवेदनशील बनते हैं जो एक सहिष्णु समाज के निर्माण में सहायक होता है। समावेशी शिक्षा का महत्त्व केवल व्यक्तिगत विकास तक सीमित नहीं है, अपितु यह सामाजिक न्याय, समानता एवं मानवाधिकारों की दृष्टिकोण से भी अत्यन्त आवश्यक है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 14, 15, 21 क, 29 (2) एवं 46 जैसे प्रावधानों में स्पष्ट रूप से समानता, भेदभाव निषेध, निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा तथा दुर्बल वर्गों के शैक्षिक हितों की रक्षा करने का प्रावधान निहित है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 ने भी समावेशी शिक्षा को केन्द्र में रखते हुए यह सुनिश्चित करने का प्रयास किया है कि कोई भी बालक शिक्षा से वंचित न रहे।

शोध उद्देश्य :- प्रस्तुत शोध लेख के अंतर्गत भारतीय परंपरा में निहित समावेशी मूल्यों, वर्तमान शैक्षिक नीतियों, विद्यमान चुनौतियों तथा भावी संभावनाओं पर प्रकाश डाला गया है। साथ ही, यह बताने का प्रयास

* सहायक आचार्य, शिक्षा विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र-442001

किया गया है कि किस प्रकार दिव्यांगता की रूढ़िवादी धारणाएँ, संकीर्ण शैक्षिक मूल्यांकन प्रणाली तथा सामाजिक भेदभाव समावेशी शिक्षा के मार्ग में बाधक हैं और किस प्रकार सामूहिक प्रयासों से इन बाधाओं को दूर किया जा सकता है।

शोध विधि :- प्रस्तुत शोध लेख वर्णनात्मक शोध पद्धति पर आधारित है। इस अध्ययन में आँकड़ों के संकलन हेतु द्वितीयक स्रोतों का उपयोग किया गया है, जिनमें प्रमुख रूप से शैक्षिक नीतियाँ, संवैधानिक प्रावधान, अंतरराष्ट्रीय सम्मेलन एवं शैक्षिक शोध-पत्र आदि शामिल हैं।

वैश्विक स्तर पर समावेशी शिक्षा :- संयुक्त राष्ट्र संघ ने 3 दिसम्बर, 1981 को अन्तरराष्ट्रीय विकलांगता वर्ष घोषित किया। इसके प्रभावस्वरूप शिक्षा के क्षेत्र में समावेशी शिक्षा की अवधारणा को व्यापक मान्यता प्राप्त हुई। वैश्विक स्तर पर समावेशी शिक्षा हेतु अनेक प्रयास हुए हैं। जॉमटियन विश्व सम्मेलन (1990) ने 'सभी के लिए शिक्षा' के सार्वभौमिक अभिकल्प को स्वीकार किया। सलामांका विश्व सम्मेलन (1994) ने यह निर्णय लिया कि विशिष्ट आवश्यकता वाले बालकों को उनके निकटतम सामान्य विद्यालयों में उनकी आवश्यकता के अनुरूप समान शिक्षा का अवसर प्राप्त होना चाहिए। इन सम्मेलनों ने समावेशी शिक्षा की आधारशिला को सुदृढ़ किया जिसके परिणामस्वरूप विश्व के सभी देश इसे अपनाने हेतु प्रेरित हुए।

समावेशी शिक्षा की अवधारणा एवं भारतीय परंपरा :- समावेशी शिक्षा का तात्पर्य ऐसी शिक्षा व्यवस्था से है, जो किसी भी प्रकार की शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, संवेगात्मक अथवा सामाजिक भिन्नता के आधार पर भेदभाव नहीं करती। इसमें शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, संवेगात्मक या सामाजिक भिन्नताओं को बाधा नहीं, बल्कि विविधता के रूप में स्वीकार करके बालकों की व्यक्तिगत क्षमताओं, रुचियों एवं आवश्यकताओं के आधार पर प्रत्येक बालक की व्यक्तिगत क्षमताओं, रुचियों और आवश्यकताओं को दृष्टिगत रखते हुए उपयुक्त शिक्षण विधियों, लचीले पाठ्यक्रम तथा सहायक संसाधनों के माध्यम से प्रभावी शिक्षा प्रदान करने पर बल दिया जाता है, जिसका उद्देश्य मात्र शिक्षा प्रदान करना ही नहीं, बल्कि सभी बालकों का समग्र विकास सुनिश्चित करना है।

भारतीय परंपरा में समावेशिता की भावना प्राचीन काल से ही विद्यमान रही है। "वसुधैव कुटुम्बकम्" का सिद्धांत सभी को एक परिवार मानने की प्रेरणा देता है। गुरुकुल प्रणाली में भी विभिन्न पृष्ठभूमियों के विद्यार्थी साथ मिलकर शिक्षा प्राप्त करते थे। महात्मा गांधी ने 'नई तालीम' के माध्यम से समान और कार्य-आधारित शिक्षा पर बल दिया, जबकि स्वामी विवेकानंद ने शिक्षा को व्यक्ति के अंतर्निहित सामर्थ्य के विकास का माध्यम माना। इस प्रकार समावेशी शिक्षा आधुनिक आवश्यकता होने के साथ-साथ भारतीय परंपरा का भी अभिन्न अंग है।

वर्तमान राष्ट्रीय शिक्षा नीति (2020) में समावेशिता :- राष्ट्रीय शिक्षा नीति (2020) समावेशी शिक्षा की दिशा में एक सकारात्मक एवं परिवर्तनकारी कदम है (जहाँ और आफ़ताब, 2024)। यह नीति न केवल शिक्षा प्रणाली को उन्नत बना रही है, अपितु इसमें भारतीय संविधान के मूल्यों को भी आत्मसात किया गया है (यादव, 2024)। इसमें स्पष्ट रूप से कहा गया है कि प्रत्येक बालक को जन्म से ही गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्राप्त करने का समान अवसर प्राप्त होना चाहिए। राष्ट्रीय शिक्षा नीति के प्रमुख प्रावधानों में निम्नलिखित समावेशी तत्त्व उल्लेखनीय हैं—

1. सार्वभौमिक पहुँच— प्रत्येक बालक की शिक्षा तक पहुँच सुनिश्चित करने हेतु बालकों का विद्यालयों में नामांकन एवं उपस्थिति सुनिश्चित करने तथा सुगम्य भारत अभियान (पाठक, ए. 2016) जैसे कार्यक्रम प्रारम्भ किए गए हैं।
2. बहुभाषा-भाषी शिक्षा— सभी बालकों के लिए मातृभाषा, स्थानीय भाषा तथा सांकेतिक भाषा में शिक्षा सामग्री उपलब्ध कराने का प्रावधान किया गया है।
3. शिक्षक प्रशिक्षण— समावेशी शिक्षा हेतु शिक्षकों के प्रशिक्षण में विशेष बल दिया गया है जिससे वे कक्षा में विविध आवश्यकताओं वाले बालकों को उनकी आवश्यकता को दृष्टिगत रखते हुए प्रभावी ढंग से पढ़ा सकें।
4. डिजिटल एवं सहायक उपकरण : विशिष्ट आवश्यकताओं वाले बालकों के लिए डिजिटल सामग्री, ब्रेल पुस्तकें, श्रवण यंत्र, टेक्स्ट-टू-स्पीच सॉफ्टवेयर आदि का प्रावधान किया गया है।

5. संवेदनशील विद्यालय वातावरण— विद्यालयों में रैंप, संसाधन कक्ष, विशेष संसाधन कक्ष तथा मनोवैज्ञानिक परामर्श की व्यवस्था को अनिवार्य बनाया गया है।

इस प्रकार राष्ट्रीय शिक्षा नीति (2020) के अंतर्गत केवल नीतिगत ही नहीं अपितु व्यावहारिक क्रियान्वयन हेतु भी ठोस कदम उठाए हैं। यह नीति इस तथ्य की पुष्टि करती है कि शिक्षा का अधिकार तभी सार्थक होता है, जब वह सभी के लिए सहज रूप से उपलब्ध हो। प्रारंभ में ही विद्यार्थियों में समावेशिता के प्रति संवैधानिक मूल्यों का विकास करके उनके जीवन में सफलता सुनिश्चित की जा सकती है। यह नीति देश के भविष्य हेतु एक महत्वपूर्ण निवेश है, क्योंकि एक समावेशी शिक्षा प्रणाली भविष्य में एक समावेशी, न्यायसंगत एवं प्रगतिशील समाज का निर्माण कर सकती है।

समावेशी शिक्षा के समक्ष विद्यमान चुनौतियाँ— 'दिव्यांगता' शब्द के साथ प्रायः एक नकारात्मक अर्थ जुड़ा हुआ है किन्तु सभी परिस्थितियों में यह सत्य नहीं है। दिव्यांग व्यक्तियों को पृथक श्रेणी में रखना न केवल अपराध है, अपितु मूर्खता भी है। प्रत्येक व्यक्ति वैयक्तिक भिन्नताओं की दृष्टि से अद्वितीय है। समावेशी शिक्षा के अंतर्गत सामाजिक दृष्टिकोण, संसाधन, अवसर, विद्यार्थी—शिक्षक अनुपात, अभिभावक जागरूकता आदि प्रमुख बाधाएँ हैं जिसके समाधान हेतु समावेशी, साक्ष्य—आधारित एवं सहभागी दृष्टिकोण अनिवार्य है—

क्र. सं.	चुनौती के आयाम	विद्यमान स्थिति
1.	सामाजिक दृष्टिकोण	पूर्वाग्रह, दया, हीनता की भावना
2.	सहायक उपकरणों की कमी	ब्रेल, श्रवण यंत्र, ICT उपकरण की अनुपलब्धता
3.	आधारभूत संरचना का अभाव	सरकारी विद्यालयों में रैंप, सुलभ शौचालय, अनुकूलित फर्नीचर का अभाव
4.	छात्र—शिक्षक अनुपात	विद्यार्थी—शिक्षक अनुपात में विसंगतियाँ
5.	विद्यालय—गृह सहयोग का अभाव	अभिभावक—शिक्षक संवाद की कमी

अर्थात् दिव्यांगता एक भिन्न क्षमता है, न कि न्यूनता। इस मूलभूत सत्य को आधार बनाकर सामाजिक दृष्टिकोण, संसाधन, अवसर, छात्र—शिक्षक अनुपात एवं विद्यालय—गृह सहयोग की विद्यमान चुनौतियों का समाधान एक समावेशी, साक्ष्य—आधारित एवं सहभागी दृष्टिकोण से किया जाना अनिवार्य है।

समावेशी शिक्षा के लाभ :- समावेशी शिक्षा केवल विशिष्ट आवश्यकता वाले बच्चों को सामान्य कक्षा में स्थान देने की प्रक्रिया मात्र नहीं है, वरन् एक ऐसी शैक्षिक दर्शन है जो सभी शिक्षार्थियों के सर्वांगीण विकास, सामाजिक न्याय एवं समान अवसर को सुनिश्चित करता है जिसके निम्नलिखित बहुआयामी लाभ हैं—

क्र. सं.	लाभ	विवरण
1.	सभी विद्यार्थियों के शैक्षिक उपलब्धि में वृद्धि	सामान्य कक्षा में शैक्षिक अपेक्षाएँ, अनुकूलित शैक्षणिक वातावरण एवं साधियों का सकारात्मक प्रभाव
2.	आत्मविश्वास, आत्मसम्मान एवं सामाजिक कौशल का विकास	इसके द्वारा बालकों में स्वीकार्यता, सम्मान एवं सतत अनुभव द्वारा आत्मविश्वास एवं आत्मसम्मान तथा सामाजिक अंतःक्रिया की क्षमता के विकास द्वारा सामाजिक समायोजन की भावना को बढ़ाया जा सकता है।
3.	विविधता के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण	इससे सामान्य बालक एवं विशिष्ट बालक दोनों ही एक—दूसरे को स्वीकार करते हैं तथा सामान्य बालक दिव्यांगता के प्रति संवेदनशील बनते हैं।
4.	सामाजिक एवं नेतृत्व कौशल में वृद्धि	विभिन्न आवश्यकताओं वाले साधियों के साथ सहकारी अधिगम से बच्चों में सामाजिक कौशल (सहानुभूति, संचार, सहयोग) एवं नेतृत्व कौशल (निर्णय लेना, समस्या—समाधान, प्रेरणा) का समग्र विकास होता है। साथ ही, प्रारंभिक शिक्षा से विविधताओं के साथ जीने का अभ्यास एक समावेशी, सहिष्णु एवं लोकतांत्रिक समाज की सुदृढ़ आधारशिला का निर्माण करता है।

समावेशी शिक्षा का लाभ केवल विशिष्ट आवश्यकता वाले बालकों तक ही सीमित नहीं हैं, अपितु यह समग्र शैक्षिक गुणवत्ता, सामाजिक सामंजस्य एवं आर्थिक विकास का एक सशक्त माध्यम है, जिसका लाभ व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र तीनों स्तरों पर प्राप्त होता है।

भारतीय परिप्रेक्ष्य में सुझाव :- भारतीय परिप्रेक्ष्य में समावेशी शिक्षा के लाभ केवल विशिष्ट आवश्यकता वाले बालकों तक सीमित नहीं हैं, बल्कि यह संपूर्ण शिक्षा प्रणाली को अधिक प्रभावी, संवेदनशील एवं न्यायसंगत बनाती है। यह बहुभाषी एवं बाल-केंद्रित शिक्षण पद्धतियों के माध्यम से सभी विद्यार्थियों की विविध आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए शैक्षिक गुणवत्ता में वृद्धि करती है। समावेशी कक्षाएँ बच्चों में सहानुभूति, सहयोग और आपसी सम्मान की भावना विकसित करती हैं, जिससे जाति, धर्म, लिंग एवं अक्षमता से संबंधित भेदभाव कम होता है और सामाजिक सामंजस्य को बढ़ावा मिलता है। इसके अतिरिक्त दिव्यांगजन अधिनियम के प्रभावी क्रियान्वयन के साथ-साथ कौशल विकास एवं व्यावसायिक प्रशिक्षण कार्यक्रमों का समुचित विस्तार, विशेष आवश्यकता वाले व्यक्तियों को आत्मनिर्भर बनने में सहायता करता है। इससे उनकी रोजगार क्षमता बढ़ती है, जो न केवल उनके व्यक्तिगत जीवन स्तर को सुधारता है, बल्कि देश की आर्थिक प्रगति में भी महत्वपूर्ण योगदान देता है। इस प्रकार, समावेशी शिक्षा व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र तीनों स्तरों पर सकारात्मक परिवर्तन लाने का एक सशक्त माध्यम है, जो समान अवसर, सामाजिक न्याय एवं सतत विकास की दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

शैक्षिक निहितार्थ :- समावेशी शिक्षा मात्र एक शैक्षिक अवधारणा नहीं वरन् एक मानवीय दृष्टिकोण है जो सिखाती है कि मात्र नीतियाँ ही नहीं अपितु हमें अपने रूढ़िगत सोच में भी सकारात्मक बदलाव अपेक्षित है। इसकी सफलता हेतु शिक्षक प्रशिक्षण, विद्यालयीन सुविधाएँ, छात्र-शिक्षक का उचित अनुपात, अभिभावकों का सहयोग तथा समाज का सकारात्मक दृष्टिकोण आदि का एक साथ होना आवश्यक एवं अनिवार्य है। इस दिशा में राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 एक सकारात्मक एवं परिवर्तनकारी कदम है। शिक्षित नागरिक ही राष्ट्र को प्रगति के पथ पर अग्रसर कर सकते हैं और यह प्रगति तभी संभव है जब शिक्षा सभी के लिए सरल, समान, सुलभ और समावेशी हो, परंतु केवल नीतियाँ ही पर्याप्त नहीं हैं अपितु हमें अपनी सोच की रूढ़ियों को भी तोड़ना होगा तब ही समावेशी शिक्षा अपने वास्तविक उद्देश्य को प्राप्त कर सकेगी।

संदर्भ-सूची :-

1. अहुजा ए. (2020), यूनिवर्सल डिजाइन ऑफ लर्निंग फॉर इफेक्टिव क्लासरूम <https://www.education.gov.in/shikshakparv/docs/Anupam-Ahuja.pdf> से अप्रैल 1, 2026 को पुनर्प्राप्त।
2. जहाँ, टी. एवं आफताब, एस. (2024). राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के परिप्रेक्ष्य में सभी के लिए अधिगम. भारतीय आधुनिक शिक्षा, 45(1 एवं 2), 42-52- <https://ncert.nic.in/pdf/publication/journalsandperiodicals/bhartiyaadhunikshiksha/BAS-July-October-2024.pdf> से अप्रैल 11, 2026 को पुनर्प्राप्त।
3. जॉमेटियन विश्व सम्मेलन, थाईलैंड (1990). <https://bice.org/app/uploads/2014/10/unesco&world-declaration-on-education-for-all-jomtien-thailand-pdf> से फरवरी 15, 2026 को पुनर्प्राप्त।
4. दिव्यांगजन अधिकार अधिनियम (2016 का अधिनियम संख्यांक 49). <https://cdnbbsr.s3waas.gov.in/s36ee69d3769e832ec77c9584e0b7ba112/uploads/2025/03/202503251422104079-pdf> से मार्च 7, 2026 को पुनर्प्राप्त।
5. पाठक, ए. (2016, मई). सुगम्य भारत अभियान निर्बाध वातावरण और सशक्तीकरण की राह. योजना, 60(5), 28-29. <http://yojana.gov.in/YHb20May%202016-pdf> से दिसंबर 7, 2025 को पुनर्प्राप्त।
6. यादव, एस. (2024). भारत की राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 और संवैधानिक मूल्य: एक अध्ययन. प्राथमिक शिक्षक, 48(4) 69-77 <https://ncert.nic.in/pdf/publication/journalsandperiodicals/prathmikshikshak/PrathmikShikshakcotober-2024.pdf> से मार्च 17, 2026 को पुनर्प्राप्त।
7. रक्षित, एस. एस. एवं मुखर्जी, एस. (2023). हूज़ डिसेबिलिटी? ए सेंट्रीफ्यूगल क्वेस्ट टू कन्क्रेट द स्टीरियोटाइपिकल व्यूज़ ऑन 'डिसेबिलिटी' जर्नल ऑफ इंडियन एजुकेशन, XLIX (4) 162-170 <https://ncert.nic.in/pdf/publication/journalsandperiodicals/journalofindianeducation/JIE&February-2023-pdf> से मार्च 17, 2026 को पुनर्प्राप्त।
8. राष्ट्रीय शिक्षा नीति (2020). मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार. <https://www.education.gov.in/sites/upload/files/mhrd/files/nep-update/NEP-final-HI-0-pdf> से 9 अप्रैल 2026 को प्राप्त किया।
9. सलामांका विश्व सम्मेलन (1994) <https://www.european-agency&org/sites/default/files/salamanca/statement/and/framework&pdf> से 7 मार्च 2026 को प्राप्त किया।

भारतीय चिंतन और समाज के समकालीन स्वरूप का समाजशास्त्रीय और गांधीवादी विश्लेषण

डॉ. योगेशकुमार करशनभाई चाडसगिया*

भारतीय चिंतन विश्व की प्राचीनतम और समृद्ध विचारधाराओं में से एक है, जिसने हजारों वर्षों से मानव समाज को नैतिकता, आध्यात्मिकता और सामाजिक संतुलन का मार्ग दिखाया है। भारतीय चिंतन की मूल अवधारणा "वसुधैव कुटुंबकम्" पर आधारित है, जिसका अर्थ है कि संपूर्ण विश्व एक परिवार है। इस विचारधारा ने भारतीय समाज को सहिष्णुता, समन्वय और विविधता में एकता का संदेश दिया है। किंतु इक्कीसवीं सदी के समकालीन समाज में सामाजिक संरचनाओं और मूल्यों में तीव्र परिवर्तन देखने को मिल रहा है। वैश्वीकरण, तकनीकी विकास और पूंजीवादी अर्थव्यवस्था ने समाज की पारंपरिक संरचनाओं को चुनौती दी है। इस संदर्भ में भारतीय चिंतन और गांधीवादी दर्शन की प्रासंगिकता को समझना अत्यंत आवश्यक हो जाता है।

समकालीन भारतीय समाज एक संक्रमणकाल से गुजर रहा है जहाँ परंपरा और आधुनिकता के बीच निरंतर द्वंद्व देखने को मिलता है। आधुनिक तकनीक और आर्थिक विकास ने जीवन को सुविधाजनक बनाया है, लेकिन इसके साथ-साथ सामाजिक असमानता, सांस्कृतिक विघटन और नैतिक संकट जैसी समस्याएँ भी उत्पन्न हुई हैं। सूचना प्रौद्योगिकी, इंटरनेट और सोशल मीडिया ने संचार के नए आयाम स्थापित किए हैं, परंतु इनसे सामाजिक संबंधों की प्रकृति भी बदल गई है। परिवार, विवाह, धर्म और शिक्षा जैसी सामाजिक संस्थाएँ अब अपने पारंपरिक स्वरूप से भिन्न दिखाई देती हैं। ऐसे में यह प्रश्न उठता है कि क्या आधुनिकता के इस दौर में भारतीय समाज अपनी सांस्कृतिक पहचान को बनाए रख पाएगा या वह पश्चिमी जीवनशैली के प्रभाव में अपनी जड़ों से दूर होता जाएगा।

भारतीय समाज में हो रहे परिवर्तनों को समझने के लिए समाजशास्त्रीय सिद्धांतों का अध्ययन अत्यंत महत्वपूर्ण है। भारतीय समाजशास्त्री एम.एन. श्रीनिवास ने सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को समझाने के लिए 'सांस्कृतिकरण' की अवधारणा प्रस्तुत की। उनके अनुसार समाज के निम्न वर्ग उच्च वर्ग के रीति-रिवाजों और जीवनशैली को अपनाकर सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। इसके साथ ही उन्होंने 'पश्चिमीकरण' की अवधारणा भी स्पष्ट की, जिसमें पश्चिमी शिक्षा, विज्ञान, तकनीक और जीवनशैली का प्रभाव भारतीय समाज पर दिखाई देता है। समकालीन भारत में ये दोनों प्रक्रियाएँ एक साथ कार्य कर रही हैं। एक ओर लोग अपनी पारंपरिक धार्मिक और सांस्कृतिक पहचान को बनाए रखने का प्रयास कर रहे हैं, वहीं दूसरी ओर आधुनिकता और वैश्वीकरण के प्रभाव से पश्चिमी जीवनशैली को भी अपना रहे हैं। परिणामस्वरूप समाज में एक प्रकार की संकर संस्कृति का विकास हो रहा है, जिसमें परंपरा और आधुनिकता दोनों का मिश्रण दिखाई देता है।

नगरीकरण और औद्योगीकरण ने भी भारतीय समाज की संरचना को गहराई से प्रभावित किया है। पहले संयुक्त परिवार भारतीय समाज की प्रमुख सामाजिक इकाई हुआ करते थे। संयुक्त परिवार केवल आर्थिक सहयोग का माध्यम नहीं था, बल्कि वह सामाजिक सुरक्षा, संस्कार और शिक्षा का भी केंद्र था। आधुनिक समय में रोजगार के अवसरों की तलाश में लोग शहरों की ओर पलायन कर रहे हैं, जिससे संयुक्त परिवारों का विघटन होकर एकल परिवारों का प्रचलन बढ़ गया है। इससे व्यक्तिवाद की प्रवृत्ति तो बढ़ी है, लेकिन सामाजिक संबंधों की गहराई कम होती जा रही है। बुजुर्गों का सामाजिक स्थान भी बदल गया है। पहले वे परिवार के मार्गदर्शक माने जाते थे, किंतु अब कई बार वे अकेलेपन और उपेक्षा का अनुभव करते हैं। बच्चों का समाजीकरण भी पारंपरिक मूल्यों से हटकर डिजिटल माध्यमों पर निर्भर हो गया है।

*अध्यक्ष, समाजशास्त्र विभाग, सरकारी विनयन कॉलेज, बेचराजी।

समकालीन समाज में एक अन्य महत्वपूर्ण समस्या 'सांस्कृतिक विसंगति' की है, जिसे समाजशास्त्री विलियम एफ. ऑगबर्न ने स्पष्ट किया था। उनके अनुसार समाज में भौतिक संस्कृति का विकास बहुत तेजी से होता है, जबकि अभौतिक संस्कृति जैसे नैतिक मूल्य, विचार और सामाजिक मान्यताएँ धीरे-धीरे बदलती हैं। भारतीय समाज में यह विसंगति स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। आधुनिक तकनीक और आर्थिक विकास ने जीवनशैली को बदल दिया है, लेकिन सामाजिक और नैतिक मूल्यों का विकास उसी गति से नहीं हो पाया है। परिणामस्वरूप मानसिक तनाव, सामाजिक संघर्ष और नैतिक पतन जैसी समस्याएँ उत्पन्न हो रही हैं। ऐसी परिस्थितियों में महात्मा गांधी का चिंतन समकालीन समाज के लिए एक महत्वपूर्ण मार्गदर्शक सिद्ध हो सकता है। गांधीजी का दर्शन केवल राजनीतिक स्वतंत्रता तक सीमित नहीं था, बल्कि वह एक व्यापक सामाजिक और आर्थिक दर्शन था। उन्होंने 'सर्वोदय' और 'अंत्योदय' की अवधारणाओं के माध्यम से समाज के समग्र विकास की बात कही। गांधीजी के अनुसार किसी भी समाज की प्रगति का वास्तविक मापदंड यह है कि समाज के सबसे कमजोर और वंचित वर्ग का जीवन स्तर कितना सुधरा है। आज के भारत में जहाँ आर्थिक विकास की गति तेज है, वहीं अमीर और गरीब के बीच की खाई भी बढ़ती जा रही है। गांधीवादी सर्वोदय का सिद्धांत हमें यह सिखाता है कि विकास तभी सार्थक है जब वह समावेशी और न्यायपूर्ण हो।

गांधीजी ने 'ट्रस्टीशिप' का सिद्धांत भी प्रस्तुत किया, जिसके अनुसार धन और संसाधनों का संचय करने वाला व्यक्ति उनका पूर्ण स्वामी नहीं बल्कि समाज का न्यासी होता है। उसे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद शेष संसाधनों का उपयोग समाज के कल्याण के लिए करना चाहिए। आधुनिक समय में कॉर्पोरेट सोशल रिस्पॉन्सिबिलिटी की अवधारणा इसी सिद्धांत का आधुनिक रूप मानी जा सकती है। यदि उद्योगपति और आर्थिक संस्थाएँ सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना से कार्य करें तो आर्थिक असमानता को काफी हद तक कम किया जा सकता है।

शिक्षा के क्षेत्र में भी गांधीजी के विचार अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। उन्होंने 'नई तालीम' की अवधारणा प्रस्तुत की जिसमें शिक्षा को केवल साक्षरता तक सीमित न रखकर व्यक्तित्व निर्माण का माध्यम माना गया। गांधीजी के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य के मस्तिष्क, हृदय और हाथकृतीनों का समन्वित विकास होना चाहिए। वर्तमान शिक्षा प्रणाली में डिग्री प्राप्त करना ही मुख्य उद्देश्य बन गया है, जिससे बेरोजगारी और निराशा जैसी समस्याएँ बढ़ रही हैं। यदि शिक्षा को व्यावहारिक कौशल, नैतिक मूल्यों और सामाजिक उत्तरदायित्व से जोड़ा जाए तो यह समाज के समग्र विकास में अधिक प्रभावी भूमिका निभा सकती है।

गांधीजी का ग्राम स्वराज्य का विचार भी आज अत्यंत प्रासंगिक है। उनका मानना था कि भारत की वास्तविक शक्ति उसके गाँवों में निहित है। उन्होंने विकेंद्रीकरण और स्थानीय स्वशासन पर बल दिया। पंचायती राज व्यवस्था इसी विचार का आधुनिक रूप है। यदि ग्रामीण क्षेत्रों में आर्थिक अवसर, शिक्षा और स्वास्थ्य सुविधाएँ विकसित की जाएँ तो शहरों की ओर हो रहा अत्यधिक पलायन रोका जा सकता है और ग्रामीण समाज आत्मनिर्भर बन सकता है।

समकालीन समाज में उपभोक्तावाद एक बड़ी समस्या के रूप में उभर रहा है। आधुनिक बाजार व्यवस्था यह संदेश देती है कि अधिक से अधिक वस्तुओं का उपभोग ही सुख और सफलता का प्रतीक है। इससे समाज में दिखावे की संस्कृति और प्रतिस्पर्धा बढ़ती जा रही है। इसके विपरीत भारतीय चिंतन 'अपरिग्रह' और संतोष का संदेश देता है। उपनिषदों में कहा गया है कि मनुष्य को त्याग और संयम के साथ जीवन जीना चाहिए। गांधीजी का कथन कि "पृथ्वी पर हर व्यक्ति की जरूरतों के लिए पर्याप्त संसाधन हैं, लेकिन किसी एक के लालच के लिए नहीं", आज भी अत्यंत प्रासंगिक है। वैश्वीकरण ने विश्व को एक वैश्विक गाँव में परिवर्तित कर दिया है, लेकिन इसके साथ ही सांस्कृतिक पहचान का संकट भी उत्पन्न हुआ है। एक ही प्रकार का भोजन, पहनावा और जीवनशैली अपनाने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। समाजशास्त्री इसे सांस्कृतिक समरूपीकरण कहते हैं। भारतीय चिंतन इस प्रवृत्ति का संतुलित समाधान प्रस्तुत करता है क्योंकि वह विविधता में एकता के सिद्धांत को स्वीकार करता है। भारतीय संस्कृति विभिन्न भाषाओं, परंपराओं और जीवनशैलियों को सम्मान देती है और उन्हें एक व्यापक सांस्कृतिक ढाँचे में समाहित करती है।

तकनीकी विकास के कारण मनुष्य के जीवन में एक नया प्रकार का अलगाव भी उत्पन्न हुआ है। डिजिटल माध्यमों के कारण संचार तो बढ़ा है, लेकिन मानवीय संबंधों की गहराई कम होती जा रही है। व्यक्ति हजारों लोगों से ऑनलाइन जुड़ा होने के बावजूद अकेलापन महसूस करता है। इस स्थिति को समाजशास्त्र में 'लोनली क्राउड' कहा जाता है। भारतीय आध्यात्मिक परंपरा आत्मचिंतन, योग और ध्यान के माध्यम से मानसिक संतुलन और आंतरिक शांति प्राप्त करने का मार्ग दिखाती है। यही कारण है कि आज पूरी दुनिया में योग और ध्यान की लोकप्रियता बढ़ रही है।

पर्यावरणीय संकट भी आधुनिक समाज के सामने एक गंभीर चुनौती है। जलवायु परिवर्तन, प्रदूषण और प्राकृतिक संसाधनों का अत्यधिक दोहन मानव अस्तित्व के लिए खतरा बनता जा रहा है। पश्चिमी विचारधारा ने प्रकृति को केवल संसाधन के रूप में देखा, जबकि भारतीय चिंतन प्रकृति को माता के रूप में मानता है। वृक्षों, नदियों और पर्वतों की पूजा की परंपरा केवल धार्मिक विश्वास नहीं बल्कि पर्यावरण संरक्षण की सांस्कृतिक पद्धति थी। सतत विकास की अवधारणा वास्तव में भारतीय जीवनदृष्टि में प्राचीन काल से विद्यमान रही है।

समकालीन समाज में वैचारिक ध्रुवीकरण भी बढ़ रहा है, विशेषकर सोशल मीडिया के प्रभाव से लोग अपने विचारों को ही अंतिम सत्य मानने लगे हैं। जैन दर्शन का 'अनेकांतवाद' हमें यह सिखाता है कि सत्य के अनेक पक्ष हो सकते हैं और विभिन्न दृष्टिकोणों को समझना आवश्यक है। यदि समाज इस दृष्टिकोण को अपनाए तो वैचारिक संघर्ष और सामाजिक तनाव को कम किया जा सकता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि भारतीय चिंतन और गांधीवादी दर्शन समकालीन समाज की समस्याओं के समाधान में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। आधुनिकता को नकारना संभव नहीं है, लेकिन उसे भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों के साथ संतुलित करना आवश्यक है। विज्ञान और तकनीक का विकास तभी सार्थक होगा जब वह मानव कल्याण और नैतिक मूल्यों के साथ जुड़ा हो।

अंततः यह कहा जा सकता है कि भारतीय चिंतन कोई स्थिर या जड़ परंपरा नहीं है, बल्कि यह एक जीवंत और गतिशील धारा है जो समय के साथ स्वयं को परिवर्तित करती रही है। समकालीन भारतीय समाज के लिए चुनौती यह है कि वह आधुनिकता को अपनाते हुए अपनी सांस्कृतिक और नैतिक विरासत को सुरक्षित रखे। जब भारतीय चिंतन के आध्यात्मिक मूल्यों और गांधीवादी सिद्धांतों का समन्वय आधुनिक समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण के साथ किया जाएगा, तब एक ऐसा संतुलित और मानवीय समाज स्थापित किया जा सकेगा जो न केवल भारत के लिए बल्कि संपूर्ण विश्व के लिए आदर्श बन सके।

संदर्भ सूची :-

1. गांधी, एम.के. (1909). हिंद स्वराज. नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद।
2. श्रीनिवास, एम.एन. (1966). Social Change in Modern India- यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस।
3. सिंह, योगेंद्र. (1973). Modernization of Indian Tradition- थॉमसन प्रेस, दिल्ली।
4. राधाकृष्णन, एस. (1927). The Hindu View of Life- एलेन एंड अनविन।
5. ओबर्न, डब्ल्यू.एफ. (1922). Social Change- ह्युएबश, न्यूयॉर्क।
6. दुबे, एस.सी. (1992). Understanding Change- विकास पब्लिशिंग हाउस।
7. कपाड़िया, के.एम. (1966). Marriage and Family in India- ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
8. मुखर्जी, राधाकमल. (1951). The Dynamics of a Rural Society. बर्लिन।
9. अम्बेडकर, बी.आर. (1936). Annihilation of Caste- (भारतीय समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य के लिए पूरक संदर्भ)।
10. गांधी, एम.के. (1927). सत्य के प्रयोग (आत्मकथा). नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद।
11. शर्मा, के.एल. (1997). Social Stratification in India. मनोहर पब्लिशर्स।
12. भारत सरकार. (2020). राष्ट्रीय शिक्षा नीति (NEP) रिपोर्ट. शिक्षा मंत्रालय।

नारी चिंतन का भारतीय-ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य (समीक्षात्मक-अनुशीलन)

डॉ. आकांक्षा अग्निहोत्री*

शोध-सार :- “नारी चिंतन का भारतीय-ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य : एक समीक्षात्मक अनुशीलन” शीर्षक के अंतर्गत प्रस्तुत यह शोध भारतीय परंपरा में नारी के स्वरूप, महत्ता एवं सामाजिक भूमिका का बहुआयामी विश्लेषण करता है। इस अध्ययन में वैदिक साहित्य, उपनिषद, ब्राह्मण ग्रंथ, आरण्यक, रामायण, महाभारत, पुराण तथा मनुस्मृति जैसे प्राचीन ग्रंथों के साथ-साथ उत्तरकालीन साहित्यिक कृतियों के आधार पर नारी की अवधारणा को समझने का प्रयास किया गया है। ‘नारी’ शब्द की व्युत्पत्ति से स्पष्ट होता है कि वह आनंददायिनी, सृजनशील एवं संवेदनशील सत्ता है, जो समाज के निर्माण में केंद्रीय भूमिका निभाती है। भारतीय परंपरा में नारी को केवल जैविक अस्तित्व न मानकर ‘शक्ति’, ‘मातृस्वरूपा’ और ‘अर्धांगिनी’ के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। विनोबा भावे और महात्मा गांधी जैसे विचारकों ने भी सामाजिक परिवर्तन में नारी की निर्णायक भूमिका को स्वीकार किया है।

यह अध्ययन स्पष्ट करता है कि नारी संस्कारों की संवाहक, संस्कृति की संरक्षिका और समाज की नैतिक आधारशिला है। वह परिवार, समाज और राष्ट्र के निर्माण में सक्रिय योगदान देती है। साथ ही, त्याग, करुणा, सहनशीलता और ममता जैसे गुणों के माध्यम से वह सामाजिक संतुलन बनाए रखती है। अतः यह शोध भारतीय नारी चिंतन को ऐतिहासिक निरंतरता में रखते हुए उसकी वर्तमान प्रासंगिकता को रेखांकित करता है तथा नारी सशक्तिकरण के लिए सांस्कृतिक एवं वैचारिक आधार प्रदान करता है।

की-वर्ड :-नारी, भारतीय संस्कृति, इतिहास, नारी चिंतन, शक्ति, मातृत्व, अर्धांगिनी, संस्कार, समाज, सशक्तिकरण, समानता, परंपरा, धर्मग्रंथ, शिक्षा, नैतिकता, करुणा, त्याग, संस्कृति संरक्षण, स्त्री-भूमिका, राष्ट्रनिर्माण।

प्रस्तावना :- भारतीय संस्कृति में नारी का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण, सम्माननीय एवं बहुआयामी रहा है। प्राचीन काल से लेकर आधुनिक युग तक नारी को केवल एक सामाजिक इकाई के रूप में नहीं, बल्कि सृजन, संवेदना और शक्ति के प्रतीक के रूप में देखा गया है। भारतीय वाङ्मयकृतिशेषतः वेद, उपनिषद, ब्राह्मण ग्रंथ, आरण्यक, रामायण, महाभारत, पुराण और स्मृतियों में नारी के विविध स्वरूपों का समृद्ध और गहन चित्रण मिलता है। ‘नारी’ शब्द की व्युत्पत्ति ही उसके मूल स्वरूप को उद्घाटित करती है, जिसमें वह आनंद प्रदान करने वाली, जीवन को संतुलित करने वाली और सृजनशील शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित है। भारतीय समाज में वह पुत्री, बहन, पत्नी और माता के रूप में विभिन्न भूमिकाएँ निभाते हुए न केवल परिवार का संचालन करती है, बल्कि समाज के नैतिक और सांस्कृतिक ढांचे को भी सुदृढ़ बनाती है। “यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते” जैसी अवधारणाएँ यह प्रमाणित करती हैं कि नारी के सम्मान को समाज की समृद्धि और उन्नति से जोड़ा गया है। भारतीय चिंतन में ‘अर्धनारीश्वर’ की अवधारणा स्त्री-पुरुष के समन्वय और समानता का दार्शनिक आधार प्रस्तुत करती है। विनोबा भावे के अनुसार स्त्री और पुरुष परस्पर पूरक हैं, और दोनों की संयुक्त शक्ति से ही समाज का संतुलन संभव है। इसी प्रकार स्वामी विवेकानंद ने भी नारी के उत्थान को राष्ट्र की प्रगति का मापदंड माना है।

भारतीय संदर्भ में नारी के स्वरूप को समझने के लिए वैदिक ग्रंथों, उपनिषदों, ब्राह्मण ग्रंथों, आरण्यकों, रामायण, महाभारत, पुराणों, मनुस्मृति का एक समेकित अध्ययन आवश्यक है। साथ ही, कालिदास से लेकर आज तक के महत्वपूर्ण रचनाकारों की रचनाओं में भी भारतीय नारी के स्वरूप को समझा जा सकता है। लेकिन सबसे पहले हमें ‘नारी’ शब्द के समेकित अर्थ को समझने की आवश्यकता है।

*पूर्व-शोधार्थी, पी. जी. इतिहास विभाग, सरदार पटेल विश्वविद्यालय, वल्लभविद्यानगर, आनंद।

नारी शब्द की व्युत्पत्ति :- पुरुषवाचक 'नृ' शब्द से "नृनरयोवृद्धिश्च" इस वार्तिक के द्वारा 'डी' प्रत्यय तथा 'नृ' शब्द के ऋकार को 'आर' वृद्धि करने पर 'नारी' शब्द सिद्ध होता है। इस प्रकार निष्पन्न 'नारी' शब्द का अर्थ होता है— "नृणाति आनंदं ददाति इति नारी", अर्थात् जो आनंद प्रदान करने वाली है, वही नारी है। उक्त अर्थ की संगति स्त्रियों में स्वतः सिद्ध है।

एक नारी ही पुत्री के रूप में अपने माता-पिता को आनंद प्रदान करती है, बहन के रूप में अपने भाइयों को आनंद देती है, पत्नी के रूप में पति को आनंद प्रदान करती है तथा माता के रूप में अपनी संतान को सुख देती है। इस प्रकार, एक स्त्री अपने संपूर्ण जीवन में अपने संपर्क में आने वाले सभी लोगों को सुख प्रदान करती है। अतः 'स्त्री' शब्द के लिए 'नारी' शब्द का प्रयोग उचित है।

नारी की उपादेयता :- सामाजिक दृष्टि से नारी किसी समाज के संचालन एवं निर्वहन में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। वह जननी, पत्नी, बहन, पुत्री के रूप में सामाजिक क्षेत्र में व्यक्ति को दिशा प्रदान करती है। प्रत्येक बालक की प्रथम पाठशाला उसकी माता होती है। बालक को संस्कार माता अपने गर्भ से ही प्रदान करना प्रारंभ कर देती है। जो संस्कार माता उसे प्रदान करती है, वे जीवन पर्यंत उसके साथ रहते हैं।

इन संस्कारों के प्रभाव से ही व्यक्ति अपने कुल, वंश, समाज एवं राष्ट्र को निरंतर उन्नति की ओर अग्रसर करते हुए स्वयं का विकास करता है। हमारे भारतीय समाज में पत्नी को 'अर्धांगिनी' कहा जाता है, जो कि मौलिक रूप से 'अर्धनारीश्वर' से लिया गया है। जिस प्रकार शिव-शक्ति एक हैं, उसी प्रकार पति-पत्नी भी एक होते हैं। विनोबा जी के अनुसार "भारत में केवल कृष्ण का नाम नहीं लिया जाता, बल्कि राधा-कृष्ण कहा जाता है। शिव और शक्ति-कृदोनों को एक साथ मिलाकर हम चिंतन करते हैं। इसके फलस्वरूप, एक ऐसा विलक्षण एवं विचित्र चित्र हिंदुस्तान में देखने को मिलता है, जिसकी कल्पना दुनिया के किसी चित्रकार ने नहीं की होगी। वह है अर्धनारी नटेश्वर का चित्र। यह हिंदुस्तान की अद्वितीय कल्पना है, जिसमें अपार प्रतिभा समाहित है। स्त्रियों के गुण न केवल स्त्रियों में प्रकट होते हैं, बल्कि पुरुषों में भी होते हैं।"¹ यदि यह कहा जाए कि समाज को सामाजिक बंधनों एवं नैतिक मर्यादाओं में बांधने और उन नियमों का पालन करवाने का कार्य नारी ही करती है, तो यह कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

विनोबा जी के अनुसार, "समाज को बदलने का कार्य स्त्री ही कर सकती है। वह ज्ञान प्राप्त कर इस समाज के दोषों को दूर कर सकती है। स्त्रियाँ वीरांगना, राज्य मर्मज्ञ, भक्त एवं साहित्यकार भी रही हैं।"² समाज में जो भी दुर्गुण या अवगुण व्याप्त हैं, उन्हें समाप्त करने या परिवर्तित करने की शक्ति नारी के ही पास है, क्योंकि नारी के पास अहिंसा रूपी शस्त्रकृप्रेम है, जो हृदय को परिवर्तित कर सकता है। संभवतः यही कारण रहा कि महात्मा गांधी जी ने अपने प्रत्येक आंदोलन में नारी का आह्वान किया, क्योंकि वे जानते थे कि शक्ति स्वरूप नारी ही हृदय परिवर्तन में सहायक हो सकती है।

नारी की महत्ता :- किसी भी समाज की कल्पना नारी की अनुपस्थिति में संभव नहीं है, क्योंकि नारी ही वह शक्ति है जो परिवार, कुल, वंश, समाज, संस्कृति एवं देश को भविष्य प्रदान करती है। भारतीय समाज में नारी को एक महत्वपूर्ण एवं अतुलनीय पद तथा प्रतिष्ठा प्राप्त है। हमारे यहाँ नारी को शक्ति रूप में देखा जाता है। वह आदि शक्ति, जगत जननी, शेरों वाली मां का स्वरूप है। वह संसार की सभी स्त्रियों में विद्यमान है, वह परमाया है, और उन्हीं की शक्ति से संसार संचालित होता है। यही कारण है कि स्त्रियों को संसार का कर्ता माना गया है।

भारतीय समाज में नारी को शक्ति स्वरूप मानते हुए कन्या पूजन का भी विधान है, और पुत्री के कन्यादान का महत्व बताया गया है। ऐसा कहा जाता है कि यदि इस जगत में सबसे बड़ा दान कोई है, तो वह कन्यादान है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में नारी को देवतुल्य मानते हुए उसकी गरिमा बनाए रखने एवं उसे सम्मान देने की परंपरा है।

"यत्र नार्यस्तु पूज्यंते रमन्ते तत्र देवताः।

यत्रैतास्तु न पूज्यंते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥"

अर्थात्, जहाँ नारियों की पूजा होती है, वहाँ देवता निवास करते हैं, और जहाँ इनका सम्मान नहीं होता, वहाँ सारी क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं।³ महर्षि मनु ने मां के स्थान की गरिमा को बताते हुए लिखा है—

“उपाध्यायान् दशाचार्यः आचार्याणां शतं पिता ।
सहस्रं तु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते ।।”⁴

अर्थात् दस उपाध्यायों की तुलना में आचार्य, सौ आचार्यों की तुलना में पिता और सहस्र पिताओं की तुलना में माता का गौरव अधिक है। जिस समाज में ऐसी विचारधारा व्याप्त हो, वहाँ नारी के महत्व का सहज ही आकलन किया जा सकता है।

उपनिषद में लिखा है— “मातृ देवो भव, पितृ देवो भव।” अर्थात्, माता देवता है, पिता भी देवता है। महाभारत में लिखा हैकृ “माता को पृथ्वी से भी श्रेष्ठ कहा गया है।”⁵ शतपथ ब्राह्मण कहता है कि— “माता के रूप में स्त्री, शिशु की श्रेष्ठतम आचार्य होती है।”⁶ इसके अतिरिक्त, देवी पुराण और मार्कंडेय पुराण में भी शक्ति और नारी देवी की महिमा का विस्तार से वर्णन मिलता है। भारतीय संस्कृति के अनुसार, विश्व के निर्माण में नर और नारी, अर्थात् स्त्री-पुरुष की संयुक्त शक्ति का योगदान रहा है। नारी को पुरुष की शक्ति माना गया है, और बिना शक्ति के पुरुष के लिए कुछ भी संभव नहीं है। विद्या निवास मिश्र लिखते हैंकृ “हमारी संस्कृति पुरुष-चित्त से अधिक महत्व नारी-चित्त को देती आई है, क्योंकि वह करुणा को सबसे बड़ा मानवीय मूल्य मानती आई है। करुणा की साधनावस्था में ही मनुष्य जन्म की सार्थकता होती है। यह करुणा संपूर्ण रूप से तभी सधती है, जब अपना दुःख, अपना सुख, अपनी चाह सब बिसर जाएँ और दूसरे का दुःख, दूसरा सुख, अपनी चाह बन जाए। यह पुरुष-चित्त से नहीं सधता, यह सधता है स्त्री-चित्त से, और स्त्री-चित्त की भी पूर्णता है मातृ-चित्त।”⁷

इस प्रकार, संस्कृति को पोषित करने और पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे बढ़ाने में नारी का महत्वपूर्ण योगदान है। विश्व की किसी भी अन्य संस्कृति में नारी को सृजन की देवी नहीं माना गया; उसे भोग्या एवं वस्तु के रूप में देखा गया है। परंतु भारतीय परंपरा में नारी को देवी रूप में मान्यता प्राप्त है। नारी को ईश्वर ने पूर्ण रूप में इस संसार में भेजा है। नारी ही इस संसार को चलायमान करने वाली शक्ति है। इस प्रकार, नारी ही संस्कृति की रक्षक है, क्योंकि वही संस्कारों को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक स्थानांतरित करती है।

नारी के महत्व का प्रतिपादन :- भारतीय संदर्भ में नारी त्याग एवं तपस्या की मूर्ति है। जितना त्याग भारतीय नारी में देखने को मिलता है, वह अन्य किसी देश में नहीं। भारतीय नारी में धारित्रिक गुणकृदया, करुणा, ममता, त्याग, सहनशीलता आदि स्वाभाविक रूप से विद्यमान हैं। इन्हीं गुणों को हमारे धर्मशास्त्र व्याख्यायित करते हैं, चाहे वह मनुस्मृति हो या रामायण और महाभारत। इन गुणों से परिपूर्ण नारी ही समाज व्यवस्था की केंद्र-बिंदु होती है। नारी ही समाज में व्यवस्था को संचालित करने वाली होती है, क्योंकि समाज को वही चला सकता है, जो स्वयं नैतिक एवं चारित्रिक रूप से उन्नत होकृऔर वह नारी ही है। इस प्रकार, समाज के चरित्र निर्माण का कार्य भी नारी ही करती है। समाज के चरित्र से ही राष्ट्र निर्माण संभव होता है। नारी सृजनकर्ता के रूप में कार्य करती हैकृजहाँ सृजन है, वहीं भविष्य का निर्माण है। यदि कोई देश या राष्ट्र उन्नति कर सकता है, तो वह नारी के शिक्षण, नैतिकता और चरित्र निर्माण के माध्यम से ही संभव है, जो वह आने वाली पीढ़ियों को प्रदान करती है।

इस प्रकार, नारी संस्कृति को संरक्षित एवं संवर्धित भी करती है। सारे लोकगीत महिलाओं को ही याद होते हैं, और वही इन गीतों को आने वाली पीढ़ियों में स्थानांतरित कर लोकभाषा एवं लोकगीतों का संरक्षण भी करती है। इस प्रकार, नारी ही एक राष्ट्र और घर को बना भी सकती है और मिटा भी सकती है। नारी को ही प्रत्येक राष्ट्र की कर्ता एवं धर्ता कहा जा सकता है। स्वामी विवेकानंद का यह कथन उल्लेखनीय है— “किसी भी राष्ट्र की प्रगति का सर्वोत्तम थर्मामीटर है, वहाँ की नारियों का उत्थान। हमें नारियों को ऐसी स्थिति में पहुँचा देना चाहिए, जहाँ वे अपनी समस्याओं को अपने ढंग से स्वयं सुलझा सकें। हमें नारीशक्ति के उद्धारक नहीं, वरन् उनके सेवक और सहायक बनना चाहिए। भारतीय नारियाँ संसार की

अन्य किन्हीं भी नारियों की भाँति अपनी समस्याओं को सुलझाने की क्षमता रखती हैं। आवश्यकता है उन्हें उपयुक्त अवसर देने की। इसी आधार पर भारत के उज्ज्वल भविष्य की संभावनाएँ सन्निहित हैं।⁸

स्वातंत्र्योत्तर इतिहास चिंतन और भारतीय महिलाएं :- स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय समाज और राजनीति में कई बदलाव आए, जिनका प्रभाव इतिहास चिंतन पर भी पड़ा। भारतीय महिलाओं ने न केवल स्वतंत्रता संग्राम में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, बल्कि स्वातंत्र्योत्तर काल में भी उन्होंने समाज, राजनीति और संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों में सक्रिय योगदान दिया। यह लेख स्वातंत्र्योत्तर इतिहास चिंतन में भारतीय महिलाओं की भूमिका, उनके योगदान और उनके समक्ष आने वाली चुनौतियों को समझने की कोशिश करेगा।

स्वतंत्रता के बाद भारतीय इतिहास लेखन और चिंतन में महत्वपूर्ण बदलाव आए। भारतीय समाज में सामाजिक, सांस्कृतिक, और राजनीतिक परिवर्तन के साथ-साथ इतिहास लेखन भी एक नए दृष्टिकोण से देखा जाने लगा। पूर्व ब्रिटिश औपनिवेशिक दृष्टिकोण की आलोचना करते हुए भारतीय इतिहासकारों ने भारतीय इतिहास को आत्मनिर्भर दृष्टिकोण से समझने का प्रयास किया। इस समय का इतिहास चिंतन केवल राजनीतिक घटनाओं और राजवंशों के बारे में नहीं था, बल्कि यह भारतीय समाज की सामाजिक संरचनाओं, महिलाओं की स्थिति, और उनके अधिकारों पर भी ध्यान केंद्रित करने लगा। स्वातंत्र्योत्तर भारतीय इतिहास लेखन ने एक नई दिशा प्राप्त की, जिसमें महिलाओं को विशेष स्थान दिया गया। हालांकि, इस समय तक इतिहास लेखन में महिलाओं का संदर्भ सीमित था, फिर भी भारतीय महिलाएं स्वयं को इतिहास लेखन के इस नए बदलाव में शामिल करने में सफल रही।

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय महिलाएं और इतिहास लेखन :- स्वातंत्र्योत्तर भारत में महिलाओं ने इतिहास लेखन और चिंतन के क्षेत्र में अपनी सशक्त उपस्थिति दर्ज कराई, जिसके परिणामस्वरूप वे केवल इतिहास की विषय-वस्तु तक सीमित नहीं रहीं, बल्कि इतिहासकार, लेखिका और समाज सुधारक के रूप में भी उभरकर सामने आईं। उनके द्वारा रचित लेख, पुस्तकें और वैचारिक हस्तक्षेपों ने समाज में महिलाओं की भूमिका को पुनर्परिभाषित करने का महत्वपूर्ण कार्य किया। स्वतंत्रता के बाद महिला इतिहासकारों ने ऐतिहासिक घटनाओं का पुनर्मूल्यांकन करते हुए महिलाओं के योगदान को नए दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया, जिससे स्वतंत्रता संग्राम और सामाजिक आंदोलनों में उनकी भूमिका अधिक स्पष्ट रूप से सामने आई। पहले जहाँ इतिहास लेखन में महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू, सुभाष चंद्र बोस और लाला लाजपत राय जैसे पुरुष नेताओं को प्रमुखता दी जाती थी, वहीं अब सरोजिनी नायडू, रानी लक्ष्मीबाई, रानी दुर्गावती तथा सावित्रीबाई फुले जैसी महिलाओं के योगदान को भी समान महत्व दिया जाने लगा। इस प्रक्रिया ने न केवल इतिहास लेखन को अधिक समावेशी और संतुलित बनाया, बल्कि महिलाओं की सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक भूमिका को भी सुदृढ़ रूप में स्थापित किया।

इसी क्रम में स्वातंत्र्योत्तर इतिहास चिंतन में लिंग समानता और महिला अधिकारों पर व्यापक विमर्श विकसित हुआ। मीनाक्षी माथुर और वर्षा शंकर जैसी महिला इतिहासकारों ने न केवल अतीत में महिलाओं की भूमिका का पुनर्मूल्यांकन किया, बल्कि वर्तमान समाज में उनकी स्थिति, संघर्ष और संभावनाओं पर भी गंभीर विचार प्रस्तुत किए। उन्होंने लिंगभेद, महिला उत्पीड़न, जातिवाद, दलित महिलाओं की स्थिति, श्रमिक अधिकार, स्वास्थ्य और आत्मनिर्भरता जैसे मुद्दों को इतिहास चिंतन के केंद्र में स्थापित किया। इस प्रकार महिलाएं केवल ऐतिहासिक घटनाओं की व्याख्याता नहीं रहीं, बल्कि सामाजिक चेतना की वाहक और परिवर्तन की प्रेरक शक्ति बन गईं, जिन्होंने यह सुनिश्चित किया कि भारतीय समाज में महिलाओं का योगदान न केवल इतिहास में दर्ज हो, बल्कि उन्हें सम्मानजनक स्थान भी प्राप्त हो।

स्वातंत्र्योत्तर इतिहास चिंतन में समकालीन दौर में महिलाओं का योगदान अत्यंत प्रभावशाली और व्यापक रूप में सामने आया है, जहाँ भारतीय महिला इतिहासकारों और समाजसेवियों ने अपने कार्यों से इतिहास लेखन को नई दिशा प्रदान की है। इंदिरा गांधी, मालती चौधरी तथा शिरीन मिस्त्री जैसी महिलाओं ने न केवल अपनी वैचारिक दृष्टि से इतिहास को प्रभावित किया, बल्कि सामाजिक सुधारों के पक्ष में अपनी सशक्त आवाज़ के माध्यम से इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान भी अर्जित किया। वर्तमान समय में महिलाएं कला,

संस्कृति, साहित्य, राजनीति और अर्थशास्त्र जैसे विविध क्षेत्रों में सक्रिय भूमिका निभाते हुए अपने योगदान से समाज की दिशा निर्धारित कर रही हैं, और उनके इन कार्यों को इतिहासकारों द्वारा दस्तावेजित किया जा रहा है। यह समूची प्रक्रिया इस तथ्य को स्थापित करती है कि स्वातंत्र्योत्तर इतिहास चिंतन में महिलाएं केवल विचारक या विषय-वस्तु भर नहीं हैं, बल्कि वे समाज की वास्तविकताओं को संवेदनशील और यथार्थपरक ढंग से प्रस्तुत करने वाली सशक्त हस्तियाँ हैं। उन्होंने इतिहास को पुरुष-केंद्रित दृष्टिकोण से बाहर निकालकर उसमें विभिन्न वर्गों, विशेषकर महिलाओं के अनुभवों और संघर्षों को स्थान दिया है, जिससे इतिहास लेखन अधिक समावेशी, लोकतांत्रिक और मानवीय बना है; अतः यह कहा जा सकता है कि भारतीय इतिहास लेखन में महिलाओं की भूमिका केवल उनके योगदान की स्वीकृति तक सीमित नहीं, बल्कि यह भारतीय समाज के समग्र विकास और सामाजिक न्याय की दिशा में एक महत्वपूर्ण और निर्णायक कदम है।

निष्कर्ष :- उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय परंपरा में नारी को अत्यंत उच्च एवं गरिमामय स्थान प्राप्त रहा है। वह केवल परिवार की संरक्षिका ही नहीं, बल्कि समाज के नैतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की संवाहक भी है। वैदिक काल से लेकर आधुनिक युग तक नारी को 'शक्ति', 'माता' और 'संस्कारदाता' के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है, जो समाज और राष्ट्र के निर्माण में केंद्रीय भूमिका निभाती है। नारी की उपादेयता उसके त्याग, करुणा, सहनशीलता और सृजनशीलता में निहित है। वह न केवल आने वाली पीढ़ियों को संस्कारित करती है, बल्कि समाज में नैतिक मर्यादाओं को स्थापित करने में भी महत्वपूर्ण योगदान देती है। महात्मा गांधी और स्वामी विवेकानंद जैसे महान विचारकों ने भी नारी के उत्थान को समाज और राष्ट्र की प्रगति के लिए अनिवार्य माना है।

अतः यह कहा जा सकता है कि नारी के सम्मान और शिक्षा के बिना किसी भी समाज का समग्र विकास संभव नहीं है। भारतीय नारी चिंतन आज भी आधुनिक युग के लिए प्रेरणास्रोत है और सामाजिक संतुलन एवं सांस्कृतिक निरंतरता का आधार प्रदान करता है।

संदर्भ सूची :-

1. भावे, विनोबा, स्त्री शक्ति जागरण, परंधाम प्रकाशन, पवनार, 1999, पृष्ठ संख्या- 6।
2. वही, पृष्ठ संख्या -19।
3. पाड़िया, चन्द्रकला, धर्मशास्त्र और स्त्री विमर्श, महिला अध्ययन केंद्र, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, 2007, पृष्ठ संख्या- 179।
4. वही, पृष्ठ संख्या -122।
5. वही, पृष्ठ संख्या- 182।
6. वही, पृष्ठ संख्या -72।
7. मिश्र, विद्या निवास, नदी नारी और संस्कृति, वाणी प्रकाशन, 2007, पृष्ठ संख्या -288।
8. सिंधु, कामराज(गुरु) जी, 21वीं सदी में नारी -विमर्श (दशा और दिशा), संजय प्रकाशन, दिल्ली, 2019, पृष्ठ संख्या -26।

भारतीय चिंतन के परिप्रेक्ष्य में भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास

डॉ. वर्षा तिवारी*

शोध सार :- भगवतीचरण वर्मा का कथा-साहित्य भारतीय चिंतन की गहन परम्परा, सांस्कृतिक मूल्यों और मानवीय मनोविज्ञान का सशक्त प्रतिनिधित्व करता है। उनके उपन्यासों और कहानियों में भारतीय समाज की जटिल संरचना, नैतिक द्वन्द्व, धर्म-अधर्म की समस्या तथा जीवन-मूल्यों का सूक्ष्म विश्लेषण मिलता है। वर्मा जी ने अपने साहित्य में केवल यथार्थ का चित्रण नहीं किया, बल्कि उसे भारतीय दार्शनिक दृष्टि से समझने का प्रयास भी किया है। उनकी प्रसिद्ध कृतियाँ जैसे चित्रलेखा आदि में पाप-पुण्य, भोग-वैराग्य, नियति और कर्म के प्रश्नों को गहराई से उठाया गया है। यह चिंतन भारतीय दर्शनकृविशेषतः गीता, उपनिषद और सांख्य-योग परम्पराकृसे प्रभावित प्रतीत होता है। उनके कथा-साहित्य में व्यक्ति और समाज के बीच संघर्ष, आधुनिकता और परम्परा के बीच द्वन्द्व तथा नैतिक मूल्यों के परिवर्तनशील स्वरूप को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। वर्मा जी का लेखन भारतीय चिंतन को आधुनिक संदर्भों में पुनर्स्थापित करता है।

कुंजी शब्द :- भारतीय चिंतन, कथा-साहित्य, भगवतीचरण वर्मा, संस्कृति, दर्शन, नैतिकता, द्वन्द्व, पाप-पुण्य, नियति, कर्म, समाज, परम्परा, आधुनिकता, मनोविज्ञान, यथार्थ, मूल्य, चेतना, उपन्यास, कथात्मकता, जीवन-दर्शन.

प्रस्तावना :- हिन्दी साहित्य में भगवतीचरण वर्मा का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। वे ऐसे साहित्यकार हैं जिन्होंने भारतीय चिंतन को कथा-साहित्य के माध्यम से प्रभावपूर्ण ढंग से अभिव्यक्त किया। उनका लेखन भारतीय संस्कृति, दर्शन और सामाजिक जीवन के विविध आयामों को समेटे हुए है। भारतीय चिंतन की मूल प्रवृत्ति जीवन को समग्र रूप में देखने की रही है, जिसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थों का संतुलन निहित है। वर्मा जी के कथा-साहित्य में यह समन्वित दृष्टि स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। उनके पात्र केवल सामाजिक यथार्थ के प्रतिनिधि नहीं, बल्कि दार्शनिक प्रश्नों से जूझते हुए मानव के आंतरिक संघर्ष को भी व्यक्त करते हैं। वर्मा जी ने अपने साहित्य में परम्परा और आधुनिकता के बीच उत्पन्न द्वन्द्व को अत्यंत संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत किया है। उनका कथा-साहित्य पाठक को केवल मनोरंजन ही नहीं, बल्कि गहन चिंतन और आत्मविश्लेषण की दिशा भी प्रदान करता है। इस दृष्टि से उनका योगदान हिन्दी कथा-साहित्य में अत्यंत महत्वपूर्ण और प्रासंगिक है।

पतन उपन्यास के माध्यम से भगवतीचरण वर्मा ने भारतीय चिंतन के मूलभूत सिद्धांतोंकृनैतिकता, संयम, पाप-पुण्य और जीवन-संतुलनकृको कथा के रूप में प्रस्तुत किया है। 1928 में प्रकाशित यह कृति उनके उपन्यासकार रूप का प्रारंभिक प्रयास होते हुए भी सामाजिक और दार्शनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इसमें प्रेम-विवाह, स्वच्छन्दता, वर्ग-विभाजन, शोषण तथा प्रदर्शन-प्रियता जैसी समस्याओं को उठाते हुए वर्मा जी ने मानव-जीवन के नैतिक पतन का चित्रण किया है। वाजिद अली शाह के विलासी जीवन को आधार बनाकर उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि भोग-विलास और वासना मनुष्य को अंततः विनाश की ओर ले जाते हैं। भारतीय चिंतन में जहाँ प्रेम को दैवी और शाश्वत माना गया है, वहीं वासना को क्षणिक और असंतोषजनक बताया गया है; यही अंतर इस उपन्यास की केंद्रीय संवेदना है। प्रताप सिंह, रणवीर सिंह, प्रकाशचन्द और भवानीशंकर जैसे पात्रों के माध्यम से मानव की द्वैध प्रवृत्ति और नैतिक संघर्ष को दर्शाया गया है, जहाँ प्रेम और घृणा एक साथ विद्यमान रहते हैं। अंततः उनका पतन इस सत्य की पुष्टि करता है कि आत्मसंयम और नैतिकता के अभाव में जीवन का संतुलन नष्ट हो जाता है। यद्यपि कथानक में शिथिलता और पात्रों में कृत्रिमता दिखाई देती है, फिर भी यह कृति वर्मा जी के औपन्यासिक शिल्प और भारतीय चिंतन की अभिव्यक्ति का महत्वपूर्ण प्रारंभिक आधार है।

* सहायक प्राध्यापक, पं. शम्भुनाथ शुक्ल विश्वविद्यालय, शहडोल, म.प्र.

चित्रलेखा वर्मा जी की सर्वाधिक प्रसिद्ध और बहुचर्चित कृति है, जिसमें भारतीय चिंतन के मूल प्रश्नकृपाप-पुण्य, भोग-वैराग्य, कर्म और जीवन के उद्देश्यकृका गहन दार्शनिक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। 1934 में प्रकाशित इस उपन्यास ने उन्हें व्यापक प्रतिष्ठा दिलाई। इसमें लेखक ने यह प्रश्न उठाया है कि मनुष्य के जीवन का वास्तविक लक्ष्य क्या हैकृयोग, भोग या इच्छाओं की तृप्ति? वर्मा जी इन दोनों के बीच 'माध्यम मार्ग' को सर्वाधिक उपयुक्त मानते हैं। उपन्यास में बीजगुप्त, कुमारगिरि और चित्रलेखा के माध्यम से विभिन्न जीवन-दृष्टियों का प्रतिनिधित्व किया गया है। कुमारगिरि प्रारम्भ में वैराग्य और संयम का प्रतीक है, किंतु अंततः उसका पतन यह सिद्ध करता है कि बाह्य त्याग ही वास्तविक आत्मसंयम नहीं है। दूसरी ओर बीजगुप्त भोगवादी जीवन जीते हुए भी अंततः त्याग और सहानुभूति का परिचय देता है, जिससे भारतीय चिंतन की समन्वयवादी प्रवृत्ति प्रकट होती है। चित्रलेखा, जो एक नर्तकी है, पूरी कथा का केन्द्र बनकर पाप-पुण्य के प्रश्न को जीवंत करती है और यह स्पष्ट करती है कि पाप और पुण्य परिस्थितिजन्य हैं, न कि स्थिर। इस प्रकार 'चित्रलेखा' भारतीय दर्शन की उस उदार और विश्लेषणात्मक दृष्टि को सामने लाती है, जो जीवन को एकांगी न मानकर संतुलन, अनुभव और आत्मबोध के आधार पर समझने का प्रयास करती है।

टेढ़े-मेढ़े रास्ते वर्मा जी की एक महत्वपूर्ण कृति है, जिसमें भारतीय चिंतन की समन्वयवादी और तटस्थ दृष्टि का प्रभावशाली चित्रण मिलता है। 1946 में प्रकाशित इस उपन्यास में तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक और वैचारिक संघर्षों को यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसमें पूँजीवादी एवं रूढ़िवादी वर्ग और नवीन विचारधारा से प्रेरित वर्ग के बीच संघर्ष को दिखाया गया है, जो भारतीय समाज में परिवर्तनशील चेतना का प्रतीक है। रामनाथ और उनके तीन पुत्रोंकृदयानाथ (कांग्रेस), उमानाथ (साम्यवाद) और प्रभानाथ (क्रांतिकारी विचारधारा)कृके माध्यम से विभिन्न राजनीतिक मतों का प्रतिनिधित्व किया गया है। इन पात्रों के वैचारिक टकराव से यह स्पष्ट होता है कि प्रत्येक विचारधारा अपने-अपने ढंग से समाज के हित की आकांक्षा रखती है, किन्तु उनका मार्ग सरल नहीं, बल्कि "टेढ़ा-मेढ़ा" है। भारतीय चिंतन के अनुसार सत्य एकांगी न होकर बहुआयामी होता है। इसी आधार पर वर्मा जी किसी एक वाद का समर्थन न कर तटस्थ दृष्टिकोण अपनाते हैं। उन्होंने गांधीवाद, समाजवाद और क्रांतिकारी विचारों के संघर्ष को समग्रता में प्रस्तुत करते हुए यह सिद्ध किया कि जीवन और समाज की जटिलताओं को समझने के लिए संतुलन और विवेक आवश्यक है।

आखिरी दौंव वर्मा जी की यथार्थवादी दृष्टि का सशक्त उदाहरण है, जिसमें आधुनिक जीवन की भौतिकवादी प्रवृत्तियों और नैतिक विघटन को गहराई से चित्रित किया गया है। 1950 में प्रकाशित यह उपन्यास फिल्मी संसार की बाह्य चकाचौंध के पीछे छिपे शोषण, छल और मानवीय दुर्बलताओं को उजागर करता है। भारतीय चिंतन के अनुसार जीवन में धर्म, नैतिकता और संतुलन का विशेष महत्व है, किन्तु जब मनुष्य धन को ही सर्वोपरि मान लेता है, तब उसका पतन निश्चित हो जाता है। रामेश्वर और चमेली के पात्रों के माध्यम से वर्मा जी ने दिखाया है कि धनलोलुपता और परिस्थितिजन्य विवशताएँ किस प्रकार मनुष्य को नैतिक पतन की ओर ले जाती हैं। चमेली का शोषण और रामेश्वर का जुए तथा सट्टे में पतन आधुनिक समाज की विडम्बनाओं को प्रकट करता है। यहाँ धन केवल साधन नहीं, बल्कि जीवन का लक्ष्य बन जाता है, जो भारतीय जीवन-दृष्टि के विरुद्ध है। यह उपन्यास भारतीय चिंतन की उस चेतावनी को व्यक्त करता है कि भौतिक आकर्षण और लोभ से दूर रहकर ही जीवन में संतुलन और नैतिकता बनाए रखी जा सकती है। वर्मा जी ने यथार्थ चित्रण के माध्यम से आधुनिक समाज की विसंगतियों को उजागर करते हुए पाठक को आत्मचिंतन की ओर प्रेरित किया है।

भूले-बिसरे चित्र वर्मा जी की प्रौढ़ दृष्टि का प्रतिनिधि उपन्यास है, जिसमें भारतीय समाज, संस्कृति और जीवन-मूल्यों के क्रमिक परिवर्तन का व्यापक चित्र प्रस्तुत किया गया है। 1959 में प्रकाशित यह कृति लगभग पचास वर्षों के सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास को समेटे हुए है। भारतीय चिंतन की दृष्टि से इसमें परम्परा और परिवर्तन के द्वन्द्व, संयुक्त परिवार, प्रेम के विविध रूप, नारी की स्थिति, दहेज-प्रथा तथा मानव-मूल्यों के संक्रमण को अत्यंत संवेदनशीलता के साथ चित्रित किया गया है। चार

पीढ़ियोंकृशिवलाल, ज्वालाप्रसाद, गंगाप्रसाद और नवलकिशोरकृके माध्यम से वर्मा जी ने समाज में बदलती मान्यताओं और दृष्टिकोणों को उकेरा है। इन पात्रों के जीवन-संघर्ष और संबंधों के जरिए यह स्पष्ट होता है कि भारतीय समाज निरंतर परिवर्तनशील होते हुए भी अपनी सांस्कृतिक जड़ों से जुड़ा रहता है। प्रेम और जीवन के प्रति प्रत्येक पीढ़ी की भिन्न दृष्टि भारतीय चिंतन की बहुआयामी प्रवृत्ति को दर्शाती है। यह उपन्यास भारतीय जीवन-दर्शन की उस समन्वयकारी दृष्टि को सामने लाता है, जिसमें अतीत, वर्तमान और भविष्य का संतुलित संबंध स्थापित होता है। वर्मा जी ने यथार्थ और संवेदना के माध्यम से मानव जीवन की जटिलताओं को सजीव रूप में प्रस्तुत कर इसे हिन्दी साहित्य की एक महत्वपूर्ण कृति बना दिया है।

सामर्थ्य और सीमा वर्मा जी की प्रौढ़ दृष्टि की प्रतिनिधि कृति है, जिसमें भारतीय चिंतन के मूल सिद्धांतकृमानव-सीमा, प्रकृति की महत्ता और नियतिकृका गहन विवेचन किया गया है। इस उपन्यास में यह प्रतिपादित किया गया है कि मनुष्य चाहे कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, उसकी क्षमता सीमित है और वह प्रकृति तथा नियति से ऊपर नहीं उठ सकता। रतनचन्द्र मकोला, देवलंकर, जोखनलाल, ज्ञानेश्वरराव, शिवानन्द शर्मा और मंसूर अली जैसे पात्र मानव के अहंकार, शक्ति-विश्वास और भौतिक उपलब्धियों का प्रतिनिधित्व करते हैं, जबकि नाहरसिंह के माध्यम से इनकी सीमाओं का उद्घाटन होता है। भारतीय चिंतन में जहाँ 'अहंकार' को पतन का कारण माना गया है, वहीं इस कृति में भी यह सिद्ध होता है कि आत्ममुग्धता और अति-विश्वास अंततः मनुष्य को असफलता की ओर ले जाते हैं। वर्मा जी ने भ्रष्टाचार, सत्ता-लोलुपता और सामाजिक समस्याओं को भी यथार्थ रूप में चित्रित करते हुए यह स्पष्ट किया है कि मानव जीवन का संतुलन तभी संभव है, जब वह अपनी सीमाओं को पहचानकर प्रकृति और नैतिकता के अनुरूप आचरण करे। इस प्रकार यह उपन्यास भारतीय जीवन-दर्शन की उस चेतना को अभिव्यक्त करता है, जो संयम, संतुलन और आत्मबोध पर आधारित है। डॉ. बेचन का मत है, 'किसी भी पात्र के प्रति वर्मा जी कटु या अनुदार नहीं है। उन्होंने हर व्यक्ति के चरित्र का ऐसा सहृदयतापूर्ण मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है कि, उसकी दुर्बलता एवं धृष्टता भी हमें अत्यन्त मानवीय और क्षमा योग्य लगती है।'

थके पाँव वर्मा जी का एक महत्वपूर्ण समस्यामूलक उपन्यास है, जिसमें स्वतंत्रोत्तर भारत के मध्यवर्गीय जीवन की विडम्बनाओं, संघर्षों और मूल्य-संकटों का यथार्थ चित्रण मिलता है। 1963 में प्रकाशित इस कृति में लेखक ने बदलते समय के दबाव में टूटते संयुक्त परिवार, बढ़ती महँगाई, बेरोजगारी, दहेज, भ्रष्टाचार और सिफारिश जैसी समस्याओं को अत्यंत संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत किया है। केशव और उसके परिवार के माध्यम से तीन पीढ़ियों के संघर्ष को दिखाते हुए वर्मा जी ने परम्परा और आधुनिकता के बीच उत्पन्न द्वन्द्व को उजागर किया है। भारतीय चिंतन की दृष्टि से यह उपन्यास इस सत्य को रेखांकित करता है कि जीवन में मूल्यों का परिवर्तन अनिवार्य है, किन्तु उनका संतुलन बनाए रखना आवश्यक है। केशव के आदर्शों का टूटना और नई पीढ़ी की भिन्न सोच यह संकेत देती है कि समाज निरंतर परिवर्तनशील है, जिसे स्वीकारना ही यथार्थ है। यह भारतीय जीवन-दर्शन के उस पक्ष को प्रस्तुत करता है, जिसमें संघर्ष, परिवर्तन और आत्मस्वीकृति के माध्यम से मनुष्य अपने अस्तित्व और मूल्यों को पुनः परिभाषित करता है।

सीधी-सच्ची बातें वर्मा जी की प्रौढ़ अवस्था की एक महत्वपूर्ण कृति है, जिसमें भारतीय चिंतन की यथार्थपरक, तटस्थ और विश्लेषणात्मक दृष्टि का सशक्त परिचय मिलता है। 1968 में प्रकाशित इस उपन्यास में त्रिपुरी काँग्रेस (1939) से लेकर स्वतंत्रता प्राप्ति और महात्मा गांधी की हत्या तक के संक्रमणकालीन भारत का विस्तृत चित्र प्रस्तुत किया गया है। जगत प्रकाश जैसे मध्यवर्गीय पात्र के माध्यम से लेखक ने उस समय की राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों का यथार्थ चित्रण किया है। गांधीवाद, साम्यवाद, समाजवाद और पूंजीवाद जैसी विभिन्न विचारधाराओं का विवेचन करते हुए वर्मा जी किसी एक वाद का समर्थन नहीं करते, बल्कि भारतीय चिंतन की समन्वयवादी और तटस्थ दृष्टि को अपनाते हैं। इस उपन्यास में मानव जीवन के द्वन्द्वकृप्रेम और घृणा, हिंसा और अहिंसा, अच्छाई और बुराईकृको अत्यंत संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार 'सीधी-सच्ची बातें' भारतीय चिंतन की उस व्यापक दृष्टि को अभिव्यक्त करती है, जो यथार्थ, अनुभव और संतुलन के आधार पर जीवन को समझने का प्रयास करती है।

सबहिं नचायत राम गुसाई वर्मा जी की एक महत्वपूर्ण व्यंग्यप्रधान कृति है, जिसमें स्वतंत्र भारत (1948-1958) की राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों का यथार्थ एवं तीक्ष्ण चित्रण प्रस्तुत किया गया है। इस उपन्यास में भारतीय चिंतन के मूल तत्वकर्म, भाग्य और भावनाकृको प्रतीकात्मक रूप में राधेश्याम, जबरसिंह और रामलोचन पाण्डे के पात्रों के माध्यम से व्यक्त किया गया है। रामलोचन पाण्डे के माध्यम से यह प्रतिपादित किया गया है कि मनुष्य अपने कर्मों के फल से बच नहीं सकता, जो भारतीय दर्शन की मूल अवधारणा है। वहीं राधेश्याम के चरित्र द्वारा राजनीति और शोषण की प्रवृत्तियों पर तीखा व्यंग्य किया गया है, जिससे समाज की नैतिक गिरावट उजागर होती है। वर्मा जी ने बुद्धि, भाग्य और भावना के त्रिकोण के माध्यम से जीवन की जटिलताओं को स्पष्ट करते हुए यह सिद्ध किया है कि मनुष्य का जीवन केवल एक तत्व पर आधारित नहीं, बल्कि इन तीनों के संतुलन पर निर्भर है।

प्रश्न और मरीचिका वर्मा जी की एक महत्वपूर्ण अंतर्मुखी और चिंतनप्रधान कृति है, जिसमें स्वतंत्रोत्तर भारत की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्थितियों का गहन विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। 1973 में प्रकाशित इस उपन्यास में लेखक स्वयं एक पात्र के रूप में उपस्थित होकर जीवन के मूल प्रश्नोंकृअस्तित्व, उद्देश्य और मूल्यकृपर विचार करता है। भारतीय चिंतन की परंपरा में प्रश्न और जिज्ञासा को ज्ञान का आधार माना गया है, और इसी दृष्टि से वर्मा जी जीवन को निरंतर प्रश्नों की श्रृंखला के रूप में देखते हैं। इस कृति में मुनाफाखोरी, रिश्वत, जमाखोरी और मूल्यहीनता जैसी सामाजिक विकृतियों का यथार्थ चित्रण करते हुए यह प्रश्न उठाया गया है कि स्वतंत्रता के बाद भी समाज में नैतिक पतन क्यों बना हुआ है। साथ ही, विभिन्न सामाजिक रुढ़ियों और मानसिक जड़ताओं में बँधे भारतीय जीवन की जटिलताओं को भी उजागर किया गया है। यद्यपि उपन्यास में निराशा और द्वंद्व का वातावरण है, फिर भी वर्मा जी भारतीय चिंतन की आशावादी परंपरा के अनुरूप भविष्य के प्रति विश्वास बनाए रखते हैं। यह एक महत्वपूर्ण दार्शनिक और सामाजिक उपन्यास है।

निष्कर्ष :- समग्रतः भगवतीचरण वर्मा का कथा-साहित्य भारतीय चिंतन की बहुआयामी परंपरा का सशक्त प्रतिनिधित्व करता है, जिसमें जीवन के यथार्थ, नैतिकता, कर्मफल, नियति, संघर्ष, मूल्य-संकट और परिवर्तनशील समाज का गहन चित्रण मिलता है। उनके उपन्यासों में परम्परा और आधुनिकता, बुद्धि और भावना, भोग और त्याग, तथा व्यक्ति और समाज के बीच निरंतर चलने वाले द्वन्द्व को समन्वयवादी दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है। वर्मा जी ने मध्यवर्गीय जीवन, राजनीतिक चेतना, सामाजिक विषमताओं, नैतिक पतन तथा मानवीय कमजोरियों का यथार्थ चित्रण करते हुए यह स्थापित किया है कि मनुष्य की वास्तविक शक्ति आत्मबोध, संतुलन और नैतिक मूल्यों में निहित है। भारतीय दर्शन के अनुरूप उनके साहित्य में कर्म और उसके परिणाम, जीवन की अनिश्चितता, तथा आशा और विश्वास की निरंतरता स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है।

संदर्भ सूची :-

1. हिंदी का गद्य साहित्य, डॉ. रामचंद्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2001।
2. भारतीय संस्कृति का विकास - सत्यकेतु विद्यालंकार, श्री सरस्वती सदन, नई दिल्ली, चतुर्थ संस्करण 1998।
3. आधुनिक भारतीय चिंतन - विश्वनाथ नरवले, अनुवादक - नेमिचंद्र जैन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहली आवृत्ति, 2003।
4. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास - बच्चन सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद संस्करण - 2011।
5. चित्रलेखा - भगवती चरण वर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, चौदहवी आवृत्ति - 2011।
6. सामर्थ्य और सीमा- भगवती चरण वर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, चौदहवी आवृत्ति - 2018।
7. सबहिं नचायत राम गुसाई- भगवती चरण वर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, चौदहवी आवृत्ति - 2011।
8. उपन्यास और वर्चस्व की सत्ता - वीरेन्द्र यादव, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण 2009।
9. भूले-बिसरे चित्र- भगवती चरण वर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, चौदहवी आवृत्ति - 2022।

भविष्य की शिक्षा और समाज के निर्माण में साहित्य की भूमिका

दीपिका*

मनुष्य के सम्पूर्ण विकास में शिक्षा और साहित्य का महत्वपूर्ण योगदान होता है। शिक्षा जहाँ व्यक्ति का बौद्धिक विकास कर उसे नया दृष्टिकोण प्रदान करती है, वहीं साहित्य मनुष्य में संवेदना और भावों का संचरण करता है। शिक्षा और साहित्य का प्रयोग करके ही मनुष्य समाज में अपनी नई पहचान का निर्माण करता है। समाज के सुधार और मार्गदर्शन में शिक्षा जितना महत्व रखती है, उतना ही महत्व मानवीय मूल्यों का भी होता है, जिनकी प्राप्ति साहित्य से ही संभव है।

“समाज से साहित्य का संबंध मान लेना एक बात है और उस संबंध के स्वरूप को ठीक से जानना—परखना दूसरी बात। जरूरी नहीं कि जो मानते हों, वे जानते भी हों। साथ ही मानने और जानने से अधिक उस संबंध की विश्वसनीय व्याख्या करना— यही दृष्टि और पद्धति का प्रश्न सामने आता है, जो महत्वपूर्ण है।”¹

किसी भी समाज की प्रगति केवल तकनीकी उन्नति से नहीं होती, बल्कि मानवीय मूल्यों और नैतिक विचारों से होती है, जिसका मार्गदर्शन साहित्य करता है। साहित्य का महत्व इसलिए नहीं है कि उसमें गद्य, पद्य, छंद, कथा—कहानी होती है, बल्कि इसलिए है कि वह मनुष्य को उत्तम और विशाल बनाता है। समय के साथ ही मनुष्य की जीवन—शैली में निरंतर परिवर्तन हो रहे हैं।

वर्तमान में शिक्षा के क्षेत्र में भी अनेक तकनीकों का उपयोग किया जा रहा है। डिजिटल माध्यम ने शिक्षा को सबकी पहुँच में कर दिया है। आज शिक्षा का उद्देश्य केवल सूचना प्रदान करना नहीं, बल्कि व्यक्ति का बहुमुखी विकास करना है। राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर ऐसी अनेक शिक्षा नीतियाँ बनाई जा रही हैं, जिससे शिक्षा संबंधी अनेक तकनीकों का निर्माण किया जाए। NEP 2020 के तहत भारतीय शिक्षा प्रणाली को बहुविषयी, मूल्य—आधारित और मानव—केंद्रित बनाने पर बल दिया गया है। साहित्य के द्वारा इसे और भी आसान बनाया जा सकता है, क्योंकि साहित्य केवल विषय—संबंधी नहीं, अपितु जीवन को भी नई दृष्टि प्रदान करता है।

साहित्य के माध्यम से व्यक्ति जीवन के अनुभवों, संघर्षों और भावनाओं को सीखता है, साथ ही उसमें संवेदनशीलता और सहानुभूति का भी विकास होता है। साहित्यिक शिक्षा मनुष्य को यांत्रिक बनने से रोककर मानवीय स्वरूप प्रदान करती है। साहित्य के अंतर्गत समाज के साथ ही सम्पूर्ण मानव सभ्यता समाहित है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार— “प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है। तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ—साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अंत तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य—परंपरा के साथ सामंजस्य दिखाना ही साहित्य का इतिहास कहलाता है।”²

साहित्य और शिक्षा दोनों ही मनुष्य के विकास के लिए आवश्यक हैं। शिक्षा और साहित्य का संबंध अत्यंत गहरा है, क्योंकि शिक्षा जहाँ मनुष्य का बौद्धिक विकास करती है, वहीं साहित्य व्यक्ति को संवेदनशील बनाता है।

भविष्य की शिक्षा का उद्देश्य केवल सूचना—प्रसारण करना नहीं, बल्कि विद्यार्थियों में आलोचनात्मक और रचनात्मक दृष्टि का विकास करना भी है। आज हम शिक्षा को केवल किसी रोजगार तक सीमित मान

*शोधार्थी, हिंदी विभाग, केंद्रीय विश्वविद्यालय, हरियाणा।

लेते हैं, जबकि मनुष्य आजीवन शिक्षा प्राप्त करता है। शिक्षा का उद्देश्य केवल नौकरी प्राप्त करना नहीं, बल्कि एक अच्छा और जिम्मेदार नागरिक बनाना भी है, जो देश के हित और विकास में सहयोग कर सके।

साहित्य के माध्यम से कठिन सिद्धांतों को भी रोचकता के साथ समझा जा सकता है। रामधारी सिंह दिनकर साहित्य की उपयोगिता बताते हुए लिखते हैं— “बुद्धि पर जमी हुई पपड़ियाँ विज्ञान के शोधों से टूटती हैं, किन्तु मनुष्य के हृदय पर की पपड़ियों को तोड़ने का काम नाटक, उपन्यास, चित्र, संगीत और कविताएँ ही करती हैं।”³

शिक्षा मनुष्य को किसी विषय को देखने के लिए नया दृष्टिकोण प्रदान करती है। साहित्य इसी ज्ञान को अन्य विधाओं के माध्यम से विश्लेषित करता है। अनेक ऐसी समस्याएँ हैं, जिन्हें साहित्य के माध्यम से सहजता से समझा जा सकता है।

प्राचीन समय में जब सत्ता के विरुद्ध आवाज उठाने की क्षमता किसी में नहीं थी, तब रचनाकार अपनी लेखनी के माध्यम से समाज को जागृत करते थे। शिक्षा में साहित्य इसलिए भी महत्वपूर्ण है कि मनुष्य का वैचारिक स्तर पर भी विकास होता है। प्रत्येक भाषा अपने अंतर्गत अनेक तथ्यों को समाहित किए होती है। यह कहना बिल्कुल उचित है कि शिक्षा में साहित्य के प्रयोग से शिक्षा प्रभावी और सहज हो जाती है।

प्रेमचंद लिखते हैं— “जिस साहित्य से हमारी सुरुचि न जागे, आध्यात्मिक और मानसिक तृप्ति न मिले, हममें शक्ति और गति न पैदा हो, हमारा सौंदर्य—प्रेम न जागृत हो, जो हमें सच्चा संकल्प और कठिनाइयों पर विजय पाने की सच्ची दृढ़ता न उत्पन्न करे, वह हमारे लिए बेकार है; वह साहित्य कहलाने का अधिकारी नहीं।”⁴

आधुनिक युग में विज्ञान और तकनीक के विकास ने शिक्षा को नया दृष्टिकोण दिया है। डिजिटल माध्यम, ऑनलाइन शिक्षा और कृत्रिम बुद्धिमत्ता जैसे साधनों ने शिक्षा को और भी प्रभावी रूप प्रदान करने का प्रयास किया है। भविष्य में अनेक ऐसे उपकरणों का निर्माण हो गया है, जिसके कारण शिक्षा प्राप्त करना और भी सरल हो गया है। जीवन का हर क्षेत्र वैज्ञानिक उन्नति से प्रभावित हुआ है। तकनीक के प्रभाव के कारण साहित्य तक पहुँच के स्वरूप में परिवर्तन आ गया है। पुस्तकों से हटकर ई-पुस्तकें और ऑनलाइन पुस्तकालयों ने साहित्य को सबकी पहुँच में ला दिया है। तकनीक के कारण न केवल भारतीय, अपितु विश्वभर की साहित्यिक कृतियों को पढ़ा और समझा जा सकता है। इसके कारण उन लोगों को भी सहायता होगी, जिनके पास संसाधन सीमित हैं। कंप्यूटर के कारण ऐसी अनेक शैलियाँ विकसित हो गई हैं, जो पुस्तकों के अध्ययन के साथ ही ध्वनि और अर्थ बताने में भी सक्षम हैं, जिसका लाभ प्रत्येक वर्ग को होता है।

“साहित्य के समाजशास्त्र की यह मान्यता है कि साहित्य का मुख्य सरोकार मनुष्य का सामाजिक जगत होता है और रचनाकार की सामाजिक चेतना उसके कथानक, पात्रों के चयन, प्रतीक, अलंकार और भाषा आदि के माध्यम से व्यक्त होती है।”⁵ इसलिए शिक्षा को मानवीय संवेदनाओं और नैतिक मूल्यों से जोड़ने के लिए साहित्य आवश्यक है। सोशल मीडिया और मोबाइल ने साहित्य तक पहुँचने का मार्ग सरल किया है। नई पीढ़ी के लिए साहित्य केवल पुस्तकों तक सीमित नहीं रहा, अपितु अब वे लेखकों और आलोचकों को सुन एवं देख भी सकते हैं। डिजिटल युग ने साहित्य को केवल जीवित ही नहीं रखा, अपितु उसे लोक-संवाद का मजबूत माध्यम बना दिया है। साहित्य के अध्ययन से भावनात्मक विकास के साथ ही भाषा-कौशल और कल्पना-शक्ति का भी विकास होता है। प्रत्येक भाषा में साहित्य के अंतर्गत अनेक ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और सामाजिक तथ्य शामिल होते हैं।

“कवि वास्तव में समाज की अवस्था, वातावरण, धर्म-कर्म, रीति-नीति तथा सामाजिक शिष्टाचार या लोक-व्यवहार से ही अपने काव्य के उपकरण चुनता है और उनका प्रतिपादन अपने आदर्शों के अनुरूप ही करता है। साहित्यकार उसी समाज का प्रतिनिधित्व करता है, जिसमें वह जन्म लेता है।”⁶

साहित्य ने जहाँ शिक्षा को प्रभावित किया है, वहीं समाज को भी एक विशिष्ट रूप प्रदान किया है। समाज और साहित्य का संबंध अनादिकाल से जुड़ा है। साहित्य के आदिकाल से लेकर वर्तमान युग तक के माध्यम से न केवल उस समय की सामाजिक, अपितु राजनीतिक और सांस्कृतिक स्थिति भी समझी जा सकती है। समाज की भाषा, खान-पान, रीति-रिवाज और संस्कृति ही साहित्य की रचना में सहायक होती है। साहित्यकार उसी समाज का प्रतिनिधित्व करता है, जिस समाज में वह जन्म लेता है।

बाबू गुलाबराय के शब्दों में— “कवि या लेखक अपने समय का प्रतिनिधि होता है। उसे जैसा मानसिक खाद मिल जाता है, वैसी ही उसकी कृति होती है। वह अपने समय के वायुमंडल में घूमते हुए विचारों को मुखरित कर देता है। कवि वह बात कहता है, जिसका सब लोग अनुभव करते हैं, किन्तु जिसे सब लोग कह नहीं सकते। सहृदयता के कारण उसकी अनुभव-शक्ति औरों से बढ़ी-चढ़ी रहती है।”⁷ साहित्य किसी भी समाज की संस्कृति और परंपरा का संरक्षक होता है। जिस प्रकार वर्तमान में विश्व आधुनिकीकरण की ओर अग्रसर हो रहा है, वहाँ समाज को सांस्कृतिक जड़ों से जोड़ना अत्यंत आवश्यक है। साहित्य के माध्यम से न केवल व्यक्ति अपनी जड़ों से जुड़ता है, बल्कि आने वाली पीढ़ियों के लिए भी धरोहर का निर्माण करता है। विश्व में सदैव ऐसे साहित्य की रचना अधिक हुई है, जिसके कारण समाज और मनुष्य में सकारात्मक परिवर्तन हुआ है।

कबीर और तुलसी के द्वारा रचित साहित्य में यह स्पष्ट देखा जा सकता है। प्रेमचंद के साहित्य में भारतीय समाज की सामाजिक और राजनीतिक चेतना को गहनता से प्रस्तुत किया गया है। वहीं दूसरी ओर जयशंकर प्रसाद की रचनाओं ने ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अतीत की भावना जागृत की और वर्तमान स्थिति को बेहतर बनाने के लिए प्रेरित किया है। “हर युग के साहित्य में सामयिक परिवेश अर्थात् युग का जीवन अपनी पद्धतियों, संस्कारों, मूल्यों, चरित्रों, आवरणों और परिस्थितियों में परिलक्षित होता है।”⁸ साहित्य का प्रभाव समाज पर बहुत गहरा और व्यापक होता है। साहित्य में किसी भी हथियार से अधिक धार और शक्ति होती है। जब भारत देश अंग्रेजी सत्ता के अधीन था, तब साहित्य ही हमारी सबसे बड़ी ताकत था। उस समय का साहित्य सभी को एक संस्कृति और राष्ट्रीय भावना से जोड़ने का कार्य करता था।

किसी भी जाति, धर्म या समुदाय के विश्वास और भावनाएँ साहित्य में दिखाई देती हैं। अलग-अलग साहित्य के माध्यम से एक समाज का दूसरे समाज पर प्रभाव पड़ता है। “प्रेमचंद समाज में साहित्य की भूमिका समझाते हुए लिखते हैं— साहित्य अपने काल का प्रतिबिंब होता है। जो भाव या विचार लोगों के हृदयों को स्पंदित करते हैं, वही साहित्य पर भी अपनी छाया डालते हैं।”⁹ एक अच्छा साहित्यकार समय और स्थान की सीमाओं से हटकर समस्त मानव जाति का नेतृत्व करता है। साहित्यकार केवल वर्तमान ही नहीं, बल्कि भविष्य से भी जुड़ा होता है। साहित्य हमारे विचारों को संगठित रूप देकर समाज के विकास में अहम भूमिका निभाता है। साहित्य के विचारों का निर्माण समाज से ही होता है और प्रत्येक साहित्यकार इन्हीं विचारों का प्रतिनिधित्व करता है।

संदर्भ-सूची :-

1. पांडेय, मैनेजर; साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका; आधार प्रकाशन, पंचकुला; पृष्ठ संख्या 13।
2. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र; हिन्दी साहित्य का इतिहास; कला मंदिर, नई दिल्ली; नवीनतम संस्करण; पृष्ठ संख्या 15।
3. <https://share-google/w4kDQhON4Cy0Z8LnU> (दिनांक: 16.03.2026, समय: 6:48)
4. मुंशी, प्रेमचंद; साहित्य का उद्देश्य; साहित्य सरोवर, आगरा; प्रकाशन 2024; पृष्ठ संख्या 5।
5. जैन, निर्मला; साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन; हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली; प्रकाशन 2009।
6. <https://share-google/w4kDQhON4Cy0Z8LnU> (दिनांक: 16.03.2026, समय: 6:48)
7. सेठी, डॉ. हरीश कुमार; जीवन मूल्य विमर्श; पृष्ठ संख्या 262।
8. वही, पृष्ठ संख्या 269-270।
9. मुंशी, प्रेमचंद; साहित्य का उद्देश्य; साहित्य सरोवर, आगरा; प्रकाशन 2024; पृष्ठ संख्या 4।

हिन्दी सिनेमा के सूफ़ी गीतों में प्रेम, सहिष्णुता और मानवता

अंजली कुमारी*

डॉ. आशीष पाण्डेय **

‘सूफ़ी’ शब्द की उत्पत्ति के विषय में अनेक मत प्रचलित हैं। ‘सूफ़ी’ शब्द के मूल को ‘सफ़’, ‘सफ़ा’, ‘सूफ़’, ‘सूफ़ा’, ‘सुफ़फ़ाह’, ‘सोफ़’, ‘सोफ़ोस’, ‘सफ़वतुल्लाह’ आदि से जोड़कर विभिन्न विचारकों ने अपने मत प्रस्तुत किए हैं। अधिकांश विद्वानों के अनुसार ‘सूफ़ी’ शब्द की व्युत्पत्ति अरबी शब्द ‘सूफ़’ से हुई है जिसका अर्थ है ‘ऊन’। उनके मतानुसार, वे साधक जो सांसारिक सुखों का त्याग कर सादगीपूर्ण व निःस्वार्थ भाव से दारिद्र्यमय जीवन व्यतीत करते थे तथा ऊनी वस्त्रों को धारण कर अल्लाह का स्मरण करते थे, वही सूफ़ी कहलाते थे। ‘सूफ़ी’ शब्द के मूल में ‘सूफ़’ धातु को स्वीकार करने का उनका एक आधार व्याकरणिक दृष्टि भी है। कन्हैया सिंह कहते हैं— “‘सूफ़ी’ शब्द की निष्पत्ति ‘सूफ़’ से होने की संभावना ऐतिहासिक संदर्भ से तो प्रतीत होती है किंतु भाषा शास्त्र की दृष्टि से भी ‘सूफ़’ से सूफ़ी बनना सर्वाधिक संभव है।”¹

भारत में सूफ़ीमत के छोटे-बड़े कई संप्रदाय विकसित हुए, जिनमें प्रमुख हैं— चिश्ती, सुहरावर्दी, कादिरि और नक्शबंदी। यद्यपि, इस्लाम में संगीत को हराम (वर्जित) माना गया है फिर भी सूफ़ी-संतों ने, विशेषतः चिश्ती संप्रदाय के साधकों ने संगीत को ईश्वर-प्राप्ति का माध्यम माना है।

सूफ़ी संप्रदाय इस्लाम के उदारवादी शाखा का समर्थन करता है। यही कारण रहा है कि भारतीय संस्कृति और सभ्यता में मौजूद तत्व सरलता से इसमें समाहित हो गए। हिन्दी सिनेमा में भी इसी कारण सूफ़ी विचारधारा की विशिष्ट पहचान स्थापित हो सकी क्योंकि भाषाई और धार्मिक भिन्नताओं के बावजूद यह भारतीय संस्कृति के मूल तत्वों के साथ एकाकार हो गई। सूफ़ी दर्शन में प्रेम, सहिष्णुता और मानवता को केंद्रीय नैतिक मूल्य माना गया है, जहाँ प्रेम को ईश्वर तक पहुँचने का साधन, सहिष्णुता को सह-अस्तित्व का आधार तथा मानवता को सर्वोच्च नैतिक आदर्श के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है।

हिंदी सिनेमाई सूफ़ी गीतों में प्रेम की अभिव्यक्ति :- सूफ़ी विचारधारा आध्यात्मिक प्रेम पर बल देती है। सूफ़ियों का एकमात्र लक्ष्य ईश्वर से मिलन है। यह मिलन केवल ईश-प्रेम के माध्यम से ही संभव है, जिसे वह इश्क-ए-हकीकी (वास्तविक/ आध्यात्मिक प्रेम) कहते हैं परंतु इसकी सीमा तक पहुँचना सरल नहीं है। इस उच्चतम अवस्था तक पहुँचने के लिए साधक को पहले इश्क-ए-मजाजी (सांसारिक प्रेम) का अनुभव करना पड़ता है। सूफ़ियों का मानना है कि जब तक मनुष्य सांसारिक प्रेम के गूढ़ अर्थ को नहीं समझता तब तक उसके लिए आध्यात्मिक प्रेम तक पहुँचना असंभव है। आचार्य चंद्रवली पाण्डेय कहते हैं— “सूफ़ियों की साधना में रति का आलंबन ईश्वर ही होता है। उनकी आस्था के अनुसार, ब्रह्म साकार नहीं है, अतः वे साकार प्रियतम की भांति उनका विरह जगाते, जपते और ध्यान करते हैं। उनके नामधारी सूफ़ियों ने आलंबन की अलक्ष्यता के कारण प्रिय या प्रियाओं को ही आलंबन मानकर परोक्षतः परम प्रियतम के रति भाव को अभिव्यक्त किया है।”²

इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु सूफ़ी कवि जनसाधारण तक आध्यात्मिक प्रेम के गूढ़ तत्वों को पहुँचाने हेतु प्रचलित प्रेम-कथाओं का सहारा लेते हैं ताकि सांसारिक प्रेम की दिव्यता के माध्यम से लोग आध्यात्मिक प्रेम के रहस्य को समझ सकें। सिनेमाई गीतों में इस भाव को और अधिक प्रत्यक्ष तथा सजीव रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया जाता है। फ़िल्मी गीतकारों ने साहित्य से प्रेरणा लेकर सांसारिक प्रेम को आध्यात्मिक रंग देने का प्रयास किया है। इश्क-ए-हकीकी में जहाँ ईश्वर से प्रेम की बात होती है, वहीं इन गीतों में

*शोधार्थी, हिन्दी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग, वनस्थली विद्यापीठ, टोंक, राजस्थान-304022

**असिस्टेंट प्रोफ़ेसर, हिन्दी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग, वनस्थली विद्यापीठ, टोंक, राजस्थान- 304022

सांसारिक प्रेमी को ही देवत्व प्रदान करने की चेष्टा की गई है। इसी संदर्भ में हिंदी सिनेमा में कई गीतों की रचना हुई है। यह गीत पूर्णतः सूफी नहीं होते, अपितु इनमें केवल कुछ पंक्तियाँ ही सूफी तत्वों को अभिव्यक्त कर पाती हैं। इसलिए इनमें उतनी गहन रहस्यात्मकता नहीं मिलती, जितनी किसी साहित्यिक सूफी कृति में निहित होती है।

सूफी कवि बाबा बुल्ले शाह की प्रसिद्ध पंक्तियाँ— “रांझा रांझा करदी नी मैं आपे रांझा होई... सद्दो नी मैंनू धीदो रांझा हीर ना आखो कोई”³ को आधार बनाकर कई फ़िल्मी गीतों की रचना हुई है। बाबा बुल्ले शाह इन पंक्तियों में ‘रांझा’ का उल्लेख करते हुए अपने प्रिय के साथ ऐसे आध्यात्मिक मिलन का चित्रण करते हैं जहाँ हीर का रांझा बन जाना अर्थात् हीर के व्यक्तित्व में ‘मैं’ का लोप होकर उसका ‘रांझा’ में रूपांतरित हो जाना, व्यक्त होता है। यहाँ बाबा बुल्ले शाह ‘रांझा’ कहकर अप्रत्यक्ष रूप से परमतत्व को संबोधित करते हैं किंतु जब हिंदी सिनेमा में इन्हीं पंक्तियों का यथावत् प्रयोग किया जाता है तब ‘रांझा’ प्रायः परमतत्व के स्थान पर सांसारिक प्रेमी का रूप ग्रहण कर लेता है, जहाँ वह प्रेमी उस विशेष व्यक्ति के लिए परमतत्व (ईश्वर) के समकक्ष प्रतीत होने लगता है।

इसी प्रकार फ़िल्म ‘रब ने बना दी जोड़ी’ के गीत ‘तुझमें रब दिखता है’⁴ में अपने प्रिय में रब के दर्शन होने की बात स्पष्ट रूप से कही गई है। इस प्रकार यहाँ प्रेमी को स्वयं के लिए रब के समकक्ष स्थापित कर दिया गया है। ‘सुल्तान’ फ़िल्म के गीत ‘बुलया’ में “तुझसे मेरा दीन-धर्म है, मुझसे तेरी खुदाई”⁵ पंक्ति के माध्यम से यह भाव व्यक्त किया गया है कि भले ही मेरा प्रिय समस्त संसार के लिए ईश्वर न हो किंतु मेरे लिए वही मेरे ईश्वर के समान है और मेरे इसी विश्वास के कारण उसकी ‘खुदाई’ का अस्तित्व है।

फ़िल्म ‘जब वी मेट’ के गीत ‘तुमसे ही’ की पंक्ति “न है ये खोना.. न पाना ही है.. तेरा न होना... जाने ... क्यों होना ही है”⁶ में यह भाव व्यक्त किया गया है कि प्रेमी भले ही प्रत्यक्ष रूप में उपस्थित न हो किंतु उसके होने का आभास हर ओर विद्यमान रहता है। उसकी अनुपस्थिति भी एक प्रकार की उपस्थिति का अनुभव कराती है जहाँ, हर कहीं उसी के दर्शन होने लगते हैं। यह स्थिति कुछ ऐसी ही है जैसे ईश्वर प्रत्यक्ष रूप से दिखाई नहीं देते किंतु उनके अस्तित्व का अनुभव हर जगह होता है।

इस प्रकार हिंदी सिनेमा के कई गीतों में प्रेम सांसारिक सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए आत्मिक, निःस्वार्थ और सार्वभौमिक स्वरूप में अभिव्यक्त हुआ है।

हिंदी सिनेमाई सूफी गीतों में सहिष्णुता का वर्णन :- सूफी विचारधारा में सहिष्णुता धार्मिक तथा सांस्कृतिक विविधताओं की स्वीकृति एवं सर्वधर्म समभाव के रूप में उभरती है। सूफी विचारधारा इस्लाम के उदारवादी रूप का समर्थन करती है और विभिन्न धर्मों के बीच समन्वय स्थापित कर नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा को प्राथमिकता देती है। इस समन्वयवादी विचारधारा के प्रभावस्वरूप अनेक फ़िल्मी गीतों में इस्लामी आस्था के प्रतीकों के साथ अन्य धार्मिक परंपराओं के तत्व को समान रूप से समाहित किया गया है।

फ़िल्म ‘कोयला’ का गीत ‘साँसों की माला पे’⁷ जो भक्त मीराबाई द्वारा रचित एक भजन से प्रेरित है, सहिष्णुता की भावना को अभिव्यक्त करता है। मूलतः यह एक भजन है जिसे क़व्वाली की शैली में दरगाहों पर भी गाया जाता है। इस भजन को व्यापक लोकप्रियता दिलाने का श्रेय पाकिस्तान के प्रसिद्ध गायक उस्ताद नुसरत फतेह अली ख़ान को जाता है। इसमें भगवान श्री कृष्ण के प्रति अटूट श्रद्धा और प्रेम की भावना व्यक्त करते हुए अपनी साँसों को ही माला के रूप में रूपायित कर निरंतर नाम-जप की बात कही गई है। इस प्रकार यह गीत धार्मिक सहिष्णुता और समन्वय की भावना का एक सुंदर उदाहरण प्रस्तुत करता है।

फ़िल्म ‘फिज़ा’ के सूफी गीत ‘पिया हाजी अली’ में गीतकार शौकत अली ने लिखा है— “यहाँ हिंदू, मुस्लिम, सिख, इसाई फ़ैज़ (कृपा) पाते हैं।”⁸ यह पंक्ति स्पष्ट रूप से धार्मिक सहिष्णुता और सर्वधर्म समभाव की भावना को व्यक्त करती है, जहाँ सभी धर्म के लोग समान रूप से कृपा के भागीदार माने गए हैं। इस प्रकार हिंदी सिनेमा में अनेक गीत धार्मिक सहिष्णुता की भावना को प्रतिबिंबित करते हुए रचे गए हैं।

हिंदी सिनेमाई सूफ़ी गीतों में मानवता :- सूफ़ीवाद में मानवता करुणा, समानता और सामाजिक समरसता के भावों के माध्यम से अभिव्यक्त होती रही है। सूफ़ियों ने सदैव मनुष्य के अंतःकरण में सदाशयता, सहृदयता और विनम्रता के विकास पर विशेष बल दिया है। इसी विचार को अभिव्यक्त करते हुए कई फिल्मी गीत बने।

जैसे— फिल्म 'रॉकस्टार' के गीत 'कुन फ़ाया कुन' की पंक्तियाँ— "सजरा सवेरा मेरे तन बरसे... कजरा अंधेरा तेरी जलती लौ... कतरा मिला जो तेरे दर पर से... ओ मौला"⁹, इस भाव को व्यक्त करती हैं कि मेरे भीतर पहले नकारात्मकता का अंधेरा था किंतु आपकी (हज़रत निज़ामुद्दीन औलिया / मुर्शिद) कृपा के एक छोटे से अंश (जलती लौ) भर ने मेरे अंतःकरण को प्रकाशित कर दिया है। इसी प्रकार आगे की पंक्तियाँ— "हो मुझ पर करम सरकार तेरा... अरज़ तुझे... कर दे मुझे... मुझसे ही रिहा... अब मुझको भी हो दीदार मेरा... कर दे मुझे मुझसे ही रिहा"¹⁰ में साधक निज़ामुद्दीन औलिया से प्रार्थना कर रहा है कि वह उसे उसके भीतर के 'मैं' से मुक्त कर दे। यहाँ 'मैं' अहंकार, लोभ, ईर्ष्या जैसे नकारात्मक भावों का प्रतीक है। सूफ़ी विचारधारा के अनुसार, जब तक साधक इन भावों से मुक्त नहीं होता तब तक वह ईश्वर के सच्चे दर्शन नहीं कर सकता। इसलिए साधक ईश्वर से प्रार्थना करता है कि उसे इस 'मैं' से मुक्त कर दे ताकि वह आत्मिक शुद्धि प्राप्त कर सके और सच्चे अर्थों में एक श्रेष्ठ मनुष्य बन सके।

फ़िल्म 'दिल्ली-6' के गीत 'अर्जियाँ' की पंक्तियाँ— "जो भी तेरे दर आया... झुकने जो सर आया... मस्तियाँ पिए सबको... झूमता नज़र आया... प्यास लेके आया था... दरिया वो भर आया... नूर की बारिश में भीगता सा तर आया"¹¹ में इस भाव को व्यक्त किया गया है कि ईश्वर के दरबार में जो भी व्यक्ति विनम्रता और श्रद्धा के साथ उपस्थित होता है, उसके साथ किसी प्रकार का भेदभाव नहीं होता। जो भी व्यक्ति अपनी पीड़ा और अभिलाषाएँ लेकर ईश्वर की शरण में आता है, वह उसकी कृपा और आध्यात्मिक आनंद से परिपूर्ण हो उठता है। इसी भाव को व्यक्त करते हुए 'भर दो झोली मेरी', 'ताजदार—ए—हरम', 'अल्लाह के बंदे हँसदे' जैसे कई गीत फिल्माएँ गए हैं।

निष्कर्ष :- हिंदी फ़िल्मों के सूफ़ी गीतों का जनमानस पर गहरा प्रभाव पड़ा है। इन्होंने प्रेम की एक नई परिभाषा दी जिसमें सांसारिक प्रेम को आध्यात्मिक प्रेम से जोड़कर देखा गया। इन गीतों ने सांप्रदायिक और धार्मिक एकता को प्रोत्साहित किया तथा यह संदेश दिया कि प्रेम, करुणा और समर्पण किसी एक धर्म या पंथ तक सीमित नहीं अपितु संपूर्ण मानवता का साझा मूल्य है। साथ ही इन्होंने मानवता के उच्चतम गुणों— सहृदयता, विनम्रता, परोपकार आदि को सहज रूप में समझाने का कार्य किया जिससे समाज में समरसता और भाईचारे की भावना को बल मिला।

संदर्भ—सूची :-

1. सिंह, डॉ. कन्हैया; सूफ़ीमत; इंडिया प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद; 1998; पृ. 321
2. पाण्डेय, आ. चंद्रवली; तसव्वुफ़ अथवा सूफ़ीमत; पृ. 1021
3. शुक्ला, डॉ. प्रणु; सूफ़ी कवि बुल्ले शाह; अनु प्रकाशन, जयपुर; 2020; पृ. 861
4. YRF; तुझ में रब दिखता है (गीत); रब ने बना दी जोड़ी (फ़िल्म); निर्देशक: आदित्य चोपड़ा; 2008; <https://youtu.be/qoq8B8ThgEM?si=cWHTeVoGzID2Yf76>
5. YRF; बुल्लेया (गीत); सुल्तान (फ़िल्म); निर्देशक: अली अब्बास ज़फ़र; 2016; <https://youtu.be/a9Hxkc9YxGE?si=derrLp2q7XY1DXxd>
6. T-Series; तुम से ही (गीत); जब वी मेट (फ़िल्म); निर्देशक: इम्तियाज़ अली; 2007; https://youtu.be/Cb6wuzOurPc?si=ZU7u_bnq0Vjdonbn
7. 90's Dard – Bollywood Songs; साँसों की माला (गीत); कोयला (फ़िल्म); निर्देशक: राकेश रोशन; 1997; https://youtu.be/bE-JzaeNr_o?si=ogUzuX6kV-TQUN7a
8. 90's Dard – Bollywood Songs; पिया हाजी अली (गीत); फ़िज़ा (फ़िल्म); निर्देशक: खालिद मोहम्मद; 2000; <https://youtu.be/T2kwiAC3nkg?si=iTzs8tywOzz9KvP7>
9. T-Series; कुन फ़ाया कुन (गीत); रॉकस्टार (फ़िल्म); निर्देशक: इम्तियाज़ अली; 2011; <https://youtu.be/T94PHkuydcw?si=pjGx1EzD3nmq81NX>
10. वही।
11. T-Series; अर्जियाँ (गीत); दिल्ली-6 (फ़िल्म); निर्देशक: राकेश ओमप्रकाश मेहरा; 2009; https://youtu.be/dXdD1_AGBZg?si=2jGVMSihS7ZtiraO

भक्ति आंदोलन और सामाजिक समरसता

डॉ. आशा जी प्रजापति*

भक्ति, भक्त-संत समाज में समन्वय या समरसता के ही प्रतीक हैं। जो लोग संसार, समाज से ऊपर उठ चुके हैं, मानवता को आत्मसात किया है, वे जाति-पाति, ऊँच-नीच, धर्म के भेदभाव से ऊपर उठ चुके हैं। उनके लिए मानव मात्र एक समान है। संत-भक्त सच्चे देशभक्त भी हैं, जिन्होंने समरसता से देश-समाज को जोड़े रखा है। स्वयं के साथ मानव जाति का उद्धार किया है।

भक्ति आंदोलन तत्कालीन समाज की तत्कालीन ज़रूरत थी। मुगलों के आक्रमण एवं अत्याचारों से प्रजा त्रस्त हो चुकी थी। आसरा एक ही था— परमात्मा। विश्वास ईश्वर पर ही टिका हुआ था। ऐसे में संतों-भक्तों ने धुरा संभाली। “इन संतों ने अपनी वाणी से शांति, अहिंसा और भाईचारे का संदेश दिया। इन्होंने कहा कि मानव एक ही ईश्वर की संतान है। ऐसे ही एक संत थे महात्मा बुद्ध, जिन्होंने देश-विदेश में अपनी अमर वाणी का संदेश दिया। वे तप और त्याग की मूर्ति थे। ऐसे ही गुण हमें गुरु नानक की वाणी में नजर आते हैं, जो जगह-जगह घूमकर मानवता का ही संदेश देते हैं।”¹

तत्कालीन समाज को बुराइयों, भय, निम्नता और असहिष्णुता से बचाने के लिए जो आंदोलन चला, वह भक्ति आंदोलन था। मध्यकालीन युग की प्रमुख विशेषता भक्ति है। किसी ने निर्गुण की उपासना की तो किसी ने सगुण के गुणगान किए। रास्ते भिन्न थे, किन्तु लक्ष्य एक ही था— स्वयं एवं समाज का उत्थान करना। समाज में व्याप्त दूषणों को दूर कर समानता और समन्वय की स्थापना के लिए भरसक प्रयास किए गए। डॉ. ग्रियर्सन ने भक्ति काल को ‘स्वर्ण काल’ कहा है। संतों ने त्रस्त प्रजा का मार्गदर्शन करके उनमें आत्मविश्वास जगाने का प्रयास किया।

भक्ति कालीन युग में संतों-भक्तों ने विचार-क्रांति की थी, जिससे कोई भी वर्ग अछूता नहीं रह सका था। जाति, धर्म, प्रदेश, भाषा से परे होकर केवल अध्यात्म-भाव देखने को मिलता है। समाज में आध्यात्मिक और वैचारिक क्रांति ने लोगों में चेतना जगा दी थी। संत-संप्रदाय चाहे कोई भी हो, लेकिन लक्ष्य मानव कल्याण ही था। रामानंद से वल्लभाचार्य, कबीर से तुलसी— सभी ने लोक-मंगल की कामना ही की है।

भक्ति युग में निर्मित साहित्य या संत-वाणी की सर्वप्रमुख विशेषता लोक-कल्याण, लोक-मंगल एवं बहुजन हिताय-सर्वजन सुखाय रही है। भक्ति शाखाओं में सदाचार तथा नैतिक भावना पर पर्याप्त बल दिया गया है। निर्गुण साहित्य युक्तिगत उत्कर्ष के साथ निरंतर आध्यात्मिक प्रेरणा देता रहा है। सगुण भक्ति ने सदाचार, नैतिक भावना तथा वैयक्तिक उत्थान के साथ तत्कालीन प्रबुद्ध जनता के लिए आत्मनिरीक्षण तथा परिस्थिति-परीक्षण का अवसर प्रदान किया।

समूचे भक्ति काव्य ने भेदभाव को कम कर समन्वयात्मकता को अधिकाधिक प्रोत्साहित किया। जाग्रत संतों ने समाज में समन्वय स्थापित करने का भरसक प्रयास किया है। किन्तु अंधभक्तों और पाखंडियों को सत्य की आँख चाहिए ही नहीं, उलटे वे इन सबका विरोध करने लगे। फिर भी समाज में संत सेवा के ही प्रतीक रहे हैं। लोगों को जाग्रत करने का कार्य सतत् करते रहे।

भक्तिकालीन आंदोलन का समय एक चुनौतीपूर्ण था। संतों की वाणियों में कड़वाहट थी, किन्तु उनका अंतिम उद्देश्य वर्ग-भेद मिटाकर समन्वयात्मकता लाना था। संतों की इस प्रवृत्ति को प्रत्येक मत से प्रश्रय मिला। ये संत-भक्त किसी भी संप्रदाय से रहे हों, किन्तु लक्ष्य एक ही था— लोक-मंगल, समाज में व्याप्त दूषणों से संघर्ष, आध्यात्मिक और वैचारिक क्रांति, मानसिक चेतना का जागरण तथा प्रेम-भावना का

*अध्यापक सहायक सी. यू. शाह आर्ट्स कॉलेज, लाल दरवाजा, अहमदाबाद

प्रसार। भक्तिकालीन सर्व संतों में समाज-सुधार से व्यक्ति-सुधार की प्रवृत्ति देखने को मिलती है। इसमें 'कबीर और तुलसी' का नाम उभरकर आता है। रास्ते भिन्न थे, किन्तु लक्ष्य एक ही था। कबीर ने समाज से ही दृष्टांत लेकर समाज को जाग्रत करने का प्रयास किया है। क्रांतिकारी संत के रूप में उनके पास आँखों देखा, अनुभवजन्य ज्ञान था। कबीर के प्रत्येक शब्दों में स्पष्टता एवं समझदारी देखने को मिलती है।

तलवार की नोक पर जो धर्म का प्रसार करते हैं और जो उच्च ज्ञान की बातें करते हैं, वही व्यवहार में छुआछूत तथा ऊँच-नीच का भेदभाव करते हैं। वे मानव को मानवता से भिन्न करते हैं। कबीर की चाह समाज में फैली वैमनस्यता और विषमता को दूर करने की थी। मनुष्य अपने कर्मों से ऊँच-नीच बनता है, जन्म से नहीं। इतनी सरल व्याख्या पोथी-पंडित नहीं समझ पाते हैं। केवल प्रेम की सरलता से ही कई गुत्थियाँ सुलझाई जा सकती हैं। प्रेम के ढाई अक्षर पढ़कर ही मानव शांति से विश्वशांति की उत्तम कामना कर सकता है।

“पोथी पढ़ी-पढ़ी जग मुआ, पंडित भया न कोय।

ढाई अक्षर प्रेम के पढ़े, सो पंडित होय।।”²

कबीर ने समतावादी आर्थिक दृष्टि का प्रतिपादन किया है। आर्थिक असमानता के कारण समाज में अनेक दूषण उत्पन्न होते हैं। उन्होंने पूँजीपति एवं सत्ता-प्रतिष्ठानों के सामने भी अपनी वाणी के माध्यम से प्रश्न खड़े किए। वहीं तुलसी ने राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि माना है। जैसा राजा, वैसी प्रजा- अतः राजा का आदर्श एवं श्रेष्ठ होना आवश्यक है।

तुलसी ने रामकथा के माध्यम से समाज के प्रत्येक पहलू को संवारा है। वे सच्चे अर्थों में लोकनायक थे। “डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी के कथनानुसार लोकनायक वही हो सकता है, जो समन्वय कर सके, क्योंकि भारतीय समाज में नाना प्रकार की परस्पर विरोधी संस्कृतियाँ, साधनाएँ, विचार और धर्म प्रचलित रहते हैं। बुद्धदेव समन्वयकारी थे। लोकनायक तुलसीदास को जो अभूतपूर्व सफलता मिली, उसका कारण यह था कि वे समन्वय की विशाल बुद्धि लेकर उत्पन्न हुए थे।”³

तुलसीदास के सामाजिक जीवन में समन्वय की भावना अत्यंत महत्वपूर्ण है। राम और रामायण समाज के लिए आदर्श हैं। “लोक-कल्याण की दृष्टि से यह साहित्य अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसमें जीवन की अनेक उच्च भूमियाँ प्रस्तुत की गई हैं। इन्होंने गृहस्थ जीवन की उपेक्षा नहीं की, बल्कि लोक-सेवा और आदर्श गृहस्थ राम-सीता को प्रस्तुत करके जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने का स्तुत्य प्रयत्न किया है। राम आदर्श पुत्र हैं, वे आदर्श राजा भी हैं। सीता आदर्श पत्नी हैं... राजा-प्रजा, पिता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-भाई, स्वामी-सेवक और पड़ोसी-पड़ोसी के सुंदर एवं स्वस्थ संबंधों पर आधारित समाज-आचार के बल पर ही जीवन संभव है।”⁴

तुलसी ने समाज के प्रत्येक पहलू में समन्वय स्थापित किया है- संप्रदाय से समाज तक, राजा से प्रजा तक। तुलसी की भावना शुद्ध मानवतावादी है। मानवता के जिस रूप को तुलसी ने उभारा है, वह अपने आप में विशिष्ट है। तुलसी ने रामकाव्य में निम्न जातियों को आश्रय देकर अपनी एकता और व्यावहारिकता का स्वरूप सामान्य प्रजा तक पहुँचाया है। समाज को संदेश दिया है कि निम्न जातियों को भी भक्ति का उतना ही अधिकार है, जितना सवर्णों को। उन्होंने कहा है-

“मेरी न जाति-पाँति, न चाहूँ काहू की जाति-पाँति।”⁵

अतः कहा जा सकता है कि तुलसी ने समग्र रूप से समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है, ताकि समाज में समरसता आ सके। समाज में समरसता होना प्रत्येक युग की आवश्यकता है।

भक्ति आंदोलन में लोकमंगल की कामना के साथ-साथ भारतीय संस्कृति एवं साहित्य का उत्थान भी देखने को मिलता है। साहित्य एवं वाणी की भाषा लोक-चाल की प्रचलित भाषा ही रही है, जिसे सामान्य प्रजा भी समझ सके। अध्यात्म, भावना, ज्ञान और गुरु-तत्त्व प्रमुख रहे हैं, ताकि निराश जन में आशा की किरण, आत्मविश्वास और निर्भयता जागृत हो सके।

सारांश : आज भी भक्ति आंदोलन की उतनी ही आवश्यकता है। आज के तथाकथित पोथी-पढ़े पंडित जाति-पाँति, धर्म, प्रदेश और भाषा के नाम पर संघर्ष करते रहते हैं। राजा भी अपना कर्तव्य भूल रहे हैं और प्रजा भी अपना फर्ज। सत्ता में सहजता नहीं है, और न ही लोगों में आपसी प्रेम।

भक्तिकालीन समन्वय और समरसता की आज भी अत्यंत आवश्यकता है। युवा दिशा भटक रहे हैं, देश की दशा और दिशा बदल रही है, और समाज के भीतर दूषण बढ़ते जा रहे हैं। आज समाज को दिशा देने वाले ज्ञानी, निडर, निष्पक्ष, साहसी और कर्मवादी संतों की आवश्यकता है, जो समाज में व्याप्त दूषणों को समाप्त कर सकें और समाज का पथ-प्रदर्शन करें।

सदियों से धुंधली पड़ी संस्कृति को पुनः सशक्त बनाने, समन्वय स्थापित करने तथा साहित्य, संस्कृति और समाज के बीच संतुलन स्थापित कर प्रगति करने की आवश्यकता है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना को साकार करना समय की माँग है।

कोटि-कोटि प्रणाम उन सभी संतों को, जिन्होंने समरसता के माध्यम से देश की संस्कृति को जीवंत बनाए रखा।

संदर्भ-सूची :-

1. भारत के प्रसिद्ध संत –डॉ. कपिल वात्स्यायन; पृष्ठ 9।
2. कबीर: व्यक्तित्व और कृतित्व – श्री शरण; पृष्ठ 23।
3. तुलसी के काव्यादर्श – संपादक: डॉ. मालती दुबे, डॉ. रामगोपाल सिंह; पृष्ठ 19।
4. प्राचीन और मध्यकालीन हिन्दी काव्य – संपादक: डॉ. वीरेंद्र नारायण सिंह; पृष्ठ 31।
5. तुलसीदास: व्यक्तित्व और कृतित्व – श्री शरण; पृष्ठ 115।

बौद्ध और जैन साहित्य में करुणा एवं अहिंसा

डॉ. रमेश बी. कालिया*

‘आज जगत हो युद्ध की नहीं, लेकिन बुद्ध और महावीर स्वामी की जरूरत है। इसलिए प्राचीन भारत के शानदार इतिहास और समाज जीवन को जानने के लिए बौद्ध और जैन धर्म के साहित्य को जरूरी माना जाता है। इसमें धार्मिक साहित्य को अहम माना जाता है। इस साहित्य के ज़रिए हमने आज भी अपनी विरासत को संभालकर रखा है। इस साहित्य में करुणा और अहिंसा का भाव दिया गया है। विश्व में आज के समय में तो तीसरे विश्व युद्ध का जो भय हो रहा है। इस समय में अहिंसा का संदेश बहुत जरूरी है। साथ साथ करुणा का भाव उत्पन्न करना भी जरूरी है। करुणा और अहिंसा का संदेश हमें बौद्ध और जैन साहित्य से भी मिलता है। इसे जानना बहुत जरूरी है।

(1) बौद्ध धर्म साहित्य में करुणा और अहिंसा :- पुरानी सांस्कृतिक विरासत, करुणा और अहिंसा को जानने के लिए बौद्ध साहित्य बहुत जरूरी है। इस साहित्य में सभी लोग के साथ मैत्रीभाव, रखना जरूरी संदेश दिया है। साथ ही पशु हिंसा कभी नहीं करने का जिक्र किया गया है। भगवान बुद्ध ने अपने संदेश में विश्व बंधुत्व की भावना की बात की गई है। बौद्ध धर्म में “त्रिपिटक” ग्रंथों का जिक्र है। इसमें बौद्ध धर्म का पहला संगीत संग्रह राजगृह में संकलित किया गया था, जिसमें ‘सुत्तपिटक’ और ‘विनयपिटक’ नाम के ग्रंथ संकलित किए गए थे। भगवान बुद्ध के निर्वाण के बाद उनकी शिक्षाओं को एक व्यवस्थित रूप दिया गया। यह एक क्रोनोलॉजिकल अरेंजमेंट से शुरू होता है और बौद्ध धर्म के भिक्षुओं के जीवन से जुड़ा है। जो पाली भाषा में लिखा गया है। इसमें नियम (विनय), भगवान बुद्ध की शिक्षाएँ (सूत्र-सुता) और तर्क (अभिधम्म) शामिल हैं। जिन्हें त्रिपिटक ग्रंथ के रूप में जाना जाता है। इसकी पूरी जानकारी इस प्रकार दी गई है।

(2) बौद्ध धर्म के त्रिपिटक ग्रंथ

2.1 विनयपिटक - यह ग्रंथ तीन खंडों में बंटा हुआ है। इसमें (1) सूत विभाग, (2) परिवार और (3) खंडक शामिल हैं। जबकि सूत विभाग दो खंडों में बंटा हुआ है। इसमें (1) भिक्षु विभाग और (2) भिक्षु प्रभाग शामिल हैं। जबकि परिवार में पूरे विनयपिटक का सारांश है। खंडक दो खंडों में बंटा हुआ है। (1) महावाज़ और (2) तुल्यवाज़। विनयपिटक नाम के ग्रंथ में बौद्ध संघ के भिक्षुओं और भिक्षुणियों के आचार-व्यवहार के नियम और संघ के नियम हैं।

2.2 सूतपिटक : सूतपिटक में बुद्ध की शिक्षाएँ हैं। इसे बौद्ध धर्म का ‘एनसाइक्लोपीडिया’ कहा जाता है। सुत्तपिटक में भगवान बुद्ध के पिछले जन्मों की ‘जातक कथा’ बताई गई है। सुत्तपिटक में पाँच खंड हैं। जिन्हें ‘निकाय’ के नाम से जाना जाता है। इसे पाँच भागों में बाँटा गया है। मंजुश्रीमूलकल्प, दिव्यावदान, सारिपुत्र नाम नाटक, महावस्तु आदि। जिस में समाज जीवन का सिद्धांत, प्रेम और करुणा का संदेश दिया गया है।

2.3 अभिधम्मपिटक : ‘अभिधम्मपिटक’ की रचना तीसरी बौद्ध संगीति (काउंसिल) के दौरान हुई थी। सम्राट अशोक के धर्मगुरु मोगलिपुत्तिस्स ने इतिहास को संकलित किया। अभिधम्मपिटक में बौद्ध धर्म और बौद्ध दर्शन के सिद्धांतों के बारे में बताया गया है। यह अभिधम्मपिटक का एक हिस्सा है। जिसमें बौद्ध धर्म के सिद्धांतों के साथ नैतिक मुद्दों का भी जिक्र है। बौद्ध भिक्षुओं और भिक्षुणियों ने ‘थेरीगाथा’ नाम की कविताएँ लिखी हैं। ये कविताएँ ‘उर्मि काव्य’ के रूप में प्रकाशित हुई हैं।

त्रिपिटक के अलावा, बौद्ध धर्म में पाली भाषा के दूसरे ग्रंथ भी लिखे गए हैं। जिनमें मिलिंदपन्हो और जातक कहानियाँ मुख्य हैं। उनके लिखे जाने के बारे में कोई जानकारी नहीं है। लेकिन कुछ विद्वानों के अनुसार, इसकी रचना उत्तर-पश्चिम भारत में हुई होगी। ग्रीक सम्राट मेनेन्डे (पहली सदी BC में) को मिलिंद कहा जाता है। इसमें मेनांडर और नागसेन के बीच बातचीत है। इसलिए, इस किताब को

* असिस्टेंट प्रोफेसर (इतिहास विभाग) पी. के. कोटावाला आर्ट्स कोलेज, पाटण

“मिलिंदपन्हो” (सवाल) कहा जाता है। इस किताब में बौद्ध धर्म के मुश्किल सवालों को सुलझाने की कोशिश की गई है। महान विद्वान विंटरनिटज़ के अनुसार, ‘जातक कहानियाँ सिर्फ कला और साहित्य के लिहाज़ से ही नहीं हैं। बल्कि ये (तीसरी सदी BC) की सभ्यता के इतिहास के नज़रिए से भी बहुत कीमती किताबें हैं।’ जातक कहानियाँ बौद्ध धर्म के सभी विचारों का निचोड़ हैं। कई जातक कहानियाँ पाली बौद्ध लेखकों की अलग-अलग ब्रांच हैं। इसमें 35 कहावतें भी हैं। इसे शिक्षा देने के लिए इकट्ठा किया गया है। इन 35 कहावतों की किताब ‘करियापीठका’ (आचार संहिता) में है। जिसे खुदाक निकाय (छोटा कलेक्शन) का हिस्सा माना जाता है। इसके अलावा, सिंहली भाषा में एक कमेंट्री भी है। यह बौद्ध विद्वान बुद्धघोष से जुड़ी है। जिसे ‘जातक कथा वानन’ या ‘जातक कथा’ के नाम से जाना जाता है। इसमें 550 जातक कहानियाँ इकट्ठा की गई हैं। इसमें कुछ कहानियाँ बहुत छोटी हैं, लेकिन नॉवेल जैसी हैं। उनमें भविष्य के बुद्ध राजा, निर्वासित, देवता या हाथी वगैरह के रूप में आते हैं। इसकी ऐसी खूबी है कि उनकी शिक्षाएँ कहानियों में हैं। कई जातक कहानियाँ बौद्ध धर्म के अलावा महाभारत, पंचतंत्र, पुराणों और दूसरे साहित्य की कहानियों जैसी हैं। जातक कहानियाँ पूरी तरह से बौद्ध धर्म पर आधारित हैं, और दुनिया भर की मूर्तियों और पेंटिंग्स में भी दिखाई जाती हैं।

बौद्ध धर्म के वज्रयान संप्रदाय के साहित्य में करुणा और अहिंसा : बौद्ध धर्म के वज्रयान संप्रदाय के अपने ऑफिशियल ग्रंथ हैं। इसे ‘तंत्र’ के नाम से भी जाना जाता है। जिसमें मुख्य रूप से पूजा और ध्यान प्रक्रिया के नियम दिए गए हैं। सूत्रों को बौद्ध धर्म के थ्योरेटिकल और नॉन-थ्योरेटिकल पहलुओं को दिखाने वाला कहा जाता है। तंत्र में बौद्ध धर्म को पर्सनल लाइफ के तौर पर बताया गया है। तंत्र को असल में पर्सनल लाइफ का काम माना जाता है। इसमें लिखे अनुभवों की समानता के कारण, यह लोगों के एक बड़े ग्रुप पर लागू होता है। उनके सिंबॉलिक कैरेक्टर के कारण, सूत्रों को आमतौर पर सीक्रेट रखा जाता था और इन ग्रंथों का शाब्दिक मतलब आमतौर पर उन्हें मतलब नहीं दे पाता था। अब तक लिखा गया सबसे पुराना तंत्र गृह्य समाज-तंत्र (सभी रहस्यों का ग्रंथ) है। इसे ‘तथागत गृह्य’ (तथागत-बौद्ध धर्म का रहस्य) के नाम से भी जाना जाता है। इसे पारंपरिक रूप से अनसांग से जोड़ा जाता है, जो चौथी सदी। व के एक महान विद्वान थे और ‘योगाचार फिलॉसफी’ के जानकार थे। आमतौर पर सूत्रों में सिंबॉलिक शब्दों को डिफाइन नहीं किया जाता है क्योंकि यह डेफिनिशन टीचर पर छोड़ दी जाती है। संस्कृत भाषा के महान विद्वान अश्वघोष द्वारा लिखा गया महाकाव्य ‘बुद्धचरित’ बौद्धों की रामायण के रूप में जाना जाता है। जबकि इस ग्रंथ को अश्वघोष का गौरव स्तंभ माना जाता है। इसके अलावा, अश्वघोष द्वारा लिखे गए सौंदरानंद (महाकाव्य), सारिपुत्र प्रकरण (नाटक), सूत्रालंकार आदि ग्रंथ भी हैं। बुद्धघोष द्वारा लिखे गए “सुमंगलविलासिनी” नामक ग्रंथ में भगवान बुद्ध की दिनचर्या का उल्लेख किया गया है। जबकि वसुबंधु नाम के विद्वान ने ‘अभिधर्मकोश’, ‘विग्नप्तिमात्रता सिद्धि’, ‘वज्र छेदिका’ आदि ग्रंथ लिखे हैं।

(3) जैन धर्म साहित्य जैन धर्म साहित्य अधिकांशतः ‘प्राकृत’ भाषा में लिखा गया है। लेकिन बाद के समय में जैन धर्म का साहित्य संस्कृत भाषा में लिखा गया। इसके प्राचीनतम ग्रंथों में 14 पर्व, 12 अंग और कई अंग बाह्य ग्रंथ शामिल हैं। पर्व नामक ग्रंथ आज लुप्त हो गए हैं। जबकि अंग और अंग बाह्य ग्रंथों को ‘आगम’ या ‘सिद्धांत’ के नाम से भी जाना जाता है। अंगों में आचारण्ड सूत्र और सूत्र कृतण्ड आदि 12 ग्रंथों का उल्लेख किया गया है। जैन साहित्य कई भाषाओं में लिखा गया है। जिसे दो हिस्सों में बांटा जा सकता है। इसमें (1) श्वेतांबर संप्रदाय का साहित्य और (2) दिगंबर संप्रदाय का साहित्य शामिल है। इसके साहित्य में करुणा, सत्य, अहिंसा का सन्देश दिया है। जैन धर्म के २४ तीर्थंकर ने जगत को सचा रास्ता बताने का प्रयास किया है। हर मनुष्य को जिव मात्र की ओर दयाभाव रखना होगा, पशु हिंसा कभी नहीं करना, राजाओं को भी प्रजा के साथ अच्छा कर्तव्य निभाना होगा ए सब बात का जैन साहित्य में जिक्र किया गया है। इस अलावा, इस ग्रंथ में स्वर्ग और नर्क के सिद्धांतों पर चर्चा की गई है। लोगों को नर्क में बहुत कष्ट उठाने पड़ते हैं और स्वर्ग में बहुत सुख भोगना पड़ता है। इस पर बहुत सुंदर चर्चा की गई है। जैन साहित्य में शतछेदसूत्र ग्रंथ लिखे गए हैं। इसमें जैन धर्म के साधु-संन्यासियों के भरण-पोषण के नियमों के बारे में

बताया गया है। छेद सूत्र के छह भाग हैं, जिनमें (1) व्यास सूत्र, (2) बृहत्कल्प सूत्र, (3) दशश्रुतस्कंध सूत्र, (4) निशीथ सूत्र, (5) महानिशीथ सूत्र और (6) जितकल्प सूत्र शामिल हैं।

नंदीसूत्र और अनुयोगद्वार जैन साहित्य में बहुत महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं। इनमें जैन धर्म के सिद्धांतों, जैन धर्म के तीर्थकरों की जानकारी तथा जैन साधु-संन्यासियों के पालन-पोषण के नियमों का वर्णन है। इन ग्रंथों पर अनेक भाष्य लिखे गए हैं। सबसे प्राचीन भाष्य को निर्युक्ति कहा जाता है। इसका काल भद्रबाहु श्रुति केवली का माना जाता है। सबसे प्रसिद्ध जैन भाष्यकार हरिभद्र स्वामी हैं। उन्होंने अनेक धार्मिक ग्रंथों पर भाष्य लिखे हैं। इसके अलावा शातिसूरि, देवेन्द्रगुणी और अभयदेव नामक भाष्यकारों ने अनेक महत्वपूर्ण भाष्य और टीकाएं लिखी हैं। वे भाष्य भी जैन शास्त्रों में महत्वपूर्ण हैं। जबकि दिगंबर संप्रदाय का साहित्य संस्कृत में लिखा गया है। इसे 'आगम' नामक चार भागों में संकलित किया गया है। इस साहित्य पर अनेक भाष्य और लौकिक साहित्य लिखा गया है। ये ग्रंथ दूसरी शताब्दी ईस्वी के दौरान लिखे गए थे। महावीर स्वामी और उनके पूर्ववर्तियों ने मौखिक शिक्षा दी। लेकिन उनके गणधरों (प्रमुख शिष्यों) ने महावीर स्वामी की शिक्षाओं को पुस्तकों में संकलित करके सावधानीपूर्वक संरक्षित किया है। जैन धर्म का पुराना साहित्य 14 पर्वों में बंटा हुआ है। इसमें साधुओं और जैन अनुयायियों से जुड़े नियम या आदर्श शामिल हैं। अंग और दशवैतालिका सूत्र प्राकृत भाषा में लिखे गए हैं। सातवीं और आठवीं सदी में, इन ग्रंथों के बारे में आलोचनाएँ, समालोचनाएँ और दूसरे जैन दर्शन संस्कृत में लिखे जाने लगे। इसके अलावा, गुणाढ्य द्वारा लिखी गई 'गृहकथा', जैनसूरिजिनसेन द्वारा लिखी गई 'हरिवंश पुराण', संघदासगणि द्वारा लिखी गई 'वासुदेव हिंदी' ग्रंथ बहुत मशहूर हैं। साथ ही, गुजरात के हेमचंद्राचार्य द्वारा लिखी गई ग्रामर की किताब 'सिद्धहेम शब्दानुशासन', जिन्हें कलिकाल सर्वज्ञ का खिताब दिया गया था, और ग्रामर के नियमों को समझाने वाली महाकाव्य कविता 'द्रयाश्रय' बहुत मशहूर हैं। कवि सोमेश्वर द्वारा लिखी गई महाकाव्य कविता 'कीर्ति कौमुदी' बहुत मशहूर है। मशहूर तमिल ग्रंथ 'कुराल' के कुछ हिस्से जैनियों ने ही लिखे थे। भाषा के मामले में, पुराने जैन साहित्य की प्राकृत भाषा और अपभ्रंश भाषाओं को मॉडर्न भारतीय भाषाओं और पुरानी संस्कृत को जोड़ने वाली कड़ी माना जाता है। गुजरात के पाटन शहर में जैन साधुओं द्वारा पुराने ग्रंथों की कॉपी की गई मैनुस्क्रिप्ट सुरक्षित हैं। भद्रबाहु, सिद्धसेन, दिवाकर हरिभद्र जैसे जैन गुरुओं ने संस्कृत और प्राकृत के साथ-साथ कन्नड़, तमिल, तेलुगु, गुजराती, राजस्थानी वगैरह में भी लिखा है और क्षेत्रीय भाषाओं के विकास में बहुत बड़ा योगदान दिया है।

(4) समीक्षा : इस तरह बौद्ध और जैन धर्म के साहित्य से हमें प्रेम, करुणा, अहिंसा और सत्य का संदेश दिया गया है। इस धर्म के साहित्य में दिया गया संदेश ही हमें आज के विश्व हिंसक भावना से बचाके रखेंगे, क्योंकि जगत के कोने कोने में आज छोटा दृ बड़ा युद्ध चल रहा है। हिंसा का आन्दोलन हो रहा है। पूरा जगत भयभीत है। इसलिए जगत को बचाने के लिए आज बौद्ध और महावीर जैसे महापुरुषों की जरूरत है।

संदर्भ सूची :-

1. 20- परमार (प्रा-) सी-आर अने अन्य लेखकों, प्राचीन भारतको इतिहास, पोप्युलर प्रकाशन सुरत, ७१७४
2. ७६ (प्रा-) देवेन्द्र] भारत इतिहास दर्शन प्राचीन अने मध्ययुग] पी पोप्युलर बुक स्टोर - सुरत
3. ओला (डॉ.) प्रेमप्रकाश और अन्य, भारतीय इतिहास (प्रारंभ से लेकर १९५० ई. स. तक) टुडेमिरर पब्लिकेशन सीकर (राज.) चौथा संस्करण दृ २०२१
4. गुप्त (स) शिवकुमार, भारतीय चिन्तन का इतिहास, पंचशील प्रकाशन जयपुर, प्रथम संस्करण १९६६
5. बधेल (डॉ.) हेतसिंह, भारतीय संस्कृति का विकास, रिसर्चपब्लिकेशनस जयपुर, दूसरा संस्करण २००८
6. विद्यालंकारसत्यकेतु, प्राचीन भारत का धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन, श्री सरस्वती सदन नई दिल्ली, छठा संस्करण दृ १९६४
7. नागोरी एस. एल, प्राचीन भारतीय संस्कृति, पॉइंटरपब्लिकेशनस जयपुर, प्रथम संस्करण दृ १९६६
8. शर्मा रीता, प्राचीन भारत का इतिहास, बोहरा प्रकाशन दृ जयपुर, प्रथम संस्करण दृ १९८८
9. भारतीय ज्ञान कोश, भाग दृ२, इन्साइक्लोपिडियाब्रिटैनिका (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड नई दिल्ली, १५वाँ संस्करण
10. भारतीय ज्ञान कोश, भाग दृ४, इन्साइक्लोपिडियाब्रिटैनिका (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड नई दिल्ली, १५वाँ संस्करण २००२
11. Majumdar R- C-, Ancient India, Motilal Banarasisass Publishers Private Limited Delhi, 2003

भारतीय ज्ञान परंपरा में विश्वबंधुत्व की अवधारणा

डॉ. जगदीश नारायण तिवारी*

भारतीय ज्ञान परंपरा में वैदिक वांग्मय की महत्ता पर दृष्टिपात करें तो हमें ज्ञात होता है कि वैदिक ज्ञान परम्परा से ही ज्ञान- विज्ञान की परम्परा विकसित होती है। ज्ञान किसी भी राष्ट्र की सभ्यता तथा संस्कृति का अभिन्न अंग माना गया है, इसी कारण से प्राचीन वैदिक वांग्मय से लेकर आज तक भारतीय ज्ञान प्रणाली की विभिन्न विधाओं में ज्ञान के स्वरूप पर व्यापक एवं सुचिंतित ज्ञान दर्शन प्राप्त होता है। वैदिक वांग्मय में वेद का एक निश्चित अर्थ प्राप्त होता है— **विद् धातु के विद् ज्ञाने से घञ् प्रत्यय** करने पर इसका अर्थ बनता है ज्ञान। भारत की प्राचीनतम वैदिक शिक्षा व्यवस्था ज्ञान की राशि है। ऋषियों ने जो ज्ञान अर्जित किया था, उसका समग्र ज्ञान वेदों में संग्रहीत है। वेद तथा विद्या शब्द विद् धातु से ही निस्पन्न हुए हैं और वेद शब्द का प्राचीन ग्रंथों में विद्या अर्थ प्रयुक्त हुआ है, पुरातन सभी विद्याओं को वेद/ज्ञान के रूप में जाना जाता था। आचार्य सायण ने वेद का अर्थ इस प्रकार किया है— **इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रंथो वेदयति स वेदः** अर्थात् जो ग्रंथ इष्ट-प्राप्ति और अनिष्ट-निवारण का अलौकिक उपाय बताता है, उसे वेद कहते हैं।

विषय प्रवेश :- धर्म से अधिष्ठित ज्ञान विज्ञान तथा कलाओं की शिक्षा प्राचीन भारत में वैदिक शिक्षा प्रणाली के अनुसार पूरा का पूरा ज्ञान- विज्ञान वैज्ञानिक एवं कला, कौशल तथा धर्म से अधिष्ठित दिखाई देता है। पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) की उपादेयता भी तभी सिद्ध हो सकती है जब वह धर्म से युक्त हो, इसी आधार पर कला, संस्कृति तथा व्यापार के क्षेत्र में भारत संपूर्ण विश्व में अग्रणी रहा है या नेतृत्व करता रहा है। जिसके कारण विश्व गुरु के रूप में प्रतिष्ठित रहा है। प्राचीनतम वैदिक वांग्मय से लेकर अद्यावधि भारतीय शास्त्रों की विभिन्न विचारसरणियों में विद्या अथवा शिक्षा के स्वरूप पर अत्यन्त व्यापक एवं सुव्यवस्थित चिन्तन किया गया है। यद्यपि वैदिक वांग्मय में शिक्षा शब्द का प्रयोग एक निश्चित शाब्दिक सम्प्रेषण के अर्थ में हुआ है तथापि कालान्तर में शिक्षा शब्द एक व्यापक मानव-निर्माण की प्रक्रिया के रूप में प्रयुक्त होने लगा। वैदिक वांग्मय में मनुष्य की सम्पूर्ण व्यक्तिगत, सामाजिक एवं आध्यात्मिक उन्नति के लिए महत्त्वपूर्ण शैक्षिक तत्त्वों का विवेचन किया गया है। भारत के प्राचीन विद्या-केन्द्र इन्हीं मूल उद्देश्यों की पूर्ति हेतु सदैब सचेष्ट रहे हैं जिनसे मनुष्य एक उन्नत एवं शान्ति मय जीवन व्यतीत करता हुआ मोक्ष की प्राप्ति कर सके।

1. भारतीय प्राचीन वैदिक शिक्षा पद्धति :- भारत की प्राचीन वैदिक शिक्षा ने भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों ही क्षेत्रों में ऐसे ज्ञान-विज्ञान का आविष्कार किया जिसका ऋणी आज भी विश्व का दार्शनिक तथा वैज्ञानिक जगत् है। प्राचीन काल में भारत को बौद्धिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में विश्व में जगद्गुरु के नाम से जो गौरव प्राप्त हुआ उसका श्रेय भारत की प्राचीन वैदिक शिक्षा पद्धति को ही जाता है। अपनी विशिष्ट शिक्षा पद्धति के कारण ही भारत ने अनेक शताब्दियों तक न केवल विश्व का सांस्कृतिक नेतृत्व किया, अपितु कला-कौशल, व्यापार एवं विज्ञान के क्षेत्रों में भी अग्रणी रहा तथा आज भी भारतीय ज्ञान परम्परा का विस्तार सम्पूर्ण विश्व में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है।

2. वैदिक संस्कारों का वर्णन :- भारतीय विद्वानों ने वैदिक संस्कारों से युक्त शिक्षा व्यवस्था को सुदृढ़ करने के लिए कठोरतम तप किया, जिसके फलस्वरूप हम अपनी ऋषि परंपरा से आज भी जुड़े हैं तथा उनके द्वारा किए गये ज्ञानानुसन्धान को आत्मसात करते हुये आगे बढ़ रहे हैं। जो लोग विद्या (अध्यात्म या परा) और अविद्या (लौकिक या अपरा) दोनों को साथ-साथ जानते हैं, वे ही भौतिक विद्या के सहारे सुखपूर्वक इस मृत्युलोक को पार कर अध्यात्म विद्या के सहारे अमृततत्त्व या मोक्ष के अधिकारी होते हैं। जो लोग केवल अविद्या अर्थात् लौकिक शास्त्रों को समझने में लगे हैं वे अन्धकार में पड़े हुए हैं किन्तु उनसे भी अन्धकार में वे लोग हैं जो केवल अध्यात्म विद्या में लीन रहते हैं। इस प्रकार वैदिक शिक्षा-दर्शन उपर्युक्त दोनों ही

विद्याओं का समन्वित रूप है। विद्या के द्वारा ही मानव मानसिक तथा आत्मिक शक्तियों को सन्तुलित करते हुए अपने स्वभाव में परिवर्तन लाता है। इस प्रकार शिक्षा मनुष्य को इस योग्य बनाती है कि वह समाज तथा राष्ट्र में एक विनम्र और ज्ञान सम्पन्न नागरिक के रूप में अपना योगदान दे सके। विद्या के द्वारा इहलोक और परलोक दोनों में अभ्युदय का मार्ग प्रशस्त होता है। ईशावस्योपनिषद् में इसका वर्णन मिलता है—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह ।
अविद्या मृत्युं तीर्त्वा विद्यामृतमश्नुते ॥

3. आध्यात्मिकता का विकास :- वैदिक शिक्षा व्यवस्था का परम लक्ष्य विद्यार्थियों को परम-तत्त्व का ज्ञान कराना था जो कि मनुष्य जीवन का अन्तिम लक्ष्य माना गया है। इस लक्ष्य प्राप्ति की चर्चा मुख्य रूप से उपनिषदों में प्राप्त होती है। इसके अनुसार परमतत्त्व, ब्रह्म अथवा परम सत्ता मनुष्य स्वयं है। समस्त उदीयमान संसार भी उसी ब्रह्म से परिव्याप्त है— **तत्त्वमसि। सर्वं खल्विदं ब्रह्म।** अतएव मनुष्य को इस परम धर्मानुसार करणीय कर्मोपासना में प्रवृत्त होकर अपने अन्तःकरण की शुद्धि के द्वारा परम ज्ञान को प्राप्त करे। वेदानुसार ब्रह्म, जीव तथा जगत् के तात्त्विक सम्बन्ध के परिज्ञान का नाम ही विद्या है, यही वास्तविक ज्ञान है। जीवन का यही अन्तिम लक्ष्य है, विद्या का यही तात्पर्य और शिक्षा का यही उद्देश्य है। यह विद्या लौकिक नहीं अपितु अध्यात्मविद्या है। श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं कि **अध्यात्मक्रिया विद्यानां** इस प्रकार भारतीय शिक्षा पद्धति में कर्म की उपासना करते हुए मोक्ष प्राप्ति को ही जीवन का साध्य बतलाया गया है

4. पवित्रता का भाव :- भारतीय ज्ञान परम्परा में आचरण की पवित्रता पर विशेष ध्यान दिया गया है। समस्त वेदों का ज्ञाता भी यदि चरित्र अथवा सदाचार से हीन है तो वह भी निन्दनीय माना गया है। **सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायान्मा प्रमदः** आदि वाक्यों से सत्यनिष्ठ अभिव्यक्ति, धर्माचरण के अनुरूप आचार-विचार और व्यवहार के साथ-साथ अध्ययन के प्रति निश्छल भाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है। ब्रह्मचर्याश्रम में विद्यार्थी शास्त्रोक्त नियमों एवं निर्देशों का पालन करता हुआ जितेन्द्रिय होकर सदाचरण एवं शील के महत्त्व को आत्मसात् कर लेता था। विद्यार्थी का जीवन त्याग तपस्या और नियम का जीवन था। तभी तो वैदिक ऋषि कहता है कि ब्रह्मचर्य का आचरण करने वाला ही ब्रह्मज्ञान का अधिकारी होता है।

5. राष्ट्र भक्ति एवं विश्वबन्धुत्व की भावना :- विश्व में राष्ट्रवाद एवं विश्व-बन्धुत्व की संकल्पना का सर्वप्रथम प्रामाणिक उल्लेख वैदिक संहिताओं में ही प्राप्त होता है। **माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः, कृण्वन्तो विश्वमार्यम्** आदि बातें वैदिक राष्ट्रवाद एवं विश्वबन्धुत्व की भावना को ही परिपुष्ट करते हैं। राष्ट्रवाद एवं विश्वबन्धुत्व की इस परिकल्पना को मूर्तरूप देने के उद्देश्य से ही वैदिक ऋषियों ने पृथ्वी एवं संज्ञान सूक्तों की संरचना द्वारा समस्त मानव जाति को सद्भाव, सह-अस्तित्व एवं सम्पूर्ण धरा के लिए संवेदनात्मक अभिव्यक्ति का सन्देश दिया है। यजुर्वेद के राष्ट्रीय मन्त्र में राष्ट्र के सभी अंगों के साथ-साथ उसके उत्थान की प्रार्थना की गई है। राष्ट्र की सर्वप्रथम आवश्यकता अज्ञानता को दूर करते हुए ज्ञान का प्रचार एवं प्रसार करना है। भारतीय ज्ञान परंपरा में वैदिक वाग्मय की महत्ता पर दृष्टिपात करें तो हमें ज्ञात होता है कि वैदिक ज्ञान परम्परा से ही ज्ञान-विज्ञान की परम्परा विकसित होती है। ज्ञान किसी भी राष्ट्र की सभ्यता तथा संस्कृति का अभिन्न अंग माना गया है इसी कारण से प्राचीन वैदिक साहित्य में से लेकर आज तक भारतीय ज्ञान प्रणाली की विभिन्न विधाओं में ज्ञान के स्वरूप पर व्यापक एवं सुचिंतित ज्ञान दर्शन प्राप्त होता है जहां तक वैदिक वन में ज्ञान का प्रयोग है एक निश्चित अर्थ उसका प्राप्त होता है **'ऋते ज्ञानान् मुक्ति'** यह बात बहुत ही स्पष्ट रूप से शास्त्रों में मिलती है भारत की प्राचीनतम वैदिक शिक्षा व्यवस्था आधुनिक एवं आध्यात्मिकता दोनों को लेकर चलती है और इसी को दृष्टि में रखते हुए ज्ञान-विज्ञान का उदय भी हुआ है। संपूर्ण विश्व भारतीय संस्कृति के सामंजस्यपूर्ण दार्शनिक सिद्धांत दृष्टि के उसी आधार पर टिका है। संस्कृति, जो गंगा के प्रवाह की तरह, विरोध को शहद की तरह अपने आप से दूर कर देती है, अपनी बहुलता में एकता के रूप में स्वयं के विरोध में ही चमकती है। निःसंदेह, प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देने वाला यह विशाल और विविध बाह्य सार यहाँ की परम्परा या बहुलता का निषेध का विरोध नहीं करता, परन्तु केवल बाह्य स्तर का अवलोकन करके ही उनके आंतरिक ज्ञान का अन्वेषण अतुलनीय यात्रा है। परम सत्य की खोज में लीन ये स्वयं परम सत्य के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं और दूसरों को अमृत सागर में लीन कर देते हैं।

भारतीय सामंजस्य का सिद्धांत विरोधाभास का आधार नहीं है, बल्कि जैसा कि श्री व्रैडले द्वारा खोजे गए सिद्धांत रूप और वास्तविकता में पहले ही कहा गया है, सर्वोच्च सत्ता में, महत्त्व के दृष्टिकोण से, विरोधी

तत्व किसी निश्चित एकता में ब्रह्मांडीय नहीं हो जाते, बल्कि इस सामंजस्यपूर्ण शरीर में, जो सामंजस्य से परिपूर्ण है, यह शरीर विरोधाभास को त्यागकर पूर्ण हो जाता है। यह सामंजस्य ही भारतीय दर्शन की गतिशीलता को सिद्ध करता है, जिसके बिना गति का समन्वय संभव नहीं है।

6. भारतीय ज्ञानपरंपरा में समभाव दृष्टि :- भारतीय विचारधारा में धर्म का महत्व किसी संप्रदाय से उत्पन्न अंधविश्वास नहीं है। यह धर्म मनोवैज्ञानिक विज्ञान की खानों से निकला एक अनमोल रत्न है, जिसे विचार और चतुराई के विषय से शुद्ध किया गया है। धर्म ही संपूर्ण ब्रह्मांड का आधार है, और धर्म ही सर्वथा स्थापित है। यही कारण है कि सर्वप्रसिद्ध, निर्गुण, सदा उदार और महान पुरुष को ही महान चित्रित किया गया है, ताकि धर्म— कर्म का उपदेश दिया जा सके। अतः शास्त्रों में बार-बार यह कहा गया है कि श्लाघन ही सर्वोच्च धर्म है। अनासक्ति की भूमि में स्थित धर्म, समस्त जीवों के प्रति दया का दृष्टिकोण और महाकरुणा के सिद्धान्त को स्थापित करता है, जो समस्त प्रकार के कल्याणकारी कार्यों का उपक्रम है। **“सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि”** — सभी प्राणियों में आत्मा और आत्मा में सभी प्राणी यही इस गीत की सफलता है। विश्वास करता है। यहाँ दूसरे का अर्थ भी स्वतः समाहित है, क्योंकि स्वयं के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। यह, मनुष्य के सामाजिक जीवन को, सद्गुणहीनता की अप्राकृतिक प्रवृत्ति को दूर करके, उदार और उदात्त विचार को प्रकट करता है और भारतीय मनुष्य में स्वयं के अभाव में भी आत्मा को धारण करने की प्रवृत्ति को जन्म देता है। भारतीय खजाना यह है कि व्यक्ति को दूसरों के लिए ऐसे कार्य नहीं करने चाहिए जो स्वयं के लिए प्रतिकूल हों। सहज प्रवृत्ति और वैराग्य के सार से उत्पन्न ज्ञान की शुद्ध धारा दोहरी शक्ति प्रतीत होती है, परन्तु ज्ञानी व्यक्तियों का वैराग्य मार्ग, जो सदा अर्ध-मनभावन होता है, उदासीन या आँख-भ्रम का मार्ग हो सकता है, क्योंकि सांसारिक कष्टों के प्रति सहनशीलता ही तपस्या को प्रेरित करती है। यह बुद्ध जन कल्याण करने से कैसे विमुख हो सकते हैं? क्योंकि आरंभ में ही जड़ कट जाती है। जो उदासीनता की पूजा करते हैं, उन्हें तपस्या की सहज प्रवृत्ति के मूल कारण की उपेक्षा करनी चाहिए, इसलिए भारतीय वैराग्य मार्ग उदासीन मूल्यों का मार्ग है, जो उदासीन मूल्यों के व्यक्तिगत हितों या केवल संपूर्ण ब्रह्मांड के हितों की उपेक्षा करता है। समतुल्य कल्याण का जीवन जीकर वैराग्य मार्ग की सत्यता के अभाव में, देश, समाज और समुदाय के कल्याण के लिए जीवन की निरर्थक यात्रा भविष्य में कैसे आगे बढ़ सकती है? वहाँ भी प्रकृति में कोई बदलाव नहीं आया है। इस तथ्य पर कोई सचेत आपत्ति नहीं है कि वैदिक साहित्य इस भावना के इतिहास के अध्ययन में एक स्थिर कारक है। मंत्रों में निहित रहस्यों की खोज उपनिषदों और अन्य शास्त्रों में मिलती है।

7. ज्ञान एवं कर्म की प्रधानता :- ज्ञान और कर्म के बीच का भेद आध्यात्मिक है। इसीलिए गीता ज्ञान के यज्ञ को कर्म के यज्ञ से श्रेष्ठ बताती है और सभी कर्मों को शांतिपूर्वक पूरा करने का महत्व बताती है। कर्मों द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति और ज्ञानी द्वारा मोक्ष की प्राप्ति के इस भेद को ध्यान में रखते हुए, स्वर्ग वह स्थान है जहाँ इच्छाओं से उत्पन्न वस्तुओं की प्राप्ति होती है। हालांकि, मोक्ष का स्वरूप शास्त्रों में संबंधित दार्शनिकों के विचारों के अनुसार स्पष्ट है। वेदों के अर्थ का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्मचेतना ने पारलौकिक चेतना की सीमा को पार कर लिया है और वह समस्त कर्मों का स्रोत है। अतः चेतना का लोक ही स्वर्ग है। प्रकाशमान पृथ्वी का अनुभव इस बात का प्रमाण है कि आप स्वर्ग का विकल्प हैं। वहाँ जाना ही स्वर्ग है। ब्रह्म-व्याख्या से प्राप्त स्वः और ज्ञान के बलिदान से प्राप्त मुक्ति तथा इष्ट के बलिदान से प्राप्त मुक्ति में अंतर काल्पनिक है। यजुर्वेद को समस्त कर्मों का वाहक माना जाता है, और इसके अंतिम अध्याय में ईशोपनिषद् समाहित है। यह उपनिषद् संहिता में शामिल है। यजुर्वेद संहिता के शेष अध्यायों में उपनिषदों का विशेष महत्व है, और उदारता एवं उच्चारण के संदर्भ में अतुलनीय समन्वय देखने को मिलता है। सार्वभौमिक ज्ञान के अवतार का यह दीपक कर्म की वेदी पर प्रज्वलित किया गया है। संसार के ज्ञान में समस्त कर्मों का सार क्या है? याज्ञवल्क्य ने कृष्ण यजुर्वेद की धारा को शुक्ल यजुर्वेद की धारा में प्रवाहित किया। इसका मुख्य उद्देश्य कृष्ण के कर्म को अज्ञान के रूप में और अज्ञान को श्वेत कर्म या ज्ञान के रूप में प्रस्तुत करना है। शुक्ल यजुर्वेद और उपनिषदों ने परमेश्वर को सर्वोच्च प्राथमिकता दी है। वैदिक साहित्य में, आध्यात्मिकता की प्राप्ति में आस्था का महत्व है। कर्म में आस्था और प्रेरणा का अनन्य और असाधारण महत्व है। मनुष्य के मन की एक अन्य सहज प्रवृत्ति ध्यान है, जिसका दूसरा पर्यायवाची उदुष्टकोण है। जहाँ तर्क की वर्षा लौट आई है और जहाँ जिज्ञासा अभी भी बनी हुई है। इस साधना का साधन पूछताछ है, और इस साधना का निष्कर्ष आत्म-विमर्श या मुक्ति है। **आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यसितव्यः**

वृहदारण्यक उपनिषद् के इस उपदेश का सार है, जो भारतीय दर्शन का सार है। इसी शिक्षा को अपनाते हुए, भारतीय दर्शन की अनेक धाराएँ यह मानती हैं कि मुक्ति का कारण श्वेतता और ध्यान है, और यह कि देवत्व और आत्म-साक्षात्कार दोनों ही पारलौकिक हैं। आत्मज्ञान की जड़ में, विस्तार और सर्वव्यापकता की आत्म-साक्षात्कार निरंतर प्रवाहित होती है। आत्मचेतना दूसरे के परम सत्य में स्थापित होती है, और कर्म के भाव से, देवता होने के भाव से, संदेशवाहक के हृदय की प्रेरणा से, संदेशवाहक के मन की प्रेरणा से, और स्वयं को ज्ञान के विषय के रूप में आत्म-साक्षात्कार द्वारा स्थापित होती है। यह सत्य है, एक ब्राह्मण वह है जिसे भावुक माना जाता है, और दूसरा वह है जो पुरुषत्व से परिपूर्ण है। एक में मुख्य रूप से आस्था आवश्यक है, दूसरे में तर्क या ज्ञान। इन्हीं मूलभूत मानसिक प्रवृत्तियों के आधार पर साधना के उत्तरकाल में भेद हुआ, एक ऋषिवर थे और दूसरे मुनिवर। दृष्टि चिंतन से प्राप्त होती है, और चिंतन से ऋषि की प्राप्ति होती है।

पतंजलि योग दर्शन के सूत्रों में इन दोनों साधनों का स्पष्ट संकेत मिलता है और इन दोनों के बीच समन्वय स्थापित है। इस प्रकार, शसमाधि के माध्यम से या आत्मा का ध्यान करके, व्यक्ति आत्मा को देख सकता है।

उपसंहार :- वसुधैव कुटुंबकम् एक संस्कृत वाक्यांश है जिसका अर्थ है विश्व एक परिवार है। यह एक वैश्विक बन्धुता पर जोर देता है, सभी प्राणियों के कल्याण की कामना करता है और वैश्विक सहयोग को प्रोत्साहित करता है। "वसुधैव कुटुंबकम्" संस्कृत की सबसे प्रसिद्ध पंक्तियों में से एक है। यह वाक्यांश हमारी भारतीय परंपरा के सर्वसमावेशी दृष्टिकोण का एक और उदाहरण है। विविधता में एकता वह सिद्धांत है जिसका हम भारतीय परम्परानुसार हजारों वर्षों से पालन करते आ रहे हैं, और यही मूल मन्त्र है कि हम सभी एक ही सत्ता, ब्रह्म, परम तत्त्व से उत्पन्न हुए हैं।

संदर्भ-ग्रन्थ-सूची :-

1. श्रीमद्भगवद्गीता, गीता प्रेस, गोरखपुर।
2. ईशादि नौ उपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर।
3. महाभारत, वेदव्यास, गीता प्रेस, गोरखपुर।
4. रामायण, वाल्मीकि, गीता प्रेस, गोरखपुर।
5. योगसूत्र, पतंजलि, गीता प्रेस, गोरखपुर।
6. संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, द्विवेदी, कपिलदेव संस्कृत चौखम्बा, वाराणसी।
7. आचार्य सायण और माधव उपाध्याय, बलदेव, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
8. मनुस्मृतिः, मुसलगाँवकर, डॉ. गजानन शास्त्री, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।

वैदिक एवं उपनिषदिक साहित्ये मानवमूल्याः

डॉ. कश्यप डी. त्रिवेदी*

सारांशः :- वैदिकं उपनिषदिकं च साहित्यं भारतीयदर्शनस्य मूलाधारः अस्ति। एतयोः साहित्ययोः मानवजीवनस्य नैतिकाः, सामाजिकाः, आध्यात्मिकाः च मूल्याः सूक्ष्मतया प्रतिपादिताः सन्ति। सत्यं, अहिंसा, धर्मः, करुणा, आत्मसंयमः, सह-अस्तित्वभावना, आत्मज्ञानं च एते प्रमुखा मानवमूल्याः सन्ति। अयं शोधलेखः वैदिकदृ उपनिषदिकसाहित्ये निहितानां मानवमूल्यानां विवेचनं करोति तथा आधुनिकसन्दर्भे तेषां प्रासङ्गिकतां प्रकाशयति।

प्रस्तावना :- भारतीय-संस्कृतेः आधारशिला वेदाः तथा उपनिषदः सन्ति। एते ग्रन्थाः केवलं धार्मिकाः न, अपि तु मानवजीवनस्य नैतिक, सामाजिक, आध्यात्मिक तथा दार्शनिक मूल्यानां मार्गदर्शकाः सन्ति। मानवमूल्यानि नामकसत्यं, अहिंसा, करुणा, धर्मः, आत्मसंयमः, सहिष्णुता, समानता, तथा आत्मज्ञानम्। एते मूल्याः वैदिके उपनिषदिके च साहित्ये स्पष्टतया निरूपिताः सन्ति। भारतीयसंस्कृतेः चिन्तनपरम्परा वेदोपनिषद्भ्यः एव प्रवहति। वेदाः केवलं यज्ञप्रधानाः ग्रन्थाः न सन्ति, अपि तु मानवस्य आचारविचारयोः नियामकाः सन्ति। उपनिषदः तु तेषां दार्शनिकं सारं निरूपयन्ति। एते ग्रन्थाः मानवजीवनस्य आदर्शान्, मूल्यानि च स्थापयन्ति, येषां आधारेण व्यक्तिः समाजे सम्यक् जीवनं यापयितुं शक्नोति।

मानवमूल्यानां अर्थः :- मानवमूल्यानि तानि सिद्धान्ताः सन्ति ये मानवस्य आचरणं, विचारं, तथा समाजे जीवनपद्धतिं नियन्त्रयन्ति। एते मूल्याः व्यक्तेः चरित्रनिर्माणे, समाजस्य स्थैर्ये, तथा विश्वशान्तौ महत्त्वपूर्णा भूमिकां वहन्ति। मानवमूल्यानि नाम तानि नैतिकदृआध्यात्मिकदृसामाजिकदृआचारगतदृमानसिकदृगुणाः सन्ति, ये मानवस्य जीवनं श्रेष्ठं, मर्यादितं, सार्थकं च कुर्वन्ति। एते मूल्याः मनुष्यस्य विचारान्, आचरणं, निर्णयशक्तिं च सम्यक् मार्गे नियोजयन्ति। सरलतया कृमानवमूल्यानि = ये गुणाः मानवत्वं प्रकटयन्ति। “ये गुणाः मानवस्य चरित्रं शुद्ध्यन्ति, समाजे सौहार्दं जनयन्ति, जीवनस्य उच्चलक्ष्यं दर्शयन्ति, त एव मानवमूल्यानि कथ्यन्ते।”

मानवमूल्यानि-

- मानवस्य नैतिकता वर्धयन्ति
- सदाचारं प्रेरयन्ति
- सत्य-अहिंसा-करुणा-धर्म-संयम-ज्ञानादि गुणान् प्रतिष्ठापयन्ति
- व्यक्तिं समाजं च सुसंस्कृतं कुर्वन्ति

वैदिक साहित्ये मानवमूल्याः :- वेदाः ऋग्वेदः, यजुर्वेदः, सामवेदः, अथर्ववेदः कृमानवजीवनस्य समग्रं दर्शनं प्रददाति। वैदिकसाहित्यं मानवजीवनस्य नैतिकदृआध्यात्मिकदृसामाजिक-मानसिकदृसांस्कृतिक-आदर्शानां मूलाधारः अस्ति। वेदाः मानवस्य कर्तव्यबोधं, सहअस्तित्वभावं, सत्यनिष्ठां च प्रबोधयन्ति। मानवमूल्याः नाम ते गुणाः येन मनुष्यः श्रेष्ठः भवति, समाजः सुसंस्कृतः भवति, जीवनं च सार्थकं भवति।

1. **सत्यम्** - ऋग्वेदे उक्तम् “सत्यं वद, धर्मं चर।” सत्यं वैदिकजीवनस्य मूलं मन्यते। सत्यपालनं सामाजिकविश्वासस्य आधारः अस्ति।

2. **ऋतम् (नैसर्गिक-नियमः)** ऋतस्य अवधारणा विश्वस्य नैतिक-व्यवस्थां सूचयति। मानवः यदि ऋतस्य अनुसारं जीवनं यापयति, तर्हि समाजे समन्वयः भवति।

3. **अहिंसा** - यद्यपि अहिंसा विशेषतः उपनिषदिक-बौद्ध-जैनपरम्परायां विकसितम्, तथापि वैदिके अपि सर्वेषां प्राणिनां प्रति करुणाभावः दृश्यते।

4. **सहकारः एवं एकता** - ऋग्वेदे प्रसिद्धं सूक्तम् “संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।” एतत् मन्त्रः सामाजिक-सामञ्जस्यस्य महत्त्वं दर्शयति। उपनिषदिक साहित्ये मानवमूल्याः- उपनिषदः आत्मज्ञानस्य, नैतिकतायाः, तथा मोक्षमार्गस्य सूक्ष्मं विवेचनं कुर्वन्ति।

* प्राध्यापकः विभागः-संस्कृत सरकारी विनयन महाविद्यालय, बहुचराजी जिल्ला-महेसाना- गुजरात

1. **आत्मज्ञानम्** — उपनिषदिकं मूलवाक्यम् “तत्त्वमसि”, “अहं ब्रह्मास्मि” — एतेन मानवः स्वस्य दिव्यस्वरूपं जानाति, येन आत्मसम्मानः एवं सार्वभौमिक-समानता विकसिते भवतः। आत्मज्ञानम् नाम आत्मनः यथार्थस्वरूपस्य बोधः। यदा मनुष्यः देहदृमनः—इन्द्रियादिभ्यः भिन्नं स्वं चैतन्यस्वरूपं जानाति, तदा स आत्मज्ञानं प्राप्नोति। संस्कृतपरिभाषा “आत्मनः नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभावस्य यथार्थबोधः आत्मज्ञानम् उच्यते।” सरलार्थः आत्मज्ञानम् इति—

- “अहं केवलं देहः नास्मि” इति बोधः
- “अहं चैतन्यस्वरूपः आत्मा अस्मि” इति अनुभूतिः

उपनिषद्-साक्ष्यम्

- “अहं ब्रह्मास्मि” (बृहदारण्यकोपनिषद्)
- “तत्त्वमसि” (छान्दोग्योपनिषद्)
- “नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः...” (कठोपनिषद्)

आत्मज्ञानस्य लक्षणानि

- अविद्यानाशः
- दुःखनिवृत्तिः
- भयशोकमोहनाशः
- आत्मशान्तिः

आत्मज्ञानस्य साधनानि

- श्रवणम् (शास्त्रश्रवणम्)
- मननम् (युक्तिपूर्वकचिन्तनम्)
- निदिध्यासनम् (ध्यानाभ्यासः)

2. **अहिंसा एवं करुणा** :— ईशोपनिषदि उक्तम् “ईशावास्यमिदं सर्वं” सर्वेषु प्राणिषु ईश्वरस्य वासः इति भावना करुणां, सहिष्णुतां च जनयति। अहिंसा नाम मनसा, वाचा, कर्मणा च कस्यचित् प्राणिनः पीडानिषेधः। सा केवलं शारीरिकहिंसानिषेधः न, अपि तु मानसिक-वाचिकहिंसाया अपि परित्यागः। संस्कृतपरिभाषा “मनसा वाचा कर्मणा च सर्वेषां भूतानां प्रति अहननभावः अहिंसा।” वैदिकसाक्ष्यम्

- “मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि” (यजुर्वेदः)
- “अहिंसा परमो धर्मः” (महाभारतम्)

महत्त्वम्

अहिंसा

- शान्तेः मूलम्
- मानवमूल्येषु श्रेष्ठतमम्
- सामाजिकसौहार्दस्य आधारः

करुणा अर्थः करुणा नाम परदुःखदर्शने हृदयस्य द्रवभावः, तदपाकरणे प्रवृत्तिः च। सा केवलं सहानुभूतिः न, अपि तु परोपकारात्मकः भावः। संस्कृतपरिभाषा— “परदुःखेषु आत्मदुःखवत् अनुभूतिः करुणा।”

शास्त्रीयसाक्ष्यम्

- “सर्वे भवन्तु सुखिनः” (उपनिषद्भावना)
- “दया सर्वभूतेषु” (मनुस्मृतिः)

महत्त्वम्

करुणा—

- मानवत्वस्य सौन्दर्यम्
- समाजे प्रेमदृसामञ्जस्यस्य कारणम्
- अहिंसायाः जीवनरूपम्

अहिंसा-करुणयोः सम्बन्धः अहिंसा करुणायाः व्यवहाररूपम् अस्ति, करुणा च अहिंसायाः अन्तर्भावः। करुणा बिना अहिंसा रूक्षा भवति, अहिंसा बिना करुणा अपूर्णा।

3. त्यागः एवं अपरिग्रहः :- उपनिषदः भोगवादं न, अपि तु त्यागपूर्णं जीवनं प्रशंसन्ति— “तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः।”

त्यागः — अर्थः— त्यागः नाम आसक्तेः, स्वार्थस्य, अहङ्कारस्य च स्वेच्छया परित्यागः। यः मनुष्यः फलासक्तिं त्यक्त्वा कर्तव्यं करोति, स एव यथार्थत्यागी कथ्यते। संस्कृतपरिभाषा— “फलासक्तेः स्वार्थभावस्य च परित्यागः त्यागः उच्यते।”

शास्त्रीयसाक्ष्यम्

- “त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः” (कैवल्योपनिषद्)
- “कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन” (भगवद्गीता)

महत्त्वम्

त्यागः—

- मनःशुद्धिं जनयति
- अहङ्कारं नाशयति
- आत्मज्ञानमार्गं प्रशस्तं करोति

अपरिग्रहः— अर्थः— अपरिग्रहः नाम आवश्यकता-अधिकवस्तूनां संग्रहस्य त्यागः। सीमितेच्छा, सन्तोषभावः, लोभनिवृत्तिः च अपरिग्रहस्य मूलम्। **संस्कृतपरिभाषा** “अनावश्यकवस्तूनां असङ्ग्रहो अपरिग्रहः।”

शास्त्रीयसाक्ष्यम्

- “तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्” (ईशोपनिषद्)
- “सन्तोषः परमो लाभः” (महाभारतम्)

महत्त्वम्

अपरिग्रहः—

- लोभनाशकः
- सामाजिकसमतायाः कारणम्
- शान्तिसुखयोः आधारः

त्याग-अपरिग्रहयोः सम्बन्धः — त्यागः आन्तरिकभावः अस्ति, अपरिग्रहः तस्य बाह्यव्यवहारः। त्यागः अन्तःकरणे, अपरिग्रहः आचरणे दृश्यते।

4. धर्मः एवं आत्मसंयमः :- कठोपनिषदि आत्मसंयमस्य महत्त्वं स्पष्टतया वर्णितम्। इन्द्रियनिग्रहः एव आत्मोन्नत्याः मार्गः इति। धर्मः— धर्मः नाम यः मानवजीवनं धारयति, समाजं सन्तुलितं करोति, कर्तव्यबोधं च जनयति। धर्मः केवलं आचारकाण्डः न, अपि तु सत्यदृष्ट्यायदृकर्तव्यदृकल्याणभावानां समुच्चयः।

संस्कृतपरिभाषा — “यः जीवनं धारयति समाजं च धारयति स धर्मः।”

शास्त्रीयसाक्ष्यम्

- “धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा” (महाभारतम्)
- “सत्यं वद धर्मं चर” (तैत्तिरीयोपनिषद्)

महत्त्वम्

धर्मः—

- कर्तव्यनिर्देशकः
- सामाजिकन्यायस्य आधारः
- मानवमूल्यानां मूलस्तम्भः

आत्मसंयमः— अर्थः— आत्मसंयमः नाम इन्द्रियाणां मनसश्च नियन्त्रणम्। यः मनुष्यः विषयासक्तिं निगृह्णाति, स एव आत्मसंयमी भवति। संस्कृतपरिभाषा— “इन्द्रियदृमनोनियन्त्रणं आत्मसंयमः उच्यते।”

शास्त्रीयसाक्ष्यम्

- "इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्" (कठोपनिषद्)
- "आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः आत्मैव रिपुरात्मनः" (भगवद्गीता)

महत्त्वम्

आत्मसंयमः

- चरित्रशुद्धिं करोति
- कामदृक्रोध-लोभादीन् निगृह्णाति
- धर्मपालनस्य सामर्थ्यं ददाति

धर्मः मार्गदर्शकः अस्ति, आत्मसंयमः तस्य पालनस्य साधनम्। आत्मसंयमं विना धर्मपालनं दुर्लभम्। वैदिकदृष्ट्या उपनिषदिक मानवमूल्यानां आधुनिके सन्दर्भे प्रासङ्गिकता

आधुनिके युगे हिंसा, असहिष्णुता, स्वार्थपरता च वर्धमानाः सन्ति। एतादृशे काले वैदिक-उपनिषदिक मानवमूल्यानि कृत्यं, अहिंसा, सह-अस्तित्वम्, आत्मसंयमः कृमानवजातये मार्गदर्शकाः भवन्ति। एते मूल्याः वैश्विक-शान्तेः, पर्यावरण-संरक्षणस्य, तथा मानवीय-संबन्धानां सुदृढीकरणस्य आधाराः सन्ति।

उपसंहारः :- निष्कर्षतया वयं वक्तुं शक्नुमः यत् वैदिकं उपनिषदिकं च साहित्यं मानवमूल्यानां अक्षयः कोशः अस्ति। एते ग्रन्थाः केवलं भारतस्य न, अपि तु सम्पूर्णमानवजात्याः नैतिक-दर्शनस्य दीपस्तम्भाः सन्ति। यदि आधुनिकमानवः एतान् मूल्यान् स्वजीवने आचरति, तर्हि सः व्यक्तिगत-सामाजिक-वैश्विक-स्तरे सुखं शान्तिं च प्राप्नुयात्। निष्कर्षतः वक्तुं शक्यते यत् वैदिकं उपनिषदिकं च साहित्यं मानवमूल्यानां अक्षयः निधिः अस्ति। एते ग्रन्थाः मानवजीवनस्य नैतिकाध्यात्मिकमार्गदर्शकाः सन्ति। यदि आधुनिकमानवः एतान् मूल्यान् स्वजीवने आचरति, तर्हि सः व्यक्तिगतसामाजिकवैश्विकस्तरे सुखं शान्तिं च प्राप्नुयात्।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची :-

1. ऋग्वेदः - सायणभाष्यसमेतः
2. तैत्तिरीयोपनिषद्
3. ईशोपनिषद्
4. बृहदारण्यकोपनिषद्
5. छान्दोग्योपनिषद्
6. कठोपनिषद्
7. राधाकृष्णन्, एस्. - Indian Philosophy
8. दयानन्दसरस्वती - ऋग्वेदभाष्यभूमिका

ભારતીય જ્ઞાન પરંપરાના વાહક ગુજરાતી મધ્યકાલીન સાહિત્ય સ્વરૂપો

ડૉ. બિપિન જી. ચૌધરી*

૧. પ્રસ્તાવના :- ભારતીય સંસ્કૃતિનો આત્મા તેના જ્ઞાનતત્ત્વમાં રહેલો છે. વેદ, ઉપનિષદ, પુરાણ, દર્શન અને ભક્તિ જેવી પરંપરાઓ ભારતીય જીવનદૃષ્ટિને આકાર આપે છે. આ જ્ઞાનપરંપરા માત્ર સંસ્કૃત સુધી સીમિત ન રહી, મધ્યકાળમાં લોકભાષાઓ દ્વારા જનમાનસ સુધી પહોંચી. ગુજરાતી મધ્યકાલીન સાહિત્યના વિવિધ સ્વરૂપોએ આ ગૂઢ જ્ઞાનને અત્યંત સરળ અને રસાત્મક શૈલીમાં સામાન્ય લોકો સુધી પહોંચાડી 'જ્ઞાનના લોકશાહીકરણ' (Democratization of Knowledge) નું મહત્ત્વનું કાર્ય કર્યું છે.

૨. ભારતીય જ્ઞાન પરંપરા: અર્થ અને મુખ્ય તત્ત્વો :- ભારતીય જ્ઞાનપરંપરા માત્ર પુસ્તકિયું જ્ઞાન નથી, પરંતુ જીવન જીવવાની એક સંકલિત દૃષ્ટિ છે. પરંપરા એટલે એવી જ્ઞાનવિદ્યા, જે રોજિંદા જીવન અને સામાજિક ચેતનામાંથી ઉત્પન્ન થાય છે, અને લોકોની સંસ્કૃતિ તથા જીવનશૈલી સાથે ગાઢ રીતે જોડાયેલી હોય છે. એટલે કે, પરંપરા માત્ર પુસ્તકો કે પ્રાચીન ગ્રંથોમાં સીમિત નથી, પરંતુ જીવનના વિવિધ પાસાઓમાં જીવંત રહે છે. તેના મુખ્ય આધારસ્તંભો નીચે મુજબ છે:

- અદ્વૈત તત્ત્વ: આત્મા અને પરમાત્માની એકતાનો સ્વીકાર
- નૈતિકતા: કર્મ અને પુનર્જન્મનો સિક્કાંત તથા સત્ય, અહિંસા અને કરુણા જેવા મૂલ્યો
- મોક્ષલક્ષી જીવન: ભૌતિકતા કરતાં આધ્યાત્મિક ઉત્કર્ષને પ્રાધાન્ય
- સમરસતા: 'વસુદૈવ કુટુંબકમ' અને સર્વ જીવોમાં ઈશ્વરના અંશની અનુભૂતિ

૩. મધ્યકાલીન ગુજરાતી સાહિત્ય: પૃષ્ઠભૂમિ અને લક્ષણો :- ગુજરાતી મધ્યકાલીન સાહિત્યનો સમયગાળો આશરે ઈ.સ. ૧૨મી સદીથી ૧૮મી સદીના આરંભ (૧૮૫૦) સુધી માનવામાં આવે છે. આ સમયગાળામાં સાહિત્ય મુખ્યત્વે પદ્યાત્મક હતું અને મૌખિક પરંપરાથી પ્રચલિત થયું. મધ્યકાલીન સાહિત્યના મુખ્ય લક્ષણો: ભક્તિપ્રધાન વિચારધારા, પૌરાણિક વિષયવસ્તુ, લોકભાષાનો પ્રયોગ અને ઉપદેશાત્મક શૈલી.

૪. ભારતીય જ્ઞાન પરંપરાના વાહક તરીકે મધ્યકાલીન સાહિત્ય સ્વરૂપો

૪.૧ પદ, ભજન અને પ્રભાતિયાં :- આધ્યાત્મિક જ્ઞાનના વાહક તરીકે પદ, ભજન અને પ્રભાતિયાંનું વિશેષ સ્થાન છે. નરસિંહ મહેતા અને મીરાંબાઈ જેવા સંત-કવિઓએ પદો દ્વારા વેદાંતના કઠિન જ્ઞાનને લોકોના હોઠ સુધી પહોંચાડ્યું. આપણા આદિકવિ નરસિંહ મહેતાના સર્જનમાં પદ અને પ્રભાતિયાં ખાસ ધ્યાન ખેંચે છે. મીરાંબાઈ પણ પદો રચ્યાં છે. 'પદ'ને સરળ રીતે સમજીએ તો તે ઊર્મિપૂર્ણ સંવેદનાઓથી લાઘવપૂર્ણ રચાયેલ કાવ્યપ્રકાર છે. મધ્યકાળમાં ભક્તિનું પ્રાધાન્ય હોવાથી આ પદોમાં ભક્તિનાં વિવિધ સંવેદનો વ્યક્ત થાય છે. તેમાં ક્યારેક ભક્તિ દ્વારા ભાવનું પ્રાગટ્ય થાય છે, તો ક્યારેક ઉપદેશ પણ આપવામાં આવે છે. નરસિંહના પદોમાં તત્ત્વજ્ઞાન પણ સરળ રીતે અભિવ્યક્ત થાય છે. પ્રભાતે ગવાય તેવી રાગયોજનામાં રચાયેલી ભક્તિકવિતા 'પ્રભાતિયાં' કહેવાય છે. વહેલી સવારે શુભ સંકલ્પો થવા માટેની સમજણથી નરસિંહના

*આસી. પ્રોફેસર, ગુજરાતી વિભાગ, એમ. એન. કોલેજ, વિસનગર, જિ. મહેસાણા, ગુજરાત.

પ્રભાતિયાંમાં સારા આચાર-વિચારનું સંકલન જોવા મળે છે. ઉપરાંત, તેમાં ભક્તિભાવ અને તત્ત્વજ્ઞાનનું સુમેળપૂર્ણ સંયોજન જોવા મળે છે. નરસિંહના પ્રભાતિયાં ગુજરાતના સંસ્કારની ચિરંજીવ મૂડી છે.

અટપટા તત્ત્વજ્ઞાનનું સરલીકરણ: ભારતીય જ્ઞાન પરંપરામાં ‘અદ્વૈત’ (આત્મા અને પરમાત્મા એક છે) જેવા વિષયો ખૂબ જ ગૂઢ છે. ભક્તિકાવ્યો આ જ્ઞાનને અત્યંત સરળ શબ્દોમાં રજૂ કરે છે. ઉદાહરણ તરીકે, નરસિંહ મહેતાનું પદ — “અખિલ બ્રહ્માંડમાં એક તું શ્રીહરિ, જુજવે રૂપે અનંત ભાસે;” અહીં ‘એકમ સત્ વિપ્રા બહુધા વદન્તિ’ (સત્ય એક છે, વિદ્વાનો તેને વિવિધ રીતે વર્ણવે છે) ઉપનિષદના સારને ખૂબ જ સરળતાથી સમજાવવામાં આવ્યો છે.

નૈતિકતા અને માનવતાનું શિક્ષણ :- જ્ઞાન પરંપરાનો મુખ્ય ઉદ્દેશ્ય શ્રેષ્ઠ મનુષ્યનું નિર્માણ કરવાનો છે. ભજન અને પદ દ્વારા જીવન જીવવાની કળા તથા નૈતિક મૂલ્યો શીખવવામાં આવે છે. ઉદાહરણ તરીકે, નરસિંહ મહેતાનું ‘વૈષ્ણવ જન’ ભજન: “પર દુઃખે ઉપકાર કરે તોયે, મન અભિમાન ન આણે રે.” આ પંક્તિઓ ભારતીય મૂલ્યો જેવા કે પરોપકાર, વિનમ્રતા અને સમદૃષ્ટિનો પ્રસાર કરે છે.

સામાજિક સમાનતા અને જાતિવાદનું ખંડન - ભારતીય જ્ઞાન પરંપરામાં ‘વસુધૈવ કુટુંબકમ’ અને સર્વ જીવોમાં પરમાત્માનો અંશ જોવાની ભાવના વ્યક્ત થાય છે. મધ્યકાલીન સંતોએ ભજનો દ્વારા આ જ્ઞાનને સામાજિક સુધારણા માટે ઉપયોગમાં લીધો. ઉદાહરણ તરીકે, ગંગાસતીના ભજનો અથવા કબીરના પદો: “નાત-જાત પૂછે નહીં કોઈ, હરિ કો ભજે સો હરિ કા હોઈ.” આ દ્વારા જ્ઞાન પરંપરાનો મૂળભૂત સંદેશ ‘સમાનતા’ લોકોના હૃદય સુધી પહોંચ્યો છે.

અનુભૂતિજન્ય જ્ઞાન (Practical Knowledge) પોથીમાં રહેલું જ્ઞાન જ્યારે લોકવાણીમાં પ્રગટે છે ત્યારે તે ભજનનું સ્વરૂપ ધારણ કરે છે. પ્રભાતિયાં સવારના સમયે ગવાય છે, જે મનુષ્યને મોહ-માયામાંથી જાગૃત કરીને આત્મજ્ઞાન તરફ વાળે છે. ઉદાહરણ તરીકે: “જાગને જાદવા, કૃષ્ણ ગોવાળિયા, તુજ વિના ધેનમાં કોણ જાશે?” અહીં ‘ગાયો ચરાવવા’નો અર્થ માત્ર સાધારણ કાર્ય નથી, પરંતુ જીવાત્માને માર્ગદર્શન આપવાની પ્રતીકાત્મક અભિવ્યક્તિ છે.

૪.૨ આખ્યાન (પૌરાણિક જ્ઞાન અને સંસ્કારના વાહક) - ભાલણ, નાકર અને પ્રેમાનંદએ પુરાણોની કથાઓને ‘આખ્યાન’ સ્વરૂપે રજૂ કરી. માણભટ્ટો દ્વારા ગવાતા આખ્યાનોએ અશિક્ષિત વર્ગ સુધી પણ ધર્મ, નીતિ અને માનવીય સંબંધોના મૂલ્યો પહોંચાડ્યા. પુરાણકથાઓને લોકભાષામાં અભિવ્યક્ત કરીને પ્રજાને ધર્માભિમુખ બનાવવાની પ્રવૃત્તિમાં ‘આખ્યાન’નું વિશેષ સ્થાન છે. જૈન કવિઓએ ‘રાસા’ દ્વારા ભક્તિસંસ્કારની કથાઓ રજૂ કરી. ભાલણ, નાકર અને પ્રેમાનંદ જેવા કવિઓએ પુરાણોના કથાપ્રસંગોને વિસ્તારી, બહેલાવી અને રસાત્મક બનાવી આખ્યાનરૂપે રજૂ કર્યાં. ‘આખ્યાન’ શબ્દ ‘આ + ખ્યા (ખ્યૈ)’ પરથી આવેલ છે, જેનો અર્થ થાય છે — વિસ્તારીને રજૂઆત કરવી. કડવાબદ્ધ દેશી છંદોમાં આખ્યાનનું રચનાબંધ સ્વરૂપ જોવા મળે છે. પૌરાણિક ઉપાખ્યાનોને વિસ્તારીને રજૂ કરતાં આખ્યાનકારો પ્રસંગ, પાત્ર અને રસના વિસ્તૃત આલેખન દ્વારા લોકોમાં ધર્મસંસ્કાર સાથે સાહિત્યિક સંસ્કારનું પણ સિંચન કરતા હતા. આખ્યાન સંસ્કૃત પુરાણોના ગૂઢ જ્ઞાનને લોકભાષામાં ઉતારવાનું શ્રેષ્ઠ માધ્યમ છે. માણભટ્ટો દ્વારા ગવાતા આખ્યાનોએ અભણ લોકો સુધી પણ વેદ-પુરાણનું જ્ઞાન પહોંચાડ્યું છે. ઉદાહરણ તરીકે, પ્રેમાનંદનું ‘નળાખ્યાન’ અથવા ‘સુદામાચરિત્ર’. ‘સુદામાચરિત્ર’ દ્વારા ‘મિત્રધર્મ’ અને ‘ઈશ્વર પરની અતૂટ શ્રદ્ધા’નું જ્ઞાન સામાન્ય માણસ સુધી પહોંચે છે.

૪.૩ છપ્પા અને નીતિકાવ્યો (સામાજિક જાગૃતિના વાહક) - અખા ભક્તના છપ્પાઓ: બાહ્ય આડંબર, અંધશ્રદ્ધા અને જાતિવાદ પર કટાક્ષ કરીને સાચું બ્રહ્મજ્ઞાન આપ્યું. “તિલક કરતાં ત્રેપન વહ્યાં” જેવી રચનાઓ આંતરિક

શુદ્ધિ પર ભાર મૂકે છે. • દુહા: નીતિ, શૌર્ય અને પુરુષાર્થનું ગંભીર જ્ઞાન માત્ર બે પંક્તિઓમાં રજૂ કરે છે. • કહેવતો અને રૂઢિપ્રયોગો: કહેવતો પેઢીઓના અનુભવોનો અર્ક છે, જે 'ગાગરમાં સાગર' ભરે છે. તેમાં જીવનોપયોગી વ્યવહારુ જ્ઞાન (Practical Wisdom) સમાયેલ હોય છે.

૪.૪ પદ્યવાર્તા અને સમસ્યા (વ્યવહારુ બુદ્ધિના વાહક) શામળ ભટ્ટએ વાર્તાઓ અને સમસ્યાઓ દ્વારા લોકોની તર્કશક્તિ વિકસાવી. તેમની પદ્યવાર્તાઓ નીતિશાસ્ત્ર અને ચાતુર્યનું પ્રાયોગિક જ્ઞાન આપે છે (દા.ત. "અવગુણ ઉપર ગુણ કરે તે ખરો ક્ષત્રિય વટ"). મધ્યકાલીન ગુજરાતી સાહિત્યમાં વિષયવસ્તુની દૃષ્ટિએ ભિન્ન પદતી 'પદ્યાત્મક લોકવાર્તા'ના મૂળ સંસ્કૃત સાહિત્યમાં જોવા મળે છે. 'કથાસરિતસાગર' અને 'દશકુમારચરિત' જેવી કૃતિઓમાં ભક્તિપદાર્થથી અલગ વિષયવસ્તુ ધરાવતી કથાઓ લખાઈ છે, જેનું અનુસરણ મધ્યકાળમાં પદ્યાત્મક રીતે થયું. પદ્યાત્મક લોકવાર્તાઓમાં ધર્મકથાઓ કરતાં લોકોના ચિત્તને આનંદ આપતા શૃંગાર, અદ્ભુત અને વીરરસથી ભરપૂર કૌતુકમય આલેખનો જોવા મળે છે. શામળ પદ્યાત્મક લોકવાર્તાનો સફળ સર્જક છે. તેમની વાર્તાઓમાં કલ્પનાપ્રવાહ સાથે વ્યવહારજ્ઞાન, નીતિ અને ધર્મને જોડતા છપ્પાઓ પણ અસરકારક બને છે. આ પદ્યવાર્તાઓમાં જાદુ, સાહસ અને ચમત્કારિક તત્ત્વો દ્વારા વ્યવહારિક બુદ્ધિ, ચાતુર્ય અને નીતિશાસ્ત્રનું જ્ઞાન આપવામાં આવે છે.

૪.૫ રાસ અને ફાગુ (ધર્મ અને પ્રકૃતિના વાહક) જૈન કવિઓએ 'રાસ' દ્વારા સંયમ, અહિંસા અને વૈરાગ્યનો બોધ આપ્યો છે, જ્યારે 'ફાગુ' કાવ્યો પ્રકૃતિના સૌંદર્ય સાથે આધ્યાત્મિક આનંદનું સંયોજન કરીને ભોગ અને ત્યાગ વચ્ચેનો સંઘર્ષ આલેખે છે. નરસિંહ મહેતા પહેલાંના જૈન કવિઓએ 'રાસ' રચ્યા છે. 'રાસ' શબ્દ સંસ્કૃત 'રાસક' પરથી ઉતરી આવ્યો છે. આપણા વિદ્વાન સંશોધક કે. કા. શાસ્ત્રીએ રાસસાહિત્યના અભ્યાસના આધારે રાસના બે પ્રકાર દર્શાવ્યા છે: તાલારાસ અને લફટારાસ. તાલારાસમાં તાળીઓના તાલે વર્તુળાકારે પગના ઠેકા સાથે ગાન કરવામાં આવે છે, જ્યારે લફટારાસમાં દાંડિયાનો ઉપયોગ થાય છે. રાસમાં ભાવોર્મિ અને ચરિત્રચિત્રણ વિષયરૂપે આવતાં જોવા મળે છે, પરંતુ ક્યારેક ઉપદેશનું તત્ત્વ પણ પ્રબળ બને છે. રાસ મુખ્યત્વે ધર્મ અને આચારસંહિતાના વાહક તરીકે પ્રયોગમાં લેવાય છે. મોટાભાગે કથનાત્મક પદ્યરચનાઓ—ચરિત્રકથાઓ, ઇતિહાસકથાઓ, લૌકિક કથાઓ અથવા રૂપકકથાઓ—બધા માટે 'રાસ' સંજ્ઞાનો ઉપયોગ થાય છે.

'જંબૂસ્વામી ચરિય' જેવી ચરિત્રકથા 'જંબૂસ્વામી રાસ' તરીકે ઓળખાય છે; 'વિમલ પ્રબંધ' અને 'કુમારપાલ પ્રબંધ' જેવી ઇતિહાસકથાઓ 'વિમલ મંત્રીનો રાસ' અને 'કુમારપાલ રાસ' તરીકે ઓળખાય છે; તેમજ 'માધવાનલ કામકંદલા ચોપાઈ' જેવી લૌકિક કથા 'માધવાનલ કામકંદલા રાસ' તરીકે પણ ઓળખાય છે. રાસ મુખ્યત્વે જૈન કવિઓ દ્વારા રચાયેલું સ્વરૂપ છે. તે ધાર્મિક ઉપદેશ, ત્યાગ અને નૈતિક જીવન જીવવાનું જ્ઞાન આપે છે. પૌરાણિક પાત્રોના જીવન દ્વારા 'સંયમ' અને 'અહિંસા' જેવા ભારતીય મૂલ્યોનું શિક્ષણ આપે છે. ઉદાહરણ તરીકે 'ભરતેશ્વર બાહુબલી રાસ' (શાલિભદ્રસૂરી). આ રાસમાં બે ભાઈઓ વચ્ચેના સત્તાસંઘર્ષ દ્વારા અંતે 'વૈરાગ્ય' અને 'ત્યાગ'નો સંદેશ આપવામાં આવ્યો છે, જે ભારતીય દર્શનનો મુખ્ય આધાર છે. 'ફાગુ' વસંતઋતુના મહિમાનું વર્ણન કરે છે, જ્યારે 'બારમાસી'માં બારેય મહિનાને આધારે કાવ્યરચના થાય છે—એટલો ભેદ આ બંને પદ્યસ્વરૂપોમાં છે. વસંતને કામદેવનો મિત્ર માનવામાં આવે છે, તેથી 'ફાગુ' કાવ્યોમાં આનંદ, ઉલ્લાસ અને શૃંગારનું પ્રાબલ્ય જોવા મળે છે. 'બારમાસી' કાવ્યોમાં ઋતુચક્ર સાથે બદલાતી પરિસ્થિતિઓના અનુસંધાનમાં નાયક-નાયિકાની વિરહાવસ્થાનું વર્ણન કરવામાં આવે છે. આ સંદર્ભમાં જૈન કવિઓની કૃતિઓ વિશેષતા ધરાવે છે. તેઓ શૃંગાર—સંયોગ અને વિયોગ બંને—નું આલેખન કર્યા પછી અંતે સંયમ અને વ્રતનો બોધ આપે છે.

૪.૬ ગરબા અને ગરબી (સાંસ્કૃતિક એકતાના વાહક) વલ્લભ મેવાડાના ગરબા 'શક્તિ'ની ઉપાસનાનું પ્રતિનિધિત્વ કરે છે, જ્યારે દયારામની ગરબીઓ 'પ્રેમલક્ષણા ભક્તિ'નું વહન કરે છે. આ સ્વરૂપો સમાજમાં શ્રદ્ધા, ભક્તિ અને લયબદ્ધ સાધનાનું સિંચન કરે છે.

૪.૭ પ્રબંધ (ઇતિહાસ અને વીરત્વના વાહક) પદ્મનાભદ્રારા રચિત 'કાન્હડે પ્રબંધ' જેવા કાવ્યો ઐતિહાસિક ઘટનાઓ દ્વારા રાષ્ટ્રીય અસ્મિતા અને માતૃભૂમિ માટેના બલિદાનની ભારતીય પરંપરાને જીવંત રાખે છે. 'કાન્હડે પ્રબંધ', 'સદયવત્સવીર પ્રબંધ' અને 'વિમલ પ્રબંધ' જેવા શીર્ષકો પરથી સ્પષ્ટ થાય છે કે વ્યક્તિવિશેષના ચરિત્રને કેન્દ્રમાં રાખીને પ્રબંધસાહિત્ય રચાયું છે. ઇતિહાસ અને દંતકથાના સંમિશ્રણથી સર્જાયેલા પ્રબંધકાવ્યોમાં વીરરસ અને ઓજસ ગુણનું વિશેષ મહત્ત્વ છે. ઉપરાંત, કેટલાક પ્રબંધોમાં શૃંગારરસ પણ આકર્ષણરૂપ બને છે. પ્રબંધકાવ્યો ઐતિહાસિક ઘટનાઓને વીરરસ સાથે સંકળીને રજૂ કરે છે અને રાષ્ટ્રીય અસ્મિતા તથા શૌર્યપરંપરાને જાળવી રાખે છે.

૫. મધ્યકાલીન ગદ્ય અને લોકશિક્ષણ :- પદ્યની સરખામણીએ ગદ્યનું પ્રમાણ ઓછું હોવા છતાં 'બાલાવબોધ' જેવા પ્રકારો જિજ્ઞાસુઓ માટે જ્ઞાનના સ્ત્રોત બન્યા છે. 'પૃથ્વીચંદ્રચરિત્ર' અને સ્વામીનારાયણ સંપ્રદાયના 'વચનામૃત'માં ગદ્ય દ્વારા ગૂઢ તત્ત્વજ્ઞાનને અત્યંત પ્રભાવશાળી રીતે રજૂ કરવામાં આવ્યું છે.

ઉપસંહાર :- મધ્યકાલીન ગુજરાતી સાહિત્યના વિવિધ સ્વરૂપો માત્ર મનોરંજનના સાધનો નહોતા, પરંતુ તે ભારતીય જ્ઞાન પરંપરાના 'વહેતા ઝરણાં' હતા. આ સ્વરૂપોએ સંસ્કૃતના શાસ્ત્રીય જ્ઞાનને લોકભાષામાં ઢાળીને સમાજમાં આધ્યાત્મિક ચેતના, નૈતિક મૂલ્યો અને વ્યવહારુ ડહાપણનું સિંચન કર્યું છે. આ સાહિત્ય આજના આધુનિક યુગમાં પણ જીવન જીવવાની પ્રેરણા પૂરું પાડતો આપણો અમૂલ્ય સાંસ્કૃતિક વારસો છે.

સંદર્ભ-સૂચી

1. 'મધ્યકાલીન સાહિત્ય સ્વરૂપો', સંપાચન્દ્ર .ડૉ .કાન્ત મહેતા, પ્રથમ આવૃત્તિ :2000, પ્રકાશકયુનિવર્સિટી ગ્રંથનિર્માણ બોર્ડ :, અમદાવાદ.
2. 'પ્રાચીન કાવ્યોં કી રૂપ પરંપરા', અગરચન્દ નાહટા, પ્રથમ આવૃત્તિ :1962, પ્રકાશક :ભારતીય વિદ્યા મંદિર શોધ પ્રતિષ્ઠાન, બીકાનેર (રાજસ્થાન)।
3. 'ગુજરાતી સાહિત્યનો ઇતિહાસ', ગ્રંથર-, ખંડર-, બીજી શોધિત :વર્ધિત આવૃત્તિ-2004, પ્રકાશકગુજરાતી સાહિત્ય પરિષદ :, અમદાવાદ.
4. 'ગુજરાતી લોકસાહિત્ય', સંપા. ડૉ. હસુ યાજ્ઞિક, દ્વિતીય આવૃત્તિ: 2018, પ્રકાશક: ગુજરાત સાહિત્ય અકાદમી, ગાંધીનગર.

ભારતીય પરિવારમાં સાંસ્કૃતિક મૂલ્ય

ડૉ. શૈલેષ બ્રહ્મભટ્ટ*

પ્રસ્તાવના :- ભારતમાં 'કલ્ચર' ના પર્યાય રૂપે 'સંસ્કૃતિ' શબ્દ પ્રયોજવામાં આવે છે. નૃવંશવિદ્યાવિદો અને સંસ્કૃતિવિદ્યાવિદો તેનું તાત્પર્ય સમજાવતાં કહે છે કે સંસ્કૃતિ એ કોઈ ભૂતકાળની બાબત નથી. તેનો સંબંધ જિવાતા જીવન સાથે છે. તેના સર્જનની પાત્રતા કેવળ મનુષ્યમાં જ છે. જગતની અન્ય જીવસૃષ્ટિ સંસ્કૃતિ ખીલવી શકતી નથી, કેમ કે અન્ય જીવસૃષ્ટિ પ્રકૃતિજીવી છે, જ્યારે મનુષ્ય કેટલીક વિશેષતાઓને લઈને પ્રકૃતિજીવી ન રહેતાં સંસ્કૃતિજીવી બન્યો છે. સૃષ્ટિની જીવયોનિઓમાં પ્રાણી તરીકે મનુષ્ય અનેક પ્રકારની કેટલીક ચોખ્ખી વિશેષતાઓ ધરાવે છે. તેનાં શરીર, ભાષા, રહેણીકરણી, નિર્વાહ, આહાર, સામાજિક વૃત્તિ વગેરે અનેક બાબતો તેની એ વિશેષતા બતાવે છે. મનુષ્ય તેનો સમાજ રચે છે, તેને સારુ અમુક સુધારો એટલે કે જીવનનિર્વાહ કરવાને માટે અમુક શારીરિક-માનસિક શ્રમ, તે માટે આવશ્યક સાધનસામગ્રી, રાચરચીલું વગેરેથી માંડીને અમુક સંસ્થા કે પ્રથાઓ રચે છે. તેમાં એ સાહિત્ય, કલા અને ધર્મની છટા આણે છે. આ વસ્તુ મનુષ્ય પરત્વે જ બને છે, બીજા કોઈ અંગે નહિ. મનુષ્યનું નિરાળાપણું મુખ્યત્વે તેના ચિત્તની શક્તિ અને હાથની કારીગરી શક્તિમાં રહેલું છે. માનવયોનિ શિક્ષણ લઈ શકે છે અને તેને સંઘરી શકે છે એ એની ખાસ વિશેષતા છે. યોગદર્શનની પરિભાષા પ્રયોજીને કહીએ તો માનવચિત્તમાં બે વૃત્તિઓ વિશેષ છે, જેને લઈને તે સંસ્કૃતિ જેવો અમર વારસો કમાઈ શકે છે. એક વિકલ્પ- વૃત્તિ, જેને લઈને તે શબ્દશક્તિ દ્વારા ખેડાણ કરે છે; બીજી સ્મૃતિશક્તિ, જેને લઈને તે વર્તમાન જ નહિ, પરંતુ ભૂત અને ભવિષ્યકાળ સમજે છે અને પોતાની અમરતાનાં સ્વપ્નાં જુએ છે અને એ સાધવા ઝૂરે છે. આ આંતરપ્રેરણાનો માર્યો તે સમાજના ધારણને માટે સંસ્કૃતિ રચે છે, તેનો વારસો પોતાની ઉત્તર પેઢીને આપીને અને બને તેટલો એ સમૃદ્ધિમાં વધારો કરીને પોતાને કૃતકૃત્ય માને છે. આમ સંસ્કૃતિ એ સમાજનું ધારકબળ છે. કોઈ પણ સંસ્કૃતિ તે તે પ્રદેશોનાં જાતિ, દેશકાળ, ભૂગોળ, ઇતિહાસ પરત્વે જુદી જુદી ઘડાય છે. તેથી શરીર અને તેના વર્ણને આધારે માનવજાતિઓ જુદી જુદી જોઈએ છીએ, તેમ એમની સંસ્કૃતિ વિશે પણ ભિન્ન વર્ગો પાડી બતાવાય છે. દરેક સંસ્કૃતિને પોતપોતાનાં મૌલિક તથ્યો કે મૂલ્યો હોય છે અને તેના સભ્યોની તેના તરફની વફાદારીથી તેનું જતન અને સંવર્ધન થાય છે. ભારતીય પ્રાચીન પરિભાષામાં તેને ધર્મબળ કહ્યું છે. મહાભારતકારે લોકયાત્રાર્થમેવેહ ધર્મપ્રવચનં કૃતમ્ કહ્યું છે તે આ અર્થમાં સમજાય છે.

વિકાસ અને પ્રદાન:- સંસ્કૃતિના વિષયોને સાધારણ રીતે ભૌતિક અને બૌદ્ધિક એમ બે શ્રેણીઓમાં વહેંચવામાં આવે છે. પ્રત્યેક સંસ્કૃતિનો પ્રારંભિક વિકાસ એનું ભૌતિક પાસું દર્શાવતો હોય છે. ભારતીય સંસ્કૃતિ પરત્વે જોઈએ તો તેનો પ્રારંભ ક્યારે થયો હશે તે ચોક્કસપણે નક્કી કહી શકાતું નથી. પુરાતત્વવિદો અને ભારતીય વિદ્યાવિદોની ધીરજપૂર્વકની શોધખોળથી જણાયું છે કે ભારતીય સંસ્કૃતિનું નિર્માણ પ્રાચીન પાષાણયુગથી આરંભાયું હતું. શિવાલિકની પહાડીઓમાં સોઅન નદીની ખીણ(હિમાચલ પ્રદેશ)માંથી પૂર્વપાષાણયુગના અર્થાત્ ચાર લાખથી બે લાખ વર્ષ પૂર્વેના મનુષ્યવસવાટનાં ચિહ્નો રૂપે પથ્થરનાં ઓજારો મળી આવ્યાં છે. દક્ષિણ ભારતમાંથી પણ આવાં ઓજારો પ્રાપ્ત થયાં છે. ત્યારે મનુષ્ય અરણ્યવાસી હતો અને પોતાની આવશ્યકતાઓની પૂર્તિ માટે તેણે અનેક પ્રકારનાં ઓજારોની શોધ કરી હતી. એ માટે તેણે પહેલાં પથ્થરો અને હાડકાં અને પછી જંગલોમાં તાંબા અને લોઢાની ખાણોમાંથી મળેલ કાચા માલનો પ્રયોગ કરવા માંડ્યો હતો. જંગલોની અપાર સંપત્તિનો તેણે ભરપૂર ઉપયોગ કર્યો. વાંસની શોધ આદિમ મનુષ્ય માટે પ્રગતિદાયક સિદ્ધ

* મદદનીશ પ્રાધ્યાપક, ચિલ્ડ્રન્સ રીસર્ચ યુનિવર્સિટી

થઈ. વાંસનાં ખપાટિયાંને કે પથ્થરોને પરસ્પર ઘસીને અગ્નિ પેદા કરવાથી માંસ પકવવાની સુવિધા થઈ. અગ્નિની શોધે તેની ભૌતિક અને આગળ જતાં આધ્યાત્મિક ઉન્નતિનાં દ્વાર ખોલી નાંખ્યાં. પશુઓના ચામડામાંથી બનાવેલી ધમણનો ઉપયોગ કરીને ભઠ્ઠીમાં ધાતુ ગાળી તેમાંથી નવાં નવાં ઓજારો અને આભૂષણો ઘડવામાં આવ્યાં. અગ્નિ વડે જંગલો બાળીને તેમને કૃષિયોગ્ય કરવામાં આવ્યાં. નવાં ખેતરો બનાવતી વખતે જંગલની દેવીમાતા કે કૃષિમાતાની સ્થાપના કરી તેના સન્માનમાં નૃત્ય-ગાનનું આયોજન થવા લાગ્યું. ખેતીની શોધ સાથે ભટકતા જીવનનું સ્થાન સ્થિર ગ્રામજીવને લીધું. હવે સમુદાયમાં રહેવાની આદત પડતાં સામાજિક પરંપરાઓ અને પદ્ધતિઓનો ઉદય થયો. ઉત્તરપાષાણયુગ (ઈ. પૂ. પાંચમીથી ચોથી સહસ્ત્રાબ્દી) સુધીમાં તો સમગ્ર ભારતમાં મનુષ્યના વસવાટનો પ્રારંભ થઈ જતો જોવામાં આવે છે. તેમની સંસ્કૃતિના અવશેષો દેશના બધા ભાગોમાંથી પ્રાપ્ત થયા છે. ભારતના ઇતિહાસની શરૂઆતનો સમય નક્કી કરવો ઘણો મુશ્કેલ છે. ઇતિહાસવિદો અને પુરાતત્ત્વવિદોની શોધ પરથી જણાયું છે કે ભારતીય પ્રજા ઇતિહાસની ક્ષિતિજ પર પ્રથમ એક પૂર્ણ વિકસિત ભૌતિક સંસ્કૃતિનું સ્વરૂપ ધરાવતી જોવામાં આવે છે. ઋગ્વેદ કેવળ ભારતીય પ્રજાનું જ નહિ પણ સમગ્ર માનવજાતનું પ્રથમ લિખિત સાહિત્ય છે. એમાં રજૂ થયેલ ચિત્ર પરથી ત્યારનું જીવન ખેતી, પશુપાલન, ગ્રામીણ હસ્તોદ્યોગ અને ગ્રામસંગઠન પરત્વે આબાદ હોવાનું પ્રતીત થાય છે. ઋગ્વેદીય ભારતીયોને જીવન, કવિતા અને યુદ્ધ પ્રત્યે ભારે ખેંચાણ હતું. તેમની આ સંસ્કૃતિનો પ્રારંભ ક્યારે થયો તે નિશ્ચિતપણે કહેવું મુશ્કેલ છે. કેટલાક સમર્થ ઇતિહાસવિદોનો મત છે કે સિંધુ ખીણ સંસ્કૃતિ પ્રાગ્-ઋગ્વેદકાલીન છે અને તેનાથીવે અધિક પૂર્વકાલમાં વિકસિત સભ્યતાને સ્તરે પહોંચેલું સ્વરૂપ ધરાવતી હતી.

સિંધુખીણ સંસ્કૃતિના અવશેષો વાયવ્ય ભારતમાં હડપ્પા (પંજાબ) અને મોહેં-જો-દડો(સિંધ)માંથી પ્રચુર માત્રામાં મળ્યા છે, પરંતુ હવે આ સ્થાનો પાકિસ્તાનમાં છે. ભારતમાં વાયવ્ય અને પશ્ચિમ ભારતમાં લોથલ, કાલીબંગન, રૂપડ, ધોળાવીરા, નાવડાટોલી જેવાં સ્થાનોમાંથી પ્રાપ્ત થયેલા અવશેષો પરથી તેમનો સમયગાળો ઈ. પૂ. 3500થી ઈ. પૂ. 1800નો અંકાયો છે. આ સંસ્કૃતિનો પ્રસાર ભારતના વાયવ્ય ઉપરાંત મધ્ય, દખ્ખણ અને છેક દક્ષિણ સુધીના પ્રદેશોમાં થયેલો હતો. સિંધુ ખીણ સંસ્કૃતિ નગરોની સંસ્કૃતિ હતી. ઉન્નત નાગરિક જીવન સૂચવતા અવશેષો, જેવા કે, ભઞ્જ ઇમારતો, સોનું, ચાંદી, તાંબું અને અકીક તેમજ મણિઓનાં આભૂષણો; ધરવપરાશનાં ઉપકરણો, મુદ્રાઓ, મૂર્તિઓ વગેરે વિપુલ પ્રમાણમાં મળ્યાં છે. સુયોજિત નગરરચના, નગરને ફરતો કોટ, બાંધેલા રસ્તા, જાહેર ભવનો, લોથલની ગોદી, આંતરરાષ્ટ્રીય વેપારસૂચક શિલ્પો તેમજ મુદ્રાઓ, મુદ્રાઓ પર પ્રયોજાયેલ લિપિ વગેરે આ સંસ્કૃતિની ઉન્નત અવસ્થા સૂચવે છે. આ સંસ્કૃતિનું નિર્માણ ઘણું કરીને દ્રવિડી પ્રજાએ કરેલું હોવાનું મનાય છે. એનો સંબંધ પશ્ચિમ એશિયાની સુમેર, બાબિલોન વગેરે સમકાલીન સંસ્કૃતિઓ સાથે પણ હતો. આ સંસ્કૃતિ એકદમ નષ્ટ થઈ ગઈ નથી. તેનું સાતત્ય કેટલેક અંશે વર્તમાન ભારતીય જીવનમાં પણ વરતાય છે. આ સંસ્કૃતિએ શિવ અને શક્તિની ઉપાસના તેમજ સંભવતઃ યોગદર્શનને જન્મ આપ્યો હતો અને આજે પણ ભારતીય સંસ્કૃતિનાં તે મહત્વનાં અંગો છે. લોથલ પરંપરાનાં વાસણો આજે પણ સૌરાષ્ટ્ર, કચ્છ અને રાજસ્થાનના વિસ્તારોમાં પ્રચલિત છે.

સંસ્કૃતિનું મહત્વ :- ભારતીય સંસ્કૃતિનો સળંગ ઇતિહાસ ઋગ્વેદથી પ્રાપ્ત થાય છે. તેના વેદકાલીન સ્વરૂપનું નિર્માણ ઋષિઓને હાથે થયું હતું. એમાં ઋગ્વેદ, યજુર્વેદ, સામવેદ અને અથર્વવેદના ધર્મરૂપ વેદમંત્રોનો સાક્ષાત્કાર કરનારા ‘કવિ’ કહેવાતા. આ સાક્ષાત્કૃત ધર્મમાં ઋષિઓ પાસેથી ઉપદેશ દ્વારા જ્ઞાન પ્રાપ્ત કરનારા ઋષિઓ ‘શ્રુતર્ષિ’ કહેવાતા. બ્રાહ્મણગ્રંથો અને આરણ્યકોનું વાડમય તેમનું પ્રદાન છે. તેમના પછી ત્રીજો શ્રેણીના ઋષિ થયા. તેમણે વેદોનો યથાર્થ બોધ કરાવવા અને બ્રાહ્મણો તથા આરણ્યકોના જ્ઞાનનો વિસ્તાર કરવા માટે ‘વેદાંગ’ નામે સ્વતંત્ર વિદ્યાઓનું પ્રવર્તન કર્યું. વૈદિક ઋષિઓની આ ત્રણેય પરંપરાઓનું પ્રદાન

ભારતીય સંસ્કૃતિ અને જગતસંસ્કૃતિ માટે અદ્વિતીય છે. અગાઉ જણાવ્યું તેમ, વેદો જગતનું પ્રાચીનતમ સાહિત્ય છે. તેમાં કર્મ અને જ્ઞાનનું આધાન પ્રથમ મંત્રદ્રષ્ટા ઋષિઓ દ્વારા થયું છે. ઋગ્વેદમાં પ્રતિબિંબિત સામાજિક, સાંસ્કૃતિક અને ધાર્મિક પરંપરાઓમાં ઉત્તરકાલીન પરંપરાઓનાં મૂળ પ્રાપ્ત થાય છે. ધાર્મિક ચિંતન પરત્વે સત્ તત્વ તો એક જ છે એવો ખ્યાલ આ યુગમાં પ્રવર્ત્યો. એ વખતે પાંગરેલી કર્મની વિભાવના, ઉત્તરકાલમાં ઘણે અંશે યથાવત્ જળવાઈ છે. વિષ્ણુ, રુદ્ર, સૂર્ય (મિત્ર) વગેરે આ યુગના દેવતાઓની ઉપાસના આજે પણ થાય છે. ઋગ્વેદકાલના યજ્ઞો કાલાંતરે પૂજા અને અનુષ્ઠાનમાં પરિવર્તિત થયા અને એ સ્વરૂપે આજે પણ પ્રયોજાય છે. ઋગ્વેદની વૈદિક સંસ્કૃત ભાષા પછીના સમયમાં લૌકિક સંસ્કૃત રૂપે રૂપાંતર પામી. આ કાલમાં સભ્યતાનું કેંદ્ર પંજાબ હતું અને ત્યાંથી તેનો પૂર્વ તરફ પ્રસાર થતો જોવામાં આવે છે. ઉત્તર વૈદિક કાલ (ઈ. પૂ. 1200થી ઈ. પૂ. 800) દરમિયાન શ્રુતિઓએ કર્મ અને જ્ઞાનના વારસાનો વિકાસ કરવાના હેતુથી વૈદિક ધર્મને વ્યાપક અને બહુજનગમ્ય બનાવ્યો. આર્ય અને આર્યેતર જાતિઓનું મિશ્રણ વ્યાપક પ્રમાણમાં થયું અને તેને પરિણામે વર્ણવ્યવસ્થા ઈદં થઈ. સામાજિક જીવનનો ઉત્તરોત્તર વિકાસ અને વિસ્તાર થતાં પારસ્પરિક સંઘર્ષો ટાળવા ત્રીજા યુગના ઋષિઓએ સૂત્રગ્રંથો અને સ્મૃતિઓની રચના કરી. બ્રાહ્મણ, ક્ષત્રિય, વૈશ્ય અને શૂદ્ર એ ચાતુર્વર્ણ્ય સમાજનું રૂપ સ્પષ્ટ થયું. તેની સાથોસાથ સામાજિક નીતિનિયમો પણ નિર્ધારિત થયા. યજ્ઞધર્મનો વિકાસ અને વર્ણવ્યવસ્થાની સ્થાપના થતાં બ્રાહ્મણ ધર્મની પ્રધાનતા થઈ. આ યુગમાં જુદા જુદા વ્યવસાયો અને ગૃહઉદ્યોગોની સ્થાપના થતાં ભારતીય સમાજના આર્થિક વિકાસની નવી દિશાઓ ખૂલી. સંસ્કૃતિ-વિકાસના આ યુગમાં યજ્ઞને શ્રેષ્ઠતમ કર્મ રૂપે સ્વીકારવામાં આવ્યો અને પૂર્વવર્તી યુગમાં કર્મ ને ઉન્નતિના નામે જે ભૌતિક પ્રતિભવનોથી પશુબલિ જેવા અનર્થો થઈ રહ્યા હતા તેના પર રોક લાગી. આ યુગમાં ઉપનિષદોના ચિંતનની જ્ઞાનધારાનો ઉદય થયો અને બ્રહ્મ તથા આત્માનું તાદાત્મ્ય સ્થાપિત કરવામાં આવ્યું. વસ્તુતઃ વૈદિક વિચારધારાનો ઉપનિષદોરૂપી વેદાંતદર્શનમાં ચરમ વિકાસ થયો. આ કાલની બૌદ્ધિક સંસ્કૃતિએ જ્ઞાનની અનંત ધારાઓનો વિકાસ કર્યો અને પરંપરાગત વૈદિક જ્ઞાનના વારસાને તર્ક અને પ્રમાણની કસોટી પર કસીને તત્ત્વચિંતનની અનેક નવી પદ્ધતિઓનાં દ્વાર ખોલી નાખ્યાં. ભારતના આ બૌદ્ધિક ઉત્કર્ષની ચરમ પરિણતિ આગળ જતાં દર્શનશાસ્ત્રની વિવિધ શાખાઓ રૂપે પાંગરી. આ યુગમાં સંસ્કૃતિનું મુખ્ય કેંદ્ર પંચનદ અને કુરુક્ષેત્ર હતાં, પછી તેનો વિસ્તાર કાશી, કોસલ અને વિદેહ સુધી થતાં આ સમગ્ર વિસ્તાર ‘આર્યાવર્ત’ ને નામે ઓળખાયો. આર્યેતરો અને આર્યો વચ્ચે સમન્વય અને એકાત્મતાની પ્રક્રિયા તીવ્ર બની. કર્મનો સિક્કાંત ઉપનિષદોમાં દેખા દે છે તે સંભવતઃ મુનિઓ અને શ્રમણોની પરંપરામાંથી લેવામાં આવ્યો હતો. સમય જતાં આ સિક્કાંત ભારતીય જીવન-દર્શનનું કેંદ્રબિંદુ બન્યો. પ્રવૃત્તિપ્રધાન વૈદિક ધર્મ અને નિવૃત્તિપ્રધાન અવૈદિક ધર્મો વચ્ચે સમન્વય થતાં વૈદિક ધર્મમાં પણ નિવૃત્તિ કે સંસારત્યાગ અને સાંસારિક બંધનોમાંથી મુક્તિ પ્રાપ્ત કરવાનો વિકલ્પ વ્યાપકપણે સ્વીકારાયો. તેથી પ્રવૃત્તિ-નિવૃત્તિ-પ્રધાન ઉભયાત્મક ધર્મનું પ્રતિપાદન થવા લાગ્યું અને તે ભારતીય ધર્મ અને સંસ્કૃતિનું એક મહત્વનું લક્ષણ બન્યું. સંન્યાસાશ્રમના આદર્શની પ્રતિષ્ઠા પણ આવા સાંસ્કૃતિક સંમિશ્રણનું પરિણામ છે. રાજનૈતિક ક્ષેત્રે આ યુગમાં અનેક રાજ્યો પ્રગટ્યાં, શાસનપ્રણાલીઓ વિકસી અને ‘ઐતરેય બ્રાહ્મણ’ માં તો સમુદ્રપર્યંત પૃથ્વીને એકછત્ર સામ્રાજ્ય રૂપે ધારણ કરવાનો રાજા માટે આદર્શ સ્થપાયો.

ભારતમાં સાંસ્કૃતિક મૂલ્ય :- સૂત્રકાલ (ઈ. પૂ. 800થી ઈ. પૂ. 500) દરમિયાન સામાજિક, ધાર્મિક અને વ્યાકરણ, દર્શન જેવા શાસ્ત્રીય વિષયોને લગતા નિયમોને કમબદ્ધ રૂપે, અલ્પતમ શબ્દો વડે સૂત્રમાં પરોવીને, વિદ્યાર્થીઓ સરળતાપૂર્વક કંઠસ્થ કરી શકે તેવા સૂત્રગ્રંથોની રચના કરવામાં આવી. આ ગ્રંથોમાં ભારતીય સમાજનાં જુદાં જુદાં અંગોને વિધિવિધાનો દ્વારા વ્યવસ્થિત કરવાનો ઉપક્રમ રખાયો છે. શ્રૌતસૂત્રોમાં યજ્ઞને લગતાં ધાર્મિક વિધિવિધાનો અપાયો છે, તો ગૃહ્યસૂત્રોમાં કૌટુંબિક જીવનને લગતાં અને ધર્મસૂત્રોમાં વર્ણવ્યવસ્થા તેમજ

સામાજિક અને રાજકીય પરંપરાઓને લગતાં વિધિવિધાનો અને વ્યવહારોનું પ્રતિપાદન કરવામાં આવ્યું છે. રાજાનાં અધિકારો અને કર્તવ્યોની મીમાંસા પણ તેમાં અપાઈ છે. આ વખતે નિર્ધારિત કરવામાં આવેલી સમાજવ્યવસ્થા પછીના સમયમાં છેક હમણાં સુધી વત્તે-ઓછે અંશે જળવાયેલી નજરે પડે છે. સૂત્રગ્રંથો રચવાની પરંપરા લાંબા સમય સુધી ચાલી છે. આપસ્તંબ, આશ્વલાયન વગેરે કેટલાંક મુખ્ય શ્રીતસૂત્રો તેમજ ગૃહ્યસૂત્રોનો સમય ઈ. પૂ. 800થી ઈ. પૂ. 400નો મનાયો છે, જ્યારે ગૌતમ, બૌદ્ધાચન, વસિષ્ઠ અને આપસ્તંબનાં ધર્મસૂત્રો સંભવતઃ ઈ. પૂ. છઠ્ઠીથી ઈ. પૂ. ચોથી સદીઓ દરમિયાન રચાયાં છે. ઈ. પૂ. છઠ્ઠી-પાંચમી સદીમાં વૈયાકરણ પાણિનિએ ‘અષ્ટાધ્યાયી’ નામના પ્રસિદ્ધ સૂત્રગ્રંથની રચના કરી. વ્યાકરણના આ ગ્રંથ દ્વારા પ્રાદેશિક ભાષાઓ ઉપર સંસ્કૃતિને આંતરક્ષેત્રીય ભાષા રૂપે પ્રતિષ્ઠિત કરીને દેશની સાંસ્કૃતિક એકતા સુદૃઢ કરવાનું મહત્વનું કાર્ય સિદ્ધ થયું. આ ગ્રંથ ઉત્તરકાલમાં સંસ્કૃત ભાષાનો નિયામક ગ્રંથ બની રહ્યો. આ અરસામાં બાદરાયણે ઉપનિષદોના તત્ત્વજ્ઞાનને વેદાન્તસૂત્રો(બ્રહ્મસૂત્ર)માં પરોવ્યું. આ સમયગાળામાં બીજી બાજુ પુરાણોએ વેદોના જ્ઞાનથી વંચિત રહેલાં સ્ત્રી-શૂદ્ર વગેરેને - આમજન-સમાજને પણ આ સમન્વયાત્મક સંસ્કૃતિથી તરબોળ કરવાનો સબળ પ્રયાસ કર્યો. પુરાણોના રચનારા કે તેનું કથન કરનારા સૂત્રમુનિઓએ પરંપરાગત વૃત્તાંતો અને ઐતિહાસિક ઘટનાઓને રોચક અને સરળ આખ્યાનો તેમજ ઉપાખ્યાનોમાં વણી લઈને તે દ્વારા સમાજને લોકપ્રિય ઢબે ધર્મ, નીતિ અને સદાચારના માર્ગો દોરવાની મહત્વની કામગીરી બજાવી. પુરાણોનાં આદર્શમય અને લોકપ્રિય આખ્યાન-ઉપાખ્યાનોને આધારે ઉદારચરિત રાજપુરુષોના જીવનાદર્શોને વણી લઈને વાલ્મીકિ અને વ્યાસ, કૃષ્ણદ્વૈપાયન જેવા સમર્થ મનીષીઓએ રામાયણ, મહાભારત જેવાં મહાકાવ્યોની રચના કરી, અને તે દ્વારા પરંપરાગત સાંસ્કૃતિક ધારાને યુગ અનુસાર નવું રૂપ આપ્યું. આ બંને કાવ્યોમાં કુટુંબધર્મ અને રાજધર્મ કેંદ્રસ્થાને હોવા છતાં તેમાં માનવધર્મનું પણ વ્યાપકપણે નિરૂપણ થયું છે. આ કાવ્યોમાં તેના કવિઓએ મનુષ્યસ્વભાવનું સૂક્ષ્મ નિરીક્ષણ કરીને તેના ઊંડાણમાં પેસી જીવનનું અદ્યુત દર્શન કરાવ્યું હોઈ હજારો વર્ષોથી ભારતમાં અનેક પ્રસંગોએ જીવનપ્રેરણા માટે લોકો તેનો આશ્રય લેતા આવ્યા છે. વસ્તુતઃ રામાયણમાં નિરૂપિત ‘રામચરિત’ અને મહાભારતનિરૂપિત ‘ભગવદગીતા’ દ્વારા ભારતીય સંસ્કૃતિનાં વિશિષ્ટ મૂલ્યોને દૃઢ કરવામાં આવ્યાં છે. દરમિયાનમાં ઈ. પૂ. છઠ્ઠી સદીમાં રાજકીય ક્ષેત્રે નવાં રાજ્યો અને ધાર્મિક ક્ષેત્રે નવાં આંદોલનો પ્રગટ્યાં. આ સમયે સોળ મહાજનપદોનો મહિમા સ્થપાતાં નગરસભ્યતાનો ઉદય થવા લાગ્યો. અગાઉ વેદકાલ અને સૂત્રકાલમાં આર્થિક વ્યવસ્થાનો પાયો ગ્રામીણ તંત્ર પર નિર્ભર હતો. આ સમયે આર્થિક પરિવર્તનોની સાથે વેપારીઓના મધ્યમ વર્ગનો ઉદય થયો. સોળ મહાજનપદો પૈકીનાં કેટલાંક નૃપતંત્ર સ્વરૂપનાં હતાં તો કેટલાંક ગણતંત્ર સ્વરૂપ ધરાવતાં હતાં. તેમની વચ્ચે તીવ્ર સંઘર્ષોનો પ્રારંભ થઈ ચૂક્યો હતો. બીજી બાજુ આર્ય અને આર્યોતર ધાર્મિક આદર્શોનો સંપર્ક અને સંઘર્ષ પણ હવે તીવ્ર બન્યો હતો. શ્રમણો અને તપસ્વીઓના અનેક સંઘો હતા અને તેમના આદર્શો ભિન્ન હોવાને કારણે બ્રાહ્મણધર્મ સાથે તેમને વૈચારિક સંઘર્ષ થવા કરતો હતો. આવી પરિસ્થિતિમાં નિવૃત્તિપરક ધાર્મિક આંદોલન રૂપે બૌદ્ધ ધર્મ અને જૈન ધર્મ પ્રગટ્યા તે ઈ. પૂ. છઠ્ઠી સદીની ભારતના ઇતિહાસની મોટી ઘટના છે. આ બંને ધર્મોના સિદ્ધાંતોમાં અવૈદિક અને વૈદિક બંને સાંસ્કૃતિક ધારાઓનો સમન્વય નજરે પડે છે. મહાવીર સ્વામી અને ગૌતમ બુદ્ધ જેવા સમર્થ ધાર્મિક નેતાઓના પ્રભાવથી આ ધર્મોનો પ્રભાવ પ્રસર્યો. તેમણે બતાવેલ આત્મદર્શન, ચિત્તશુદ્ધિ, વૈરાગ્ય, તપ, ત્યાગ, સમાધિ, સંન્યાસ, પ્રજ્ઞા વગેરે પરમાર્થપ્રાપ્તિનાં સાધનો ઘણે અંશે સાંખ્ય, યોગ અને વેદાંતનું રૂપાંતર છે. વળી તેમણે પ્રબોધેલ અહિંસા, જીવદયા, સત્ય, અસ્તેય અને બ્રહ્મચર્યના નૈતિક અને ચારિત્રિક ગુણો બૌદ્ધ, જૈન તેમજ બ્રાહ્મણ પરંપરામાં પણ લગભગ સમાન છે. આ બંને ધર્મોએ ભારતીય સંસ્કૃતિમાં નવાં મૂલ્યો સ્થાપી તેના વિકાસમાં મહત્વનો ફાળો આપ્યો. દર્શન, શિક્ષણ, સાહિત્ય અને કલાના વિકાસને તેમનાથી અપૂર્વ બળ પ્રાપ્ત થયું. બૌદ્ધ દર્શનનો ‘શૂન્યવાદ’, જૈન ધર્મનો સ્યાદ્વાદ; નાલંદા, વલભી અને વિક્રમશીલ જેવી વિદ્યાપીઠો; પાલિ અને

અર્ધમાગધી સાહિત્ય; સાંચી, અજંટા, સારનાથ, બોધગયા જેવાં બૌદ્ધ અને ઉદયગિરિ, ખંડગિરિ, આબુ, શત્રુંજય, રાણકપુર જેવાં જૈન કલાધામો પ્રસિદ્ધ થયાં. બૌદ્ધ ધર્મ એની મધ્યમમાર્ગી વિચારસરણીને કારણે વિશ્વમાનવતાનો ધર્મ બન્યો. શસ્ત્ર-સરંજામ કે બળનો પ્રયોગ કર્યા વગર, બુદ્ધનો સત્ય, અહિંસા અને શાંતિને લગતો પંચશીલનો સંદેશ હિમાલયનાં ઉત્તુંગ શિખરો, ગહન અરણ્યો અને દુર્ગમ સાગરોને ઓળંગીને વિશ્વ(એશિયા)માં ફેલાઈ ગયો. તેની સાથે ભારતીય સંસ્કૃતિ અને કલા પણ વિશ્વસ્તરે પહોંચ્યાં. આ કાલમાં અજાતશત્રુએ રાજગૃહમાં બોલાવેલી બૌદ્ધ ધર્મની પ્રથમ સભામાં ધર્મ અને સંઘની એકતા પર પહેલી વાર વ્યાપકપણે વિચાર-વિનિમય થયો. આ જ સમયે પશ્ચિમ ભારતમાં ભાગવત (વૈષ્ણવ) અને શૈવ સંપ્રદાયો ફૂલ્યા-ફાલ્યા. ભારતીય જનજીવનમાં આર્થિક, સામાજિક અને રાજનૈતિક પરિવર્તનો પણ થવા લાગ્યાં. નગરોની સંખ્યા વધતી ગઈ, વેપારી વર્ગનો ઉદય થયો અને રાજાઓની શક્તિ વધી. મગધમાં પ્રથમ સામ્રાજ્યનો થયેલો ઉદય તે ઈ. પૂ. છઠ્ઠી સદીની બીજી મોટી ઘટના છે. ઈ. પૂ. છઠ્ઠીથી ઈ. પૂ. પહેલી સદીમાં મગધ સામ્રાજ્યનું પુનરુત્થાન થયું અને તેના દ્વારા ભારતનું ઘણું અંશે રાજકીય એકીકરણ સિદ્ધ થયું. વચ્ચે ઈ. પૂ. ચોથી સદીના ઉત્તરાર્ધમાં ગ્રીસમાં પાંગરેલા અને વિશ્વના ઘણા ભાગોમાં વિસ્તરેલા મહાન સિકંદરના સામ્રાજ્યમાં ભારતનો પંજાબ અને સિંધનો થોડો ભાગ તત્કાળ પૂરતો સમાવિષ્ટ થયો હતો. એ વખતે મગધમાં નંદવંશની સત્તા પ્રવર્તતી હતી. આ વંશના રાજાઓએ ઉત્તરના ઘણા ભાગો પર પોતાની આણ પ્રવર્તાવી હતી, પણ મગધની સત્તાનો ચરમોત્કર્ષ તેમના પછી આવેલા મૌર્યવંશના અમલ દરમિયાન થયો. ચંદ્રગુપ્ત મૌર્યે (ઈ. પૂ. 324-300) પંજાબ અને સિંધને ગ્રીકોની પકડમાંથી મુક્ત કરીને મૌર્ય સામ્રાજ્યનું નિર્માણ કર્યું, જે વાયવ્યમાં ઈરાનની સીમા સુધી અને દક્ષિણે કર્ણાટક અને પૂર્વમાં બંગાળ સુધી વિસ્તરેલું હતું. તેના સમયની ઉત્તમ ઉપલબ્ધિ તે કૌટિલ્ય અને તેમણે રચેલ ‘અર્થશાસ્ત્ર’ છે. વસ્તુતઃ આ ગ્રંથ મૌર્ય સામ્રાજ્યની સર્વાંગીણ પ્રગતિના વિશ્વકોશ રૂપ છે. ચંદ્રગુપ્તના પૌત્ર અશોકે (ઈ. પૂ. 273-236) કલિંગ અને બીજા પ્રદેશો જીતી મૌર્ય સામ્રાજ્યને વધુ વિસ્તૃત કર્યું. દક્ષિણના થોડા ભાગને બાદ કરતાં સમગ્ર ભારતનો તેના સામ્રાજ્યમાં સમાવેશ થતો હતો. આમ બ્રાહ્મણ ગ્રંથોમાં સમ્રાટ માટે સમુદ્ર પર્યંત પૃથ્વીને એકછત્ર ધારણ કરવા અંગે નિરૂપાયેલો આદર્શ આ સમયે વાસ્તવિક રૂપ ધારણ કરતો જોવા મળે છે. અશોકે શસ્ત્રવિજયને સ્થાને ધર્મવિજયની નીતિ અપનાવી. બૌદ્ધ ધર્મ અંગીકાર કર્યો અને વિદેશોમાં ધર્મદૂતો મોકલ્યા. પ્રજાવત્સલ રાજવી તરીકેનું મહાન વ્યક્તિત્વ અને માનવતા તેમજ ધર્મસહિષ્ણુતાના આદર્શને કારણે જગતના ઇતિહાસમાં તે અગ્રગણ્ય રાજવી તરીકે સ્થાન પામ્યો. તેણે દેશમાં ખૂણે ખૂણે કોતરાવેલા ધર્મલેખો ભારતીય સંસ્કૃતિનો બહુમૂલ્ય વારસો છે. મૌર્યોના સમયની રાજકીય એકતાને લઈને સાંસ્કૃતિક ઉન્નતિને વ્યાપક અવકાશ મળ્યો.

ભારતીય જ્ઞાન પ્રણાલીના વિકાસમાં પુસ્તકાલયોનું યોગદાન

ડૉ. મૃગીણી ડી. દવે*

૧:પ્રસ્તાવના .- ભારત જ્ઞાન અને શિક્ષણનો પ્રાચીન અને સમૃદ્ધ ઇતિહાસ ધરાવે છેપ્રાચીન કાળથી અહીં . તે ફક્ત જ્ઞાનના સંચય માટેના સ્થળો જ નહોતા .પુસ્તકાલયો અસ્તિત્વમાં છે, પરંતુ વિચારો અને અભ્યાસના આદાનપ્રદાન માટેના મહત્વપૂર્ણ કેન્દ્રો પણ હતા .ભારતીય જ્ઞાન પ્રણાલી વિવિધ સામાજિક, સાંસ્કૃતિક અને ધાર્મિક પરિવર્તનો દ્વારા વિકસિત થઈ છે, અને આ વિકાસમાં પુસ્તકાલયોએ મહત્વપૂર્ણ ભૂમિકા ભજવી છે . .ભારતમાં પુસ્તકાલયોનો ઇતિહાસ પ્રાચીન સમયથી આજ સુધી એક મહત્વપૂર્ણ પ્રકરણ રહ્યો છેઆ લેખમાં, આપણે ભારતીય જ્ઞાન પ્રણાલીના વિકાસમાં પુસ્તકાલયોની ભૂમિકાની ચર્ચા કરીશું. ભારતીય જ્ઞાન પ્રણાલી (IKS) એ ભારતની પ્રાચીન સભ્યતા, શિક્ષણ અને બૌદ્ધિક પરંપરાઓ પર આધારિત એક પરંપરાગત, દાર્શનિક અને વૈજ્ઞાનિક અભિગમ છેતે વેદ ., ઉપનિષદ, પુરાણો, આયુર્વેદ, યોગ, જ્યોતિષ, ગણિત, વાસ્તુ શાસ્ત્ર, નાટ્ય શાસ્ત્ર અને અન્ય પરંપરાગત જ્ઞાન શાસ્ત્રોમાં સચવાયેલી છે.

ભારતની જ્ઞાન પરંપરા વૈદિક કાળથી શરૂ થાય છે, જ્યાં મૌખિક પરંપરાની સાથે, લેખિત ગ્રંથોને સાચવવાની પણ એક વ્યવસ્થા હતીએ મહત્વપૂર્ણ ભૂમિકા આ જ્ઞાનને સાચવવા અને પ્રસારિત કરવામાં પુસ્તકાલયો . ભજવી છે .નાલંદા, તિરુચિરાપલ્લી અને વિક્રમાદિત્ય જેવી પ્રાચીન યુનિવર્સિટીઓના પુસ્તકાલયો ફક્ત ગ્રંથોના ભંડાર જ નહોતા, પરંતુ વૈદિક વિદ્વાનો, વિદ્યાર્થીઓ અને સામાન્ય લોકો માટે વિચાર અને બૌદ્ધિક વિકાસના કેન્દ્રો પણ હતાઆ પુસ્તકાલયોએ વેદ ., ઉપનિષદ, આયુર્વેદ, જ્યોતિષ, ગણિત, સ્થાપત્ય અને વર્ણન સહિત ભારતીય જ્ઞાન પ્રણાલીના સતત વિકાસ માટે માળખાકીય પાયો પૂરો પાડ્યો હતો.

મધ્યયુગીન સમયમાં પણ, મંદિરો, મઠો અને અદાલતોમાં ખાનગી અને જાહેર પુસ્તકાલયો હતા, જેમાં સંસ્કૃત, ફારસી, અરબી અને અન્ય ભાષાઓમાં મૂલ્યવાન ગ્રંથો હતાઆધુનિક . સમયમાં, ખાસ કરીને સ્વતંત્રતા પછી, જાહેર પુસ્તકાલય અધિનિયમો અને સંસ્થાકીય પુસ્તકાલયો દ્વારા જ્ઞાનને કેન્દ્રિત કરવા માટે પગલાં લેવામાં આવ્યા હતા .આમ, ભારતમાં પરંપરાગત જ્ઞાનને જાળવી રાખવામાં જ નહીં, પરંતુ આધુનિક વૈજ્ઞાનિક અને તકનીકી જ્ઞાનના વિકાસમાં પણ પુસ્તકાલયોએ મહત્વપૂર્ણ ભૂમિકા ભજવી છેભારત સરકારના શિક્ષણ મંત્રાલય . :દ્વારા આપવામાં આવેલી ભારતીય જ્ઞાન પ્રણાલીની વિશેષતાઓ

- વેદ અને ઉપનિષદ આધ્યાત્મિક જ્ઞાન -, બ્રહ્માંડ, આત્મા અને મનની ઉત્પત્તિ સંબંધિત વિચારો.
- યોગ અને આયુર્વેદ તબીબી પ્રણાલીઓ આરોગ્ય અને -, શરીરનું સંતુલન.
- જ્યોતિષ અને ગણિત સમય ગણતરી -, શૂન્યની શોધ, ભૂમિતિ, ખગોળશાસ્ત્ર.
- નાટ્યશાસ્ત્ર અને સત્ય નાટ્ય -, નૃત્ય, કવિતા, અલોનકાસ્ત્ર.
- સ્થાપત્ય અને શિલ્પ સ્થાપત્ય -, મોન્ટાદાર બાંધકામ, શહેર આયોજન.
- અર્થશાસ્ત્ર અને નીતિશાસ્ત્ર ઇક્યની નીતિયા -, સામાજિક અને રાજકીય મંતવ્યો.
- ન્યાય અને અર્વોદિન તર્ક -, મીમાંસા, સાંખ્ય, વેદાંત.
- પર્યાવરણ અને કૃષિ વિજ્ઞાન પરંપરાગત પાણી વ્યવસ્થાપન -, સિંચાઈ, સજીવ ખેતી.

૨. ભારતમાં પુસ્તકાલયોનો ઇતિહાસ :- ભારતમાં પુસ્તકાલયોનો ઇતિહાસ ખૂબ જ પ્રાચીન છે. સમયમાં પ્રાચીન , પુસ્તકાલયો જ્ઞાનના સંગ્રહ અને પ્રસારનું એક મહત્વપૂર્ણ માધ્યમ હતા. નાલંદા , તક્ષશિલા, વિક્રમશિલા અને અસંખ્ય ગુરુકુળોમાં સમૃદ્ધ પુસ્તકાલયો હતા. આધુનિક સમયમાં પણ , પુસ્તકાલયો ભારતીય સમાજમાં લેખન અને જ્ઞાનના પ્રસારનો મુખ્ય આધારસ્તંભ રહ્યા છે.

૨.૧ ભારતમાં પુસ્તકાલયોનું મહત્વ વેદ .ભારતમાં પ્રાચીન કાળથી જ્ઞાનની પરંપરા રહી છે -, ઉપનિષદ અને અન્ય ધાર્મિક ગ્રંથોએ ભારતીય જ્ઞાનનો પાયો નાખ્યો. પુસ્તકાલયોએ આ ગ્રંથોનું જતન અને અસ્તિત્વમાં ભારતીય સંસ્કૃતિમાં પ્રથમ પુસ્તકાલયો શાહી દરબાર અને ધાર્મિક સંસ્થાઓમાં આયોજન કર્યું હતા .

- નાલંદા યુનિવર્સિટી (5મી-12મી સદી) પ્રાચીન ભારતમાં, શિક્ષણ અને જ્ઞાન મુખ્ય શૈક્ષણિક કેન્દ્રો દ્વારા ફેલાયેલું હતું, જેમાંના નાલંદા અને તક્ષશિલા મુખ્ય હતા. નાલંદા યુનિવર્સિટીનું પુસ્તકાલય "ધર્મગંધા" ના નામથી પ્રખ્યાત હતું. આ પુસ્તકાલયમાં ફક્ત બૌદ્ધ ધર્મ સંબંધિત ગ્રંથો જ સંગ્રહિત નહોતા, પરંતુ ગણિત, દવા, ખગોળશાસ્ત્ર અને સાહિત્ય પરના પુસ્તકોનો સંગ્રહ પણ હતો. વધુમાં, વિદેશી વિદ્યાર્થીઓ પણ અહીં શિક્ષણ માટે આવતા હતા અને આ પુસ્તકાલયનો ઉપયોગ કરતા હતા.
- તક્ષશિલા યુનિવર્સિટી (6મી સદી બીસી - 5મી સદી એડી) નું પુસ્તકાલય પણ એટલું જ મહત્વનું હતું, જેમાં વિજ્ઞાન, ગણિત, ફિલસૂફી અને દવાના અભ્યાસક્રમોને આવરી લેતા પુસ્તકો અને ગ્રંથો રાખવામાં આવતા હતા. આ પુસ્તકાલયોનો ઉદ્દેશ્ય ફક્ત ધાર્મિક વિચારોનો પ્રસાર કરવાનો જ નહોતો, પરંતુ વસાહતી સમાજના વિવિધ પાસાઓ પર જ્ઞાન અને શિક્ષણનો પણ ફેલાવો કરવાનો હતો. આ પુસ્તકાલયોએ ભારતીય સમાજમાં જ્ઞાનના આદાનપ્રદાનનો માર્ગ મોકળો કર્યો.
- તમિલનાડુ યુનિવર્સિટી (૮મી - ૧૨મી સદી) પાલ વંશના રાજા ધર્મપાલ દ્વારા સ્થાપિત, આ યુનિવર્સિટી બૌદ્ધ અભ્યાસનું એક મુખ્ય કેન્દ્ર હતું. તેમાં એક વિશાળ પુસ્તકાલય પણ હતું, જેમાં સંસ્કૃત, બૌદ્ધ ધર્મ અને અન્ય વિષયો પર હસ્તપ્રતો રાખવામાં આવી હતી.
- અયોધ્યા, કાશી અને મદુરાઈના મંદિર પુસ્તકાલયો ભારતના પ્રાચીન મંદિરોમાં જ્ઞાનના ભંડાર હતા.
- દક્ષિણ ભારતનું સરસ્વતી મહેલ પુસ્તકાલય જ્ઞાનના ભંડાર તરીકે મહત્વપૂર્ણ છે.

૨.૨. પુસ્તકાલયોનો ઉદય અને પતનમધ્યયુગીન ભારતમાં વિવિધ સામ્રાજ્યો અને - શાહી દરબારોનું વર્ચસ્વ હતું, પરંતુ તે કટોકટીનો સમયગાળો પણ હતો, જેમાં વિદેશી આક્રમણો અને ધાર્મિક ઉથલપાથલની જ્ઞાન અને પુસ્તકાલયો પર નકારાત્મક અસર પડી હતી આ સમયગાળા દરમિયાન કેટલીક મહત્વપૂર્ણ પુસ્તકાલયો અસ્તિત્વમાં હતી, પરંતુ મોટાભાગની કાં તો અદ્રશ્ય થઈ ગઈ હતી અથવા તેમનું મહત્વ ઘટી ગયું હતું.

• મુઘલ સામ્રાજ્યમાં પુસ્તકાલયોનું અસ્તિત્વ મુઘલ સામ્રાજ્ય દરમિયાન અનેક પુસ્તકાલયોની સ્થાપના અને - બિંદુ હતા. પુસ્તકાલયો શાહી દરબારોનું કેન્દ્ર .વિકાસ થયો, જ્યાં રાજાઓ અને દરબારીઓ બૌદ્ધિક અને સાંસ્કૃતિક ચર્ચાઓમાં ભાગ લેતા હતા. મુઘલ સમ્રાટ અકબરે તેમના દરબારમાં વિદ્વાનોનું સન્માન કર્યું અને અસંખ્ય . પુસ્તકાલયો બનાવ્યા, જેમાં ઐતિહાસિક ગ્રંથો, કલા અને સંસ્કૃતિ પરના પુસ્તકો હતા. શાહજહાં , આગ્રા અને દિલ્હીમાં બાદશાહ દ્વારા સ્થાપિત પુસ્તકાલયોએ સાહિત્ય અને ઇતિહાસનો ફેલાવો કરવામાં મદદ કરીજો કે , આ પુસ્તકાલયો અલ્પજીવી રહ્યા અને ઘણીવાર યુદ્ધો અને આક્રમણોને કારણે તેમને નુકસાન થયું.

• વસાહતી ભારતમાં પુસ્તકાલયોનો વિકાસ સ્વરૂપ સલ્તનત સમયગાળા દરમિયાન ભારતીય પુસ્તકાલયોનું - અને હેતુ એક મહત્વપૂર્ણ વળાંક પર પહોંચ્યો. સલ્તનતના અધિકારીઓએ ભારતીય સમાજને નિયંત્રિત કરવા .

માટે ઘણી નીતિઓ ઘડી, જેનો શિક્ષણ અને પુસ્તકાલયો પર પ્રભાવ પડ્યોજોકે ., ભારતમાં કેટલીક આધુનિક પુસ્તકાલયોનો પાયો સલ્તનત સામ્રાજ્ય હેઠળ નાખવામાં આવ્યો હતો.

રહેર પુસ્તકાલય .3.યોની શરૂઆતમી સદીના અંત સુધીમાં જાહેર પુસ્તકાલયોનો ખ્યાલ શરૂ ૧૯ભારતમાં - માં કરવામાં આવી હતી ૧૮૨૮કલકત્તામાં એશિયાટિક સોસાયટી પુસ્તકાલયની સ્થાપના .થયો, અને તેને એક શૈક્ષણિક અને સાંસ્કૃતિક કેન્દ્ર તરીકે જોવામાં આવતું હતુંવધુમાં ., રાજ્ય પુસ્તકાલયની સ્થાપના કરવામાં આવી હતી, જેમાં ફક્ત ઐતિહાસિક અને સાંસ્કૃતિક ગ્રંથો જ નહીં, પરંતુ સમકાલીન જર્નલો અને પુસ્તકો પણ રાખવામાં આવતા હતા.

૩બ્રિટિશ શાસન હેઠળ પુસ્તકાલયોનો ઇતિહાસ . :- બ્રિટિશ સરકારે ભારતીય સમાજના વિવિધ વર્ગો માટે શિક્ષણની જરૂરિયાતને માન્યતા આપી, અને તેના કારણે પુસ્તકાલયોનો વિસ્તાર થયોભારતીય સમાજમાં . અંગ્રેજી સાહિત્ય, વિજ્ઞાન, ગણિત અને સમાજશાસ્ત્ર જેવા વિષયોનો અભ્યાસ વધ્યોવધુમાં ., બ્રિટિશ શાસન હેઠળ, સાહિત્ય અને વિજ્ઞાનના ક્ષેત્રોમાં અસંખ્ય પુસ્તકાલયોએ સંશોધન અને સંશોધનના પ્રસારને પ્રોત્સાહન આપ્યું.

• સ્વતંત્રતા પછી પુસ્તકાલયોનો વિકાસ માં ભારતની સ્વતંત્રતાએ ભારતીય સમાજમાં ઘણા ફેરફારો ૧૯૪૭ - લાવ્યા, અને તેની સાથે, પુસ્તકાલયોનું મહત્વ સ્વીકારાયુંસ્વતંત્રતા ચળવળ પછી ., ભારતીય બંધારણમાં શિક્ષણને પ્રાથમિકતા આપવામાં આવી, અને જનતાને શિક્ષણ પૂરું પાડવા માટે પુસ્તકાલયો વધુને વધુ મહત્વપૂર્ણ બન્યા.

૪રાષ્ટ્રીય પુસ્તકાલયની સ્થાપના . :- સ્વતંત્રતા પછી, ભારત સરકારે રાષ્ટ્રીય પુસ્તકાલયની સ્થાપના કરી, જે ભારતીય સાહિત્ય અને સંસ્કૃતિનો ભંડાર હતોઆ પુસ્તકાલયમાં ફક્ત પુસ્તકો જ નહોતા ., પરંતુ નવા જ્ઞાન અને સંશોધન માટે એક મહત્વપૂર્ણ કેન્દ્ર પણ બન્યુંરાજ્ય સરકારોએ સ્થાનિક પુસ્તકાલયોનું નેટવર્ક પણ વિસ્તૃત . કર્યું

૫: જાહેર પુસ્તકાલયોનો વિકાસ .- ભારત સરકારે ૧૯૫૧માં જાહેર પુસ્તકાલયો કાયદો ઘડ્યો, જેનાથી જાહેર પુસ્તકાલયોનો વ્યવસ્થિત વિકાસ થયોત્યારબાદ ., વિવિધ રાજ્યોએ પોતાના પુસ્તકાલય નેટવર્ક સ્થાપ્યા . પુસ્તકાલયોના મહત્વને ઓળખીને, ભારત સરકારે રાષ્ટ્રીય ડિજિટલ પુસ્તકાલય જેવી યોજનાઓ શરૂ કરી, જેનાથી ભારતીય નાગરિકો ઇન્ટરનેટ દ્વારા પુસ્તકો અને અન્ય જ્ઞાન સામગ્રી મેળવી શક્યા.

૬ આજના સમયમાં પુસ્તકાલયોની ભૂમિકા :- આજે ભારતમાં પુસ્તકાલયોની ભૂમિકા ફક્ત પુસ્તકો એકત્રિત કરવાની જ નથી, પરંતુ વિવિધ શૈક્ષણિક અને સાંસ્કૃતિક કાર્યક્રમોનું આયોજન કરવાની પણ છેવધુમાં ., ડિજિટલ પુસ્તકાલયો દ્વારા જ્ઞાનનો પ્રસાર વધુ સુલભ બન્યો છેઆજના સમયમાં પુસ્તકાલયોની ભૂમિકા અત્યંત . હિતીનો ભંતેઓ માત્ર જ્ઞાન અને મા .મહત્વપૂર્ણ છેડાર નથી, પરંતુ વિદ્યાર્થીઓ, શીખનારાઓ અને સામાન્ય વાચકો માટે પ્રેરણાનો સ્ત્રોત પણ છેડિજિટલ યુગમાં પણ ., પુસ્તકાલયો દિશા, સંશોધન અને સ્વવિકાસના કેન્દ્રો - ઓનલાઇન સંસાધનો .રહ્યા છે, ઈપુસ્તકો અને ડિજિટલ આર્કાઇવ્સની ઉપલબ્ધતાએ તેમને વધુ સુલભ અને - બનાવ્યા છે ઉપયોગીઉદાહરણ તરીકે ., અલીગઢ મુસ્લિમ યુનિવર્સિટીની મૌલાના આઝાદ લાઇબ્રેરી અને બનારસ હિન્દુ યુનિવર્સિટીની ઇવનિંગ લાઇબ્રેરી દેશની મુખ્ય શૈક્ષણિક (સયાજી રાવ ગાયકવાડ લાઇબ્રેરી) લાઇબ્રેરીઓમાંની એક છે, જ્યાં વિદ્યાર્થીઓ અને વાચકો માટે લાખો પુસ્તકો, હસ્તલિખિત હસ્તપ્રતો અને ડિજિટલ સંસાધનો ઉપલબ્ધ છે .BNU નું પુસ્તકાલય ખાસ કરીને આયુર્વેદ, ભારતીય સંસ્કૃતિ અને વિજ્ઞાનના ક્ષેત્રોમાં તેના સમૃદ્ધ સંગ્રહ માટે પ્રખ્યાત છેવધુમાં ., નેશનલ ડિજિટલ લાઇબ્રેરી ઓફ ઇન્ડિયા (NDLI) જેવા ઓનલાઇન

પ્લેટફોર્મો વિદ્યાર્થીઓને તેમના ઘરના આરામથી ઉચ્ચ ગુણવત્તાની અભ્યાસ સામગ્રી ઉપલબ્ધ કરાવી છે. આમ, પરંપરાગત અને ડિજિટલ પુસ્તકાલયો મળીને આજની શિક્ષણ પ્રણાલી માટે મજબૂત પાયો પૂરો પાડે છે.

૭: ડિજિટલ લાઇબ્રેરીઓ અને ઇન્ટરનેટનો પ્રભાવ :- આજે ભારતમાં રાષ્ટ્રીય ડિજિટલ લાઇબ્રેરીઓ અને અન્ય ડિજિટલ સંસાધનો દ્વારા માહિતી અને સંશોધનની પહોંચમાં નોંધપાત્ર વધારો થયો છે. હવે, લોકો કોઈપણ વિષય પર સંશોધન કરી શકે છે અને ઇન્ટરનેટ દ્વારા પુસ્તકાલય સંગ્રહને એક્સેસ કરી શકે છે. ડિજિટલ ફેલાવો લાઇબ્રેરીઓએ ભારતના શહેરી વિસ્તારોમાં જ નહીં પરંતુ ગ્રામીણ વિસ્તારોમાં પણ શિક્ષણ અને જ્ઞાનનો કર્યો છે. વધુમાં, પુસ્તકાલયોમાં ઇપુસ્તકો અને ઓનલાઇન જર્નલ્સની ઉપલબ્ધતાએ વાચકો અને વિદ્યાર્થીઓને - ડિજિટલ પુસ્તકાલયો અને ઇન્ટરનેટે શિક્ષણ અને જ્ઞાનની દુનિયામાં સરળતાથી જ્ઞાન મેળવવાની તક આપી છે. હવે ક્રાંતિ લાવી છે, વિદ્યાર્થીઓ, દર્શકો અને વાચકો ગમે ત્યારે, ગમે ત્યાંથી જ્ઞાનના વિશાળ ભંડારને એક્સેસ કરી શકે છે. ઉદાહરણ તરીકે, નેશનલ ડિજિટલ લાઇબ્રેરી ઓફ ઇન્ડિયા (NDLI), ગૂગલ બુક્સ અને INFLIBNET જેવા પ્લેટફોર્મ ઇપુસ્તકો-, જર્નલ્સ અને વિડિયો લેક્ચર્સની મફત એક્સેસ પ્રદાન કરે છે. આનાથી ગ્રામીણ અને દૂરના વિસ્તારોના વિદ્યાર્થીઓને ગુણવત્તાયુક્ત શિક્ષણ સામગ્રીનો ઉપયોગ કરવાની મંજૂરી મળી છે. ઇન્ટરનેટે - શિક્ષણને ઇન્ટરેક્ટિવ અને અદ્યતન બનાવ્યું છે. SWAYAM જેવા ઓનલાઇન લર્નિંગ પ્લેટફોર્મો વિદ્યાર્થીઓને પોતાની ગતિએ શીખવાની મંજૂરી આપી છે. આમ, ડિજિટલ પુસ્તકાલયો અને ઇન્ટરનેટે શિક્ષણને સાક્ષર, સુલભ અને આધુનિક બનાવ્યું છે. આજકાલ, ભારતમાં રાષ્ટ્રીય ડિજિટલ લાઇબ્રેરી અને અન્ય ડિજિટલ સંસાધનો દ્વારા માહિતી અને સંશોધનની પહોંચમાં નોંધપાત્ર વધારો થયો છે. હવે, લોકો ઇન્ટરનેટ દ્વારા કોઈપણ વિષય પર સંશોધન કરી શકે છે અને પુસ્તકાલય સંગ્રહો એક્સેસ કરી શકે છે. ડિજિટલ પુસ્તકાલયોએ માત્ર ભારતના શહેરી વિસ્તારોમાં જ નહીં પરંતુ ગ્રામીણ વિસ્તારોમાં પણ શિક્ષણ અને જ્ઞાન ફેલાવ્યું છે, પુસ્તકાલયોમાં ઇપુસ્તકો અને ઓનલાઇન જર્નલ્સની ઉપલબ્ધતાએ વાચકો અને વિદ્યાર્થીઓને સરળતાથી જ્ઞાન મેળવવાની તક આપી છે.

૮. આધુનિક ભારતમાં પુસ્તકાલય ચળવળ: - આધુનિક ભારતમાં પુસ્તકાલય ચળવળ 19મી સદીના અંતમાં શરૂ થઈ હતી, જેનો ઉદ્દેશ્ય સામાન્ય લોકોમાં જ્ઞાન, શિક્ષણ અને જાગૃતિ ફેલાવવાનો હતો. આ ચળવળની સ્થાપના સમાજ સુધારકો, દાર્શનિકો અને સ્વાતંત્ર્ય સેનાનીઓ દ્વારા કરવામાં આવી હતી, જેમણે પુસ્તકાલયોને સામાજિક સુધારણા અને રાષ્ટ્ર નિર્માણ માટે એક શક્તિશાળી માધ્યમ તરીકે જોયા હતા. રાધાકૃષ્ણન, આર.એસ. ડો. ડો. મિન અને પંડિત જવાહરલાલ નેહરુ જેવા નેતાઓએ પુસ્તકાલયોની મહત્વપૂર્ણ ભૂમિકા પર ભાર મૂક્યો. એસ.બી. હતોસ્વતંત્રતા પછી, વિવિધ રાજ્યોમાં જાહેર પુસ્તકાલય કાયદાઓ ઘડવામાં આવ્યા, જેનાથી પુસ્તકાલય વ્યવસ્થા માટે સંસ્થાકીય આધાર પૂરો પડ્યો. આ ચળવળે માત્ર આ વિચારના પ્રસારમાં ફાળો આપ્યો નહીં પરંતુ સાહિત્યિક મૂલ્યોને મજબૂત બનાવવામાં પણ મુખ્ય ભૂમિકા ભજવી.

૯. પડકારો અને શક્યતાઓ .૧. :- ભારતીય પુસ્તકાલય પ્રણાલી હજુ પણ અનેક પડકારોનો સામનો કરી રહી છે, જેમાં અપૂરતા નાણાકીય સંસાધનો, સમર્પિત સ્ટાફનો અભાવ, આધુનિક ટેકનોલોજીકલ માળખાનો અભાવ અને ગ્રામીણ વિસ્તારોમાં પુસ્તકાલયોની મર્યાદિત પહોંચનો સમાવેશ થાય છે. ડિજિટલ વિભાજન પણ એક મોટો અવરોધ છે, જે જ્ઞાનના સમાન વિતરણને અસર કરે છે. વધુમાં, પરંપરાગત જ્ઞાનને ડિજિટાઇઝ કરવાની ગતિ ધીમી છે, જેના કારણે ભારતીય જ્ઞાન પરંપરાનો મોટો ભાગ હજુ પણ મર્યાદિત ઉપયોગમાં છે. જોકે, આ પડકારો વચ્ચે, ઘણી શક્યતાઓ પણ ઉભરી રહી છે. નેશનલ ડિજિટલ લાઇબ્રેરી (NDLI) જેવી પહેલો જ્ઞાનની પહોંચને વિસ્તૃત કરવા માટે પ્રયત્નશીલ છે. પુસ્તકાલયોનું ડિજિટાઇઝેશન, મોબાઇલ પુસ્તકાલય સેવાઓ અને ખુલ્લા એક્સેસ સંસાધનોએ જ્ઞાનના કેન્દ્રીકરણને નવી ગતિ આપી છે. જો સરકાર અને વૈદિક સંસ્થાઓ ટકાવ વિકાસ

) લક્ષ્યો(SDGs) હેઠળ પુસ્તકાલયોને જ્ઞાન સંવર્ધન અને નવીનતાના કેન્દ્રો તરીકે વિકસાવવા માટે સાથે મળીને કામ કરે, તો ભારતીય જ્ઞાન પ્રણાલીનું પુનરુત્થાન શક્ય છે.

દસમીક્ષા :- ભારતીય જ્ઞાન પ્રણાલીના વિકાસમાં પુસ્તકાલયોએ મહત્વપૂર્ણ ભૂમિકા ભજવી છેપ્રાચીન કાળથી . આજ સુધી, પુસ્તકાલયોએ જ્ઞાનના પ્રસાર, માળખાકીય વિકાસ અને શૈક્ષણિક વિકાસમાં મહત્વપૂર્ણ ભૂમિકા ભજવી છેઆજના ડિજિટલ યુગમાં ., પુસ્તકાલયોએ તેમની ભૂમિકાને વધુ મજબૂત બનાવી છે અને લોકો સુધી જ્ઞાનનું એક નવું પરિમાણ પહોંચાડ્યું છેભારતીય સમાજમાં પુસ્તકાલયોની ભૂમિકા માત્ર શૈક્ષણિક દ્રષ્ટિકોણથી . જ મહત્વપૂર્ણ નથી, પરંતુ આપણા સાંસ્કૃતિક અને સામાજિક વિકાસ માટે પણ જરૂરી છે.

સંદર્ભ સૂચી:-

1. RajKumar, Mohapatra, D. & Sahana, R. (2025). ભારતીય જ્ઞાન પરંપરા (સિસ્ટમ) કો ભારતીય શિક્ષા સિસ્ટમ મેં શામિલ કરને કી દિશા મેં એક કદમ (એનર્જી 2020). Shikshan Sanshodhan : Journal of Arts, Humanities and Social Sciences, ISSN(o): 2581-6241, 8(1). DOIs:10.2018/SS/202501005
2. Mandavkar, P. (2023). Indian Knowledge System (IKS).SSRN Electronic Journal. doi: 10.2139/ssrn.4589986
3. Mukherjee, A., & Bhattacharya, P. (2015). Libraries in Ancient and Medieval India: A Historical Overview. Indian Journal of Library and Information Science, 9(1), 15–22.
4. Kumar, K. (2012). Library movement in India. Ess Ess Publications
5. Ranganathan, S. R. (1931). The five laws of library science. Madras Library Association.

અન્ય સ્ત્રોત :-

1. DELNET. (n.d.). Developing Library Network. Retrieved from <https://delnet.in>
2. IGNCA. (n.d.). Indira Gandhi National Centre for the Arts. Retrieved from <https://ignca.gov.in>
3. Kapoor, K., & Singh, A. K. (Eds.). (2005). Indian knowledge systems. Indian Institute of Advanced Study. Indian-Knowledge-Systems-KapilKapoor.pdf
4. Mandal, A., & Ghosh, S. (2018). Digital Libraries in India: Initiatives and Prospects. DESIDOC Journal of Library & Information Technology, 38(4), 234–240.
5. Tiwari, D., S. (2023). Indian Knowledge System (IKS) as a Significant Corpus of Resources Useful for Personal and Professional Development. International Journal of Humanities and Social Science Invention. 12(9). 191- 200.

ઉત્તર ગુજરાતના લોકસાહિત્યમાં ભારતીય સમાજનું દર્શન

ડૉ. રાજેશભાઈ એમ. રબારી*

પ્રસ્તાવના :- ઉત્તર ગુજરાતનું લોકસાહિત્ય માત્ર શબ્દોનો સંગ્રહ નથી, પરંતુ આ પ્રદેશની તાસીર, સંસ્કાર અને ખમીરનો જીવંત દસ્તાવેજ છે. જ્યારે આપણે ‘ઉત્તર ગુજરાતના લોકસાહિત્યમાં ભારતીય સમાજનું દર્શન’ વિષય પર વિચાર કરીએ છીએ, ત્યારે તે આદિવાસી સંસ્કૃતિ, ખેતીપ્રધાન સમાજ અને શૌર્યગાથાઓના મિશ્રણરૂપે દેખાય છે.

ઉત્તર ગુજરાતનું લોકસાહિત્ય અને સામાજિક પ્રતિબિંબ :- લોકસાહિત્ય લોકહૃદયની સરવાણી છે. જે સાહિત્ય કોઈ ગ્રંથાલયમાં નહીં, પરંતુ લોકોના કંઠે અને હૃદયમાં જીવંત રહે છે, તે જ સાચું લોકસાહિત્ય કહેવાય. ઉત્તર ગુજરાતનો પ્રદેશ—જેમાં બનાસકાંઠા, સાબરકાંઠા, અરવલ્લી, પાટણ અને મહેસાણાનો સમાવેશ થાય છે—આ બાબતમાં અત્યંત સમૃદ્ધ રહ્યો છે. અહીંની બોલીમાં જે મીઠાશ અને તેજ છે, તે સીધી રીતે ભારતીય સમાજવ્યવસ્થાના મૂળિયાં સાથે જોડાયેલી છે. ભારતીય સમાજ હંમેશા મૂલ્યો, મર્યાદા અને સામૂહિક જીવનનો આગ્રહી રહ્યો છે. ઉત્તર ગુજરાતના લોકગીતો, લગ્નગીતો (ફટાણાં), હાલરડાં અને શૌર્યકથાઓમાં આ ભારતીયતાના દર્શન અચૂક થાય છે. અહીંના લોકસાહિત્યમાં માત્ર મનોરંજન જ નથી, પરંતુ તેમાં તત્કાલીન સમાજની રહેણીકરણી, જાતિવ્યવસ્થા, સ્ત્રીઓનું સ્થાન, ધાર્મિક આસ્થા અને પ્રકૃતિ સાથેનો અતૂટ સંબંધ વણાયેલો છે. ‘વીર વચ્છરાજ’ની ગાથાઓ હોય કે મલકનાં મેળાનાં વર્ણનો—આ લોકસાહિત્ય દ્વારા સમજાય છે કે ભારતીય સમાજમાં ‘સ્વ’ કરતાં ‘સમષ્ટિ’ (સમાજ)નું મહત્વ વિશેષ રહ્યું છે. ઉત્તર ગુજરાતની ભૌગોલિક પરિસ્થિતિ અને ત્યાંની લોકજીભે રમાતી લોકકથાઓ, લોકવાર્તાઓ અને લોકગીતોમાં સમગ્ર ભારતની સંયુક્ત કુટુંબભાવના તથા ‘અતિથિ દેવો ભવ’ જેવી લોકપરંપરાના દર્શન થાય છે. આ રીતે, ઉત્તર ગુજરાતનું લોકસાહિત્ય ભારતીય સમાજને સમજવા માટેની એક કિંમતી બારી સમાન છે.

અન્ય મુખ્ય મુદ્દાઓ

- સામાજિક સંબંધો: લગ્નગીતોમાં વ્યક્ત થતી પારિવારિક મર્યાદાઓ.
- ભક્તિ અને આસ્થા: અંબાજી અને બહુચરાજીના ગરબામાં પ્રગટતું આધ્યાત્મિક પાસું.
- ખમીર અને શૌર્ય: બહારવટિયાઓની વાર્તાઓમાં વ્યક્ત થતો શૌર્ય અને રાષ્ટ્રપ્રેમ.
- પ્રકૃતિપૂજા: પશુપાલન અને ખેતી સાથે જોડાયેલા લોકઉત્સવોમાં પ્રકૃતિ પ્રત્યેનો આદર.

સાહિત્ય અને સમાજનો સંબંધ :- ભારતીય સાહિત્ય હંમેશા સમાજનું પ્રતિબિંબ રહ્યું છે. સાહિત્ય અને સમાજ વચ્ચેના આ અતૂટ સંબંધને સમજવા માટે ભારતીય અને પાશ્ચાત્ય વિદ્વાનોએ પોત-પોતાના મંતવ્યો રજૂ કર્યા છે.

૧. પાશ્ચાત્ય વિદ્વાનોના મંતવ્યો :- પાશ્ચાત્ય વિચારકોએ સાહિત્યને મોટે ભાગે ‘વાસ્તવવાદ’ અને ‘સામાજિક ઉત્ક્રાંતિ’ના દૃષ્ટિકોણથી જોયું છે.

- મેથ્યુ આર્નોલ્ડ: તેઓ માનતા હતા કે સાહિત્ય એ) "જીવનની આલોચના"(Criticism of Life) છે. તેમના મતે, સાહિત્યકાર સમાજમાં બનેલી ઘટનાઓની માત્ર નકલ કરતો નથી, પરંતુ તેના મૂલ્યોની સમીક્ષા પણ કરે છે.

* અધ્યક્ષ-ગુજરાતી વિભાગ, સરકારી વિનયન કોલેજ, બેચરાજી.

- હિપ્પોલાઇટ ટેન: તેમણે ‘જાતિ’, ‘પરિવેશ’ અને ‘ક્ષણ’— આ ત્રણ તત્ત્વો પર ભાર મૂક્યો છે. તેમના મતે સાહિત્ય તે સમયના સામાજિક વાતાવરણ અને પરિસ્થિતિની અનિવાર્ય નીપજ છે.
- એમિલ ઝોલા: તેઓ સાહિત્યને એક માને છે ‘પ્રયોગશાળા’, જ્યાં લેખક સામાજિક સમસ્યાઓનું વૈજ્ઞાનિક રીતે વિશ્લેષણ કરે છે.

૨. ભારતીય વિદ્વાનોના મંતવ્યો :- ભારતીય પરંપરામાં સાહિત્યને માત્ર સમાજનું દર્પણ જ નહીં, પરંતુ સમાજનું માર્ગદર્શન આપનાર (‘હિત’ કરનાર) માનવામાં આવ્યું છે.

- આચાર્ય ભામહ: તેમણે ‘કાવ્યાલંકાર’માં જણાવ્યું છે કે સાહિત્ય પુરુષાર્થ (ધર્મ, અર્થ, કામ, મોક્ષ)ની પ્રાપ્તિનું સાધન છે. એટલે કે, સાહિત્ય સમાજને નૈતિક પતનથી બચાવી તેને ઉચ્ચ માર્ગે દોરી જાય છે.
- પી. વી. કાણે અને આનંદવર્ધન: ભારતીય મીમાંસકોના મતે સાહિત્યનો ઉદ્દેશ્ય ‘વિશ્વાત્મક ભાવ’ જગાડવાનો છે. સાહિત્ય વ્યક્તિગત પીડાને સામાજિક અથવા વૈશ્વિક પીડા તરીકે રજૂ કરે છે (સાધારણીકરણ).
- રવીન્દ્રનાથ ટાગોર: તેમના મતે સાહિત્ય ‘સહિત’ હોવાનો ભાવ છે. તે મનુષ્યને બીજા મનુષ્યો અને પ્રકૃતિ સાથે જોડે છે. તેમના મતે સાહિત્ય સમાજની આત્માનો અવાજ છે.
- પ્રેમચંદ: તેમણે સાહિત્યને “રાજનીતિની આગળ ચાલતી મશાલ” તરીકે વર્ણવ્યું છે. તેમના મતે સાહિત્યકારનું કાર્ય સમાજની સુષુપ્ત અવસ્થાને જાગૃત કરવાનું અને અન્યાય સામે અવાજ ઉઠાવવાનું છે.

ટૂંકમાં, પાશ્ચાત્ય વિદ્વાનો સાહિત્યને સમાજના ‘એક્સ-રે’ તરીકે જુએ છે, જ્યારે ભારતીય વિદ્વાનો તેને સમાજના ‘અમૃત’ અથવા ‘માર્ગદર્શક’ તરીકે સ્વીકારે છે.

ઉત્તર ગુજરાતના લોકસાહિત્યમાં ભારતીય સમાજનું દર્શન :- ઉત્તર ગુજરાતના લોકસાહિત્યની વાત કરીએ ત્યારે, આ સાહિત્યનું સંશોધન અને સંપાદન પુષ્કર ચંદરવાકર, કનુ આચાર્ય, મુરાદખાન, માધવ ચૌધરી, ભગવાનદાસ પટેલ, શાંતિભાઈ આચાર્ય, જયંતીલાલ દવે, અમૃત પટેલ, પ્રેમજી પટેલ, પ્રભુદાસ પટેલ, મફત રણેલાકર, વીરચંદ પંચાલ, વિજય પુષ્પા ભગોરા, રાજેશ મકવાણા અને રમેશ ચૌધરી જેવા વિદ્વાનો દ્વારા કરવામાં આવ્યું છે. આ વિદ્વાનોના સંપાદનકાર્યના આધારે જ્યારે આપણે લોકસાહિત્યનો અભ્યાસ કરીએ છીએ, ત્યારે ઉત્તર ગુજરાતના લોકસાહિત્યમાં ભારતીય સમાજનું જીવંત દર્શન થાય છે. આ સંશોધનની મર્યાદાને ધ્યાનમાં રાખીને કેટલાક સંશોધકો અને સંપાદકોના કાર્યના ઉદાહરણરૂપે વાત કરી શકાય છે:

- કનુભાઈ આચાર્ય - તેમણે ‘ઉત્તર ગુજરાતની અસ્મિતા’, ‘બનાસ દર્શન’, ‘બનાસ ગાઈડ’ જેવા ગ્રંથોમાં ઉત્તર ગુજરાતના વિવિધ પ્રદેશોનું વર્ણન કર્યું છે. તેમાં ઐતિહાસિક સ્મારકો, શિલ્પ-સ્થાપત્ય, મેળાઓ, ઉત્સવો, પ્રાચીન નગરો, મંદિરો તથા મહાનુભાવોનું સુંદર વર્ણન મળે છે. ‘ઓલાદને ખાતર આહુતિ’, ‘સત ચડયું પારેખ’, ‘ચાતકે ઝંખ્યા આકળિયા નીર’, ‘વેણના મૂલ’, ‘રીડ પડે રાજપૂત છુપે નહિ’, ‘તસ્કર વિદ્યા’, ‘પ્રાણ જાય પણ વચન ન જાય’, ‘વહુએ વગોવ્યા ગામ’ વગેરે તેના ઉદાહરણરૂપે ગણી શકાય.

- માધવ ચૌધરી - ‘રાતો રંગ કેવડો’ નામનો સંપાદિત ગ્રંથ મહેસાણા જિલ્લા અને આજુબાજુના આંજણા, રબારી અને બજાણિયા જ્ઞાતિઓમાં વાર-તહેવાર તથા લગ્નપ્રસંગે ગવાતા ૪૮ લોકગીતોનો સંગ્રહ છે. આ લોકગીતોમાં ભારતીય સમાજના મૂલ્યોનું પ્રતિબિંબ જોવા મળે છે. ઉત્તર ગુજરાતના લોકગીતોના અભ્યાસથી આ સાહિત્યનું મહત્વ સ્પષ્ટ થાય છે, જેમાં પ્રાચીન પરંપરાથી ચાલી આવતી સમાજવ્યવસ્થાનો ખ્યાલ મળે છે. આથી સ્પષ્ટ થાય છે કે ભારતીય સંસ્કૃતિમાં સમાજનું સ્થાન કેટલું મહત્વપૂર્ણ છે.

- ભગવાનદાસ પટેલ - ભગવાનદાસ પટેલ ઉત્તર ગુજરાતના આદિવાસી લોકસાહિત્યના અગત્યના સંશોધક ગણાય છે. તેમણે પોતાનું જીવન ખેડબ્રહ્મા અને દાંતા તાલુકાના ડુંગરી ભીલ આદિવાસીઓના જીવન અને

સંસ્કૃતિના અભ્યાસ માટે સમર્પિત કર્યું છે. તેમના ગ્રંથોમાં 'ભીલોનું હગ અને વતામણા', 'ભીલોના હોળી ગીતો', 'અરવલ્લી પહાડની આસ્થા', 'ડુંગરી ભીલોનો દેવિયાવાડાના અરેલા', 'અરવલ્લીની લોકવહીવાતો', 'ભીલ ગીતકથા', 'ભીલ કથાગીત', 'ભીલ ભજનવાર્તા', 'ભીલ લોકાખ્યાન', 'ભીલ લોક મહાકાવ્ય', 'ભીલોનું ભારથ', 'પૌરાણિક ભીલ મહાકાવ્ય', 'આદિવાસી ઓળખ', 'ડુંગરી ભીલ આદિવાસીઓ' વગેરેનો સમાવેશ થાય છે. આ સંશોધન અને સંપાદન કાર્ય દ્વારા અરવલ્લીની ગિરિમાળામાં વસતા ડુંગરી ભીલ સમુદાયના જીવન અને સંસ્કૃતિ સાથે જોડાયેલા લોકસાહિત્યને ઉજાગર કરવામાં આવ્યું છે. તેમના સાહિત્યના અભ્યાસથી ભારતીય સમાજમાં આદિવાસી સંસ્કૃતિનું અનોખું સ્થાન સમજાય છે.

• જયંતીલાલ દવે - તેમણે ઉત્તર ગુજરાતની લોકવાર્તાઓને 'લોકવાર્તાની લહેર ઉત્તર ગુજરાતે' જેવા સંપાદિત ગ્રંથમાં સંકલિત કરી છે. તેમાં 'ચંદન મેનાગરી', 'બે ભાઈબંધ', 'હંસાવતી', 'મીણળનો ન્યાય', 'વીર વિક્રમને બાવો વાળીનાથ', 'લીલુડે ને પીલુડે' જેવી લોકવાર્તાઓનો સમાવેશ થાય છે. આ વાર્તાઓમાં લગ્ન પછીના જીવનનું વર્ણન, નિઃસ્વાર્થ ભાઈબંધભાવ, વેરભાવ, ન્યાયની દેવી મીણળદેવી અને ન્યાયપ્રિય રાજા વિક્રમ જેવા તત્ત્વો દ્વારા ભારતીય સમાજનું પ્રતિબિંબ જોવા મળે છે.

• મુરાદખાન ચાવડા - તેમણે 'ધાણધારનું ધાવણ', 'પાલનપુરનાં પાળિયા', 'જાગતી જોત્યું', 'ચુંગ માઢો ચાવડો', 'હસતા હાણ', 'ગુરુ વચને ગાદી', 'રંગ તુને રાધન', 'ઈમાનદારી', 'ભેરૂબંધ', 'રાજહિત રાખનહાર' જેવી લોકકથાઓનું સંપાદન કર્યું છે. બનાસકાંઠાના વડગામ તાલુકા આસપાસનો વિસ્તાર 'ધાણધાર પંથક' તરીકે ઓળખાય છે. આ ગ્રંથોમાં ધાણધાર પંથકના સમાજનું જીવંત ચિત્રણ કરવામાં આવ્યું છે. વટ, વચન અને બલિદાન માટે પોતાનું જીવન અર્પણ કરનાર વીર પુરુષોની ગાથાઓ અહીં ઉજાગર થાય છે.

• અમૃત પટેલ - તેમના 'સરસ્વતીને કાંઠે', 'આપણા ઓઠાં', 'કંકુ રે વાયુ', 'મેંદી લાલ ગુલાલ', 'મું તો ઢોલે રમું', 'ઝમરખ દીવડો', 'ચંપાની કળીઓમાં કસ્તુરી' વગેરે સંશોધન-સંપાદન ગ્રંથોમાં મક્તુપુર તથા ઊંઝા આસપાસના સમાજજીવનનું પ્રતિબિંબ જોવા મળે છે. તેમણે પાટીદાર તથા અન્ય જ્ઞાતિઓની ભાતીગળ સંસ્કૃતિને પોતાના સાહિત્યમાં સ્થાન આપીને ભારતીય સમાજના વૈવિધ્યપૂર્ણ સ્વરૂપને ઉજાગર કર્યું છે.

• પ્રેમજી પટેલ - તેમના 'ચૌદલોક', 'લોકજણસ', 'અમીલોક' જેવા સંપાદિત ગ્રંથોમાં દોડ, રોળી, પખાજીયા, ભરેલો, સલોકા, લોકાખ્યાન અને લોકવાર્તા જેવા સ્વરૂપોની ચર્ચા કરવામાં આવી છે. સાબરકાંઠા અને ઉત્તર ગુજરાતના સમાજજીવનને તેમણે પોતાના સાહિત્યમાં રજૂ કર્યું છે. 'ટોડ'ને ઘણા લોકો માતાજીનો રથ અથવા 'ઝો ઘોડો' તરીકે ઓળખે છે. લોકાખ્યાનમાં 'સીતાાખ્યાન', 'અભિમન્યુ આખ્યાન' અને 'ભરેલા' જેવા સ્વરૂપો ખેડૂત જીવન સાથે સંકળાયેલા છે. 'સલોકા' રાવળ જ્ઞાતિના લગ્નપ્રસંગના વરઘોડામાં ગવાય છે. તેમની લોકવાર્તાઓમાં 'તૈણ માની વારતા', 'મોટું કુંણ કોના નસીબનું', 'કુદરતનો ન્યાય', 'બુદ્ધિની વહેંચણી', 'સાયો ન્યાય', 'કાળજુ', 'ચાર ભાઈબંધ', 'ટોઢી કમાણી' વગેરેનો સમાવેશ થાય છે.

• વીરચંદ પંચાલ - તેમણે બનાસકાંઠાના દાંતા તાલુકાના સોખલા ગરાસિયા સમુદાયના જીવન પર આધારિત 'ગોઠિયા-ગોઠણના પ્રણયગીતો', 'સોખલા ગરાસિયા હોળી ગીતો', 'સોખલા ગરાસિયાની વહી વાર્તા', 'ગરાસિયા લોકોત્સવ', 'ગોર' વગેરેનું સંપાદન કર્યું છે.

આ ગ્રંથોમાં અંબાજી આસપાસ વસતા સોખલા ગરાસિયા સમાજની સંસ્કૃતિ અને જીવનશૈલીનું સુંદર ચિત્રણ જોવા મળે છે. ભારતીય સમાજમાં દરેક સમુદાયનું આગવું અને અનોખું સ્થાન છે—તે અહીં સ્પષ્ટ થાય છે.

• મફત રણેલાકર - મફત રણેલાકર ઉત્તર ગુજરાતના અગત્યના લોકસાહિત્ય સંશોધક અને સંપાદક તરીકે જાણીતા છે. તેઓને ‘ઉત્તર ગુજરાતના મેઘાણી’ તરીકે પણ ઓળખવામાં આવે છે. તેમણે લોકકથાઓ, સરજૂકથાઓ, લોકગીતો અને લગ્નગીતોનું વિશાળ સંકલન કર્યું છે. સમગ્ર ભારતમાં સરજૂકથાને લેખિત સ્વરૂપ આપવાનો શ્રેય મુખ્યત્વે તેમને જાય છે. આમ, ઉત્તર ગુજરાતના લોકસાહિત્યના સંશોધકો અને સંપાદકો—પુષ્કર ચંદરવાકર, કનુભાઈ આચાર્ય, મુરાદખાન ચાવડા, માધવ ચૌધરી, ભગવાનદાસ પટેલ, શાંતિભાઈ આચાર્ય, જયંતીલાલ દવે, અમૃત પટેલ, પ્રેમજી પટેલ, વીરચંદ પંચાલ, વિજય પુષ્પા ભગોરા, મફત રણેલાકર, દિનેશ પટેલીયા, પ્રભુદાસ પટેલ, રાજેશ મકવાણા અને રમેશ ચૌધરી—એ ઉત્તર ગુજરાતના બનાસકાંઠા, સાબરકાંઠા, અરવલ્લી, પાટણ અને મહેસાણા જિલ્લાના સમાજજીવનને લોકસાહિત્યમાં ઉજાગર કર્યું છે.

મફત રણેલાકર દ્વારા સંપાદિત લોકકથાઓ, સરજૂકથાઓ અને લોકગીતોમાં ઉત્તર ગુજરાતની સતી-જતી સ્ત્રીઓ, સંતો-મહંતો, શૂરવીરો અને ગામ માટે, સ્ત્રીઓ માટે તથા પશુઓ માટે બલિદાન આપનારાઓની ગાથાઓ જોવા મળે છે. લણવા ગામના પટેલ ખેડૂતોની પીડા, શોષણ અને અત્યાચાર સામે અવાજ ઉઠાવી શહીદી સ્વીકારનાર લોકોની વાતો અહીં રજૂ થાય છે. ‘મહેણાંની મારેલી’માં મા-ભાભીના એક મહેણા માટે જીવન અર્પણ કરવાની ઘટના દર્શાવવામાં આવી છે. ‘સતી માતા’ની કથામાં લગ્નની પહેલી રાતે પતિના અનુસરણમાં સતી થવાની પ્રથા દર્શાવવામાં આવી છે. અન્યત્ર ઇસ્લામ ધર્મની દિકરી હિંદુ ભજનોથી પ્રેરાઈ સતી થાય છે. ‘મીંઢળબંધો’માં વીર રાજપૂત ગાયો માટે બલિદાન આપે છે. ચારણની ઘોડા માટે જીવ અર્પણ કરવાની ગાથા પણ અહીં જોવા મળે છે. ભીમાની ભડવીરતા ગામના રક્ષણ માટેના બલિદાનને દર્શાવે છે, જ્યારે ડેડાણાની ધાયજી બહારવટિયા મુરાદખાનથી ગામને બચાવવા પોતાનું જીવન અર્પણ કરે છે. ‘ચાવડીની ચતુરાઈ’માં રાજપૂત સમાજના રીતરિવાજો, મહેમાનગતિ અને સન્માનભાવનું ચિત્રણ થાય છે.

‘શમેણાં લમણે લખાયા’માં પ્રજાના કલ્યાણ માટે પુત્ર અને પત્નીના બલિદાનની ગાથા છે, જ્યારે ‘લાગણીનાં સંબંધો’માં અસાઈત ઠાકરને નાતબહાર મૂકવાની ઘટના દર્શાવવામાં આવી છે. ‘કુરબાનીના કફન’માં તાના-રીરીનો ઇતિહાસ સમાયેલો છે. ‘દાદલા’માં ગામ અને ગાય માટે જીવન અર્પણ કરનાર વીરપુરુષની ગાથા છે. ઉનાવાના મીરાં દાતારમાં હિંદુ-મુસ્લિમ ભાઈચારા અને બહેનપણાની અનોખી ગાથા જોવા મળે છે. આમ, ઉત્તર ગુજરાતના લોકસાહિત્યમાં વિવિધ જ્ઞાતિઓએ પોતાની આગવી પરંપરા, સંસ્કૃતિ અને ઇતિહાસ રચ્યા છે. જેના આધારે સમાજના રીતરિવાજો, જીવનશૈલી અને સંસ્કારનું સ્પષ્ટ દર્શન થાય છે. આ ભૂમિમાં ગામ, સમાજ, પશુઓ અને પીડિત વર્ગ માટે જીવન અર્પણ કરનારાઓની ગાથાઓ ભારતીય સમાજના મૂલ્યોને ઉજાગર કરે છે. મફત રણેલાકરે લોકકથાઓ, સરજૂકથાઓ અને લોકગીતોના માધ્યમથી ગુજરાતના ગ્રામ્ય અને લોકજીવનનું જીવંત ચિત્રણ કર્યું છે. તેમના સંપાદનોમાં મુખ્યત્વે નીચેના તત્ત્વો ઉજાગર થાય છે.

નિષ્કર્ષ:

૧. લોકકથાઓ અને વીરતાનું દર્શન :- લેખકની લોકકથાઓમાં માનવીય મૂલ્યો અને બલિદાનની પરાકાષ્ઠા જોવા મળે છે.

- અબોલ જીવ અને વફાદારી: ‘હરસંગભા’ જેવી કથાઓમાં પશુઓ માટેનું બલિદાન અને સ્વામી પ્રત્યેની વફાદારીનો સુંદર સમન્વય જોવા મળે છે.
- વીરતા અને શહીદી: જ્ઞાતિની આબરૂ, ગાયોની રક્ષા અથવા ગામના કલ્યાણ માટે માથા વગર ધડ લડતાં વીરપુરુષોની શૌર્યગાથાઓ (દા.ત. હમીરજી-વેગડજી, સંગ્રામસિંહ દાદા) અહીં આલેખાઈ છે.
- સમાજની વિવિધતા: રાજપૂત, ચારણ, રબારી, પટેલ, દલિત અને મુસ્લિમ જેવી વિવિધ જ્ઞાતિઓના રીતરિવાજો અને જીવનશૈલીનું જીવંત દર્શન થાય છે.

૨. સરજૂકથાઓ અને શ્રદ્ધા - રબારી, દેવીપૂજક અને રાવળદેવ જેવી જ્ઞાતિઓમાં પ્રચલિત 'સરજૂકથાઓ' આધ્યાત્મિકતા અને લોકશ્રદ્ધા પર આધારિત છે.

- દેવ:પરયા- નાગદેવતા અને અન્ય સિદ્ધ પુરુષોના ચમત્કારો (ગોગ મહારાજ), પરયા અને તેમની પ્રત્યેની અતૂટ શ્રદ્ધા આ કથાઓના કેન્દ્રમાં છે.
- જીવનપદ્ધતિ: દેવની મંજૂરી વિના કોઈ કાર્ય ન કરવાની માન્યતા અને ભોળી જ્ઞાતિઓની નિખાલસ ભક્તિ અહીં સ્પષ્ટ જોવા મળે છે.

૩. લોકગીતો અને સામાજિક સંબંધો :- લગ્નગીતો અને લોકગીતો દ્વારા સમાજના તાણાવાણા વ્યક્ત થયા છે.

- કૌટુંબિક ભાવના: સંયુક્ત પરિવારનો પ્રેમ, મહેમાનગતિ અને સાથે સાથે ઈર્ષ્યા તથા રાગદ્વેષ જેવી - માનવીય લાગણીઓ ગીતોમાં વણાયેલી છે.
- પશુધનનું મહત્વ: રબારી જ્ઞાતિમાં કરિયાવરમાં પશુધન આપવાની પરંપરા અને પશુઓ પ્રત્યેનો પ્રેમ ગીતો દ્વારા વ્યક્ત થયો છે.
- પ્રસંગોનું વર્ણન: ગણેશસ્થાપનાથી લઈને જાનવિદાય સુધીના દરેક પ્રસંગના ગીતો સામાજિક સંસ્કારોને ઉજાગર કરે છે.

મફત રણેલાકરનું સંપાદન કાર્ય માત્ર વાર્તાઓ અથવા ગીતોનો સંગ્રહ નથી, પરંતુ તે ગુજરાતી લોકસંસ્કૃતિનો જીવંત દસ્તાવેજ છે.

- મૂલ્યનિષ્ઠા: આ સાહિત્યમાં વચનપાલન, શૌર્ય, ત્યાગ અને પરોપકાર જેવા ઉમદા મૂલ્યોને પ્રાધાન્ય મળ્યું છે.
- લોકજીવનનો પડઘો: સમાજના દરેક વર્ગપછી તે રાજા હોય કે રંક—, સંત હોય કે શૂરવીરતેમના — જીવનના સંઘર્ષો અને સિદ્ધિઓને લેખકે અતિશયોક્તિ વિના સહજ રીતે રજૂ કર્યા છે.
- સંશોધનનું મહત્વ: માહિતીદાતાઓની વિગતો અથવા લોકબોલીના અર્થોની કેટલીક મર્યાદાઓ હોવા છતાં, ભુવાજીઓ અને લોકસંપર્ક દ્વારા એકત્રિત કરાયેલું આ ભાથું ગુજરાતી સાહિત્યજગતમાં એક અનન્ય પ્રદાન છે.

ટૂંકમાં, આ લેખ દર્શાવે છે કે લોકસાહિત્ય સમાજની આરસી સમાન છે, જેમાં પરંપરા, સંસ્કૃતિ અને માનવતાના સ્પષ્ટ દર્શન થાય છે.

સંદર્ભ-સૂચી :-

1. 'લોકવાંગમય', કનુભાઈ જાની, પ્રથમ આવૃત્તિ: ૧૯૯૨
2. 'ગુજરાતી વિશ્વકોશ', ધીરુભાઈ ઠાકર, પ્રથમ આવૃત્તિ: ૨૦૦૪
3. 'લોકસાહિત્ય અને સંસ્કૃતિ', જયમલ્લ પરમાર, પ્રથમ આવૃત્તિ: ૧૯૭૭
4. 'લોકવિદ્યા વિજ્ઞાન', ડૉ. હસુ યાજ્ઞિક, પ્રથમ આવૃત્તિ: ૨૦૦૧
5. 'લોકસાહિત્યનું સમાલોચન', સંપા. ઝવેરચંદ મેઘાણી, પ્રથમ આવૃત્તિ: ૧૯૪૬
6. 'લોકવિદ્યા પરિચય', સંપા. હસુ યાજ્ઞિક, પ્રથમ આવૃત્તિ: ૨૦૦૫
7. 'ગુજરાતી લોકસાહિત્ય વિમર્શ', સંપા. ડૉ. બળવંત જાની, પ્રથમ આવૃત્તિ: ૨૦૧૦

વિશ્વશાંતિના કવિ ઉમાશંકર જોશી

રામશંકર કાનજીભાઈ શ્રીમાળી*

કવિ પરિચય : “શ્રી ઉમાશંકર જોશી, આપણા નવીન અગ્રણી કવિ, સાહિત્યના અનેક પ્રાંત સર કરનાર સાહિત્યકાર, ગુજરાતની સૂક્ષ્મ સંપત્તી છે. તેમની કૃતિઓનો ઉલ્લેખ બીજા પ્રાંતો આગળ આપણે ગૌરવથી કરી શકીએ છીએ અને માનીએ છીએ કે બીજા પ્રાંતોમાં પણ એમના જેવા સાહિત્યકાર ગણતર જ હશે.” ઉમાશંકર જોશીનો જન્મ તા.૨૧/૦૭/૧૯૧૧ ના રોજ ‘નાની મારવાડ’ ના નામે ઓળખાતા ઉત્તર ગુજરાતના ઈંડર તાલુકાના બામણા ગામમાં જેઠાલાલ જોશીને ત્યાં થયો હતો. તેમનું મૃત્યુ તા.૧૯/૧૨/૧૯૮૮ (ઉંમર-૭૭) વર્ષ મુંબઈ, મહારાષ્ટ્રમાં કેન્સરની બિમારીથી થયું હતું. ઉમાશંકર જોશીને વાસુકી, શ્રવણ, વિશ્વશાંતિના કવિ તરીકેનાં ઉપનામોથી એમને ઓળખવામાં આવે છે.

વ્યવસાયે ગાંધીયુગના આદર્શ શિક્ષક, અધ્યાપક ગુજરાત યુનિવર્સિટીના કુલપતિ, દિલ્હી સાહિત્ય અકાદમીના પ્રમુખ, વિશ્વભારતી યુનિવર્સિટી શાંતિનિકેતનના કુલપતિ, ગુજરાતી સાહિત્ય પરિષદના પ્રમુખ, ૬(છ) વર્ષ સુધી રાજ્યસભાના મનોનીત સભ્ય વગેરે ઉચ્ચ જાહેરસ્થાનો શોભાવી ઉમાશંકરે શિક્ષણ અને સાહિત્ય ઉપરાંત સમાજકારણ, જાહેરજીવન વગેરે ક્ષેત્રોમાં એક આપદ્ધર્મ તરીકે પોતાને ભાગે આવેલું યુગકર્તવ્ય નિઃસંકોચપણે બજાવ્યા કર્યું છે. ઉમાશંકર જોશીને નોંધપાત્ર પુરસ્કારોમાં (૧) રણજિતરામ સુવર્ણચંદ્રક (૧૯૩૯) (૨) નર્મદ સુવર્ણચંદ્રક (૧૯૪૩) (૩) ઉમા સ્નેહરશ્મિ પુરસ્કાર (૧૯૬૩-૬૪-૬૫) (૪) ભારતીય જ્ઞાનપીઠ એવોર્ડ (૧૯૬૭) (૫) સાહિત્ય અકાદમી પુરસ્કાર (૧૯૭૩) જેવા શ્રેષ્ઠ પુરસ્કારો તેમને અને તેમના સાહિત્યને મળ્યા છે.

ઉમાશંકર જોશીની સર્જકપ્રતિભા : ઉમાશંકર જોશીની સર્જકપ્રતિભા સર્વતોમુખી છે. તેમણે કવિતા, ટૂંકીવાર્તા, નવકથા, નાટક-એકાંકી, નિબંધ, ચરિત્ર, સંસ્મરણો, પ્રવાસ, વિવેચન, સંશોધન, સંપાદન, અનુવાદ એમ સાહિત્યના લગભગ તમામ ક્ષેત્રોમાં સત્વવંતુ સર્જન કર્યું છે. ‘વિશ્વશાંતિ’, ‘ગંગોત્રી’, ‘નિશીથ’, ‘પ્રાચીના’, ‘આતિથ્ય’, ‘વસંતવર્ષા’, ‘મહાપ્રસ્થાન’, ‘અભિજ્ઞા’, ‘ધારાવસ્ત્ર’, ‘સપ્તપદી’ એમ દસ કાવ્યસંગ્રહો આપ્યા છે. આ બધી કવિતા ૧૯૮૧ માં ‘સમગ્ર કવિતા’ નામે ગ્રંથમાં એકસાથે પ્રકાશિત થઈ છે. ‘સાપના ભારા’ ઉપરાંત ‘શહીદ’ (જે પછીથી એ નામ રદ કરી, ‘હવેલી’ નામે તેમણે એકાંકીસંગ્રહ આપ્યો છે. તેમના એકાંકી નાટ્યસંગ્રહો છે. ‘શ્રાવણીમેળો’ અને ‘વિસામો’ અને ‘હૃદયમાં પડેલી છબીઓ’ ૧-૨ એ તેમનાં ચરિત્ર પુસ્તકો છે. ‘ગોષ્ઠિ’ અને ‘ઉઘાડી બારી’ એ નિબંધસંગ્રહો છે. ‘અખો એક અધ્યયન’ થી ‘પ્રતિશબ્દ’ સુધી નવ વિવેચન સંગ્રહો, છ જેટલાં સંશોધન-સંપાદનો, દસ જેટલા સંપાદનગ્રંથો, પાંચ અનુવાદ પુસ્તકો ઉપરાંત ‘કેળવણીનો કીમિયો’ નામે શિક્ષણ વિષયક પુસ્તક તથા ‘સમયરંગ’ નામથી પ્રકીર્ણ લેખોનું પુસ્તક પણ તેમણે આપ્યું છે. ‘ઈશાનભારત અને આંદામાનમાં ટહુક્યા મોર’ નામે પ્રવાસ પુસ્તક પણ તેમણે આપ્યું છે. ૧૯૪૭ માં તેમણે ‘સંસ્કૃતિ’ નામે સાહિત્ય સામયિક શરૂ કર્યું હતું. સાહિત્યકાર ઉમાશંકરનું કેટલુંક અપ્રગટ લખાણ તેમજ અંગ્રેજી ભાષામાં કરેલું સર્જન-

*પીએચ.ડી. સ્કોલર, ગુજરાતી વિભાગ, ડૉ. બાબાસાહેબ આંબેડકર ઓપન યુનિવર્સિટી, અમદાવાદ.

લેખન, પ્રકાશન પામતું રહ્યું છે. માત્ર ગુજરાતમાં જ નહિ બલકે સમગ્ર રાષ્ટ્રમાં સમર્થ કવિ, વિદ્વાન વિવેચક, ઉત્તમ શિક્ષણકાર, સત્વશીલ અને નિર્ભર પત્રકાર તેમજ માર્મિક સાંસ્કૃતિક ચિંતક તરીકે ઉમાશંકરનું નામ વ્યાપી ગયું છે. એ અર્થે ઉમાશંકર આપણા એક વિરલ પ્રતિભાસંપન્ન સંસ્કારસેવક છે.

ઉમાશંકર જોશીની કવિતા : ઉમાશંકરની સર્જકપ્રતિભાનો પરિચય ૧૯૩૧ માં એમણે પ્રગટ કરેલા ‘વિશ્વશાંતિ’ ખંડકાવ્યથી થાય છે. એની પ્રથમ પંક્તિ છે ‘ત્યાં દૂરથી મંગલ શબ્દ આવતો. એ મંગલ શબ્દની નાન્દી, ‘છેલ્લો શબ્દ મૌનને કહેવાનો હોય છે.’ એ એમની કાવ્યસર્જન પ્રવૃત્તિના ભરતવાક્ય સાથે જાણે વિરામ પામે છે. સત્તર વર્ષની વયે ૧૯૨૮ માં આબુ ઉપરના નખી સરોવરનું પ્રત્યક્ષ કરેલું. પ્રાકૃતિક સૌંદર્ય, એમનું સાચું કાવ્યગંગોત્રી છે. એ નિર્સર્ગશ્રીને મનભર માણી કવિકંઠ ગુંજી ઊઠલો- ‘સૌંદર્ય પી’, ઉરઝરણ, ગાશે પછી આપમેળે’ પ્રકૃતિએ જ કહ્યું છે. “ડુંગરની ભેખડે’ આવેલા ઉગમણા ધરની સામે ક્ષિતિજ ઉપર ગિરિમાળાને મથાળે રમતા ઉષાના રંગો અને એમાં ક્યારેક તવરવરતા સારસોનો ધ્વનિ, લીલાંછમ ખેતરો, ચોમાસાના ઉત્સવો ઉજાણી અને મેળા આ બધાં દ્વારા કુદરતનો અને માનવજીવનનો સંસ્પર્શ અનુભવાતો.” પોણી સદી ઉપરના સુદીર્ઘ સમયગાળા પર દ્રષ્ટિ ફેરવતાં એમ જરૂર કહી શકાય કે ઈવત્તા અને ગુણવત્તાની ઉત્તમ દ્રષ્ટિએ ઉમાશંકરનું કવિકર્મ અધિકાધિક ઉજ્જવળ છે.

(૧) ‘વિશ્વશાંતિ’ : કવિએ ૧૯ વર્ષની વયે આ મહત્વાકાંક્ષી કાવ્ય રચ્યું હતું. કવિની સર્જન-પ્રવૃત્તિ ‘વિશ્વશાંતિ’ એવા મંગલ શબ્દથી આરંભાય છે એ સૂચક છે. આ ‘મંગલ’ શબ્દ વિસંવાદી જગતમાં કવિની સંવાદ Harmony (હારમની) ની શોધ તરફ અંગુલિનિર્દેશ કરે છે. તેમની માન્યતા છે કે જ્યાં સુધી આ વિશાળ વિશ્વમંદિરના એકાદ ખૂણામાં પણ સત્ય, પ્રેમ અને સૌંદર્ય ધવાતાં રહેશે ત્યાં સુધી વિશ્વમાં અખંડ શાંતિ હોઈ શકે નહિ. આ ભાવ જ આ ઉંમરે કવિચિત્તમાં જન્મ્યો છે તે જોતાં કવિએ સર્જન કર્મની દિશામાં વિશાળ છલાંગ લગાવી છે અને તેનું નિશાન ધ્રુવનું છે એમ સ્પષ્ટ સમજાય છે. કવિ કહે છે.

‘વિશાળે જગવિસ્તારે નથી એક જ માનવી,

પશુ છે પંખી છે પુષ્પો, વનોની છે વનસ્પતિ !’

આ પંક્તિઓમાં સમકાલીન યુદ્ધગ્રસ્ત, યુદ્ધત્રસ્ત માનવજાતની તીખી ચીસ આલેખીને કવિ શાંતિની ચિર ઝંખના વ્યક્ત કરે છે. કાવ્યનો આરંભ ‘ત્યાં દૂરથી... એમ નાટ્યાત્મક ઉપાસથી થાય છે અને વાચકને કાવ્ય વિષય પરત્વે ઉત્સુકતા જગાવે છે. વિશ્વશાંતિના સંદેશવાહક અને ‘જીવનના કલાધર’ એવા રાષ્ટ્રપિતા ગાંધીજીની માનવપ્રેમ અને ચિરશાંતિ અર્થેની મથામણ સરસ રીતે અભિવ્યક્ત કરવા આરંભમાં પ્રકૃતિનું રમણીય ચિત્ર ભાવગહન ચિંતન સાથે રસાઈને મુકાયેલું જોવા મળે છે. ગાંધીયુગના કવિઓમાં ઉમાશંકરનો ગાંધીસંદેશ સૌ પ્રથમ અને વ્યવસ્થિત રીતે પ્રગટ થયેલો અહીં જોવા મળે છે. ‘વિશ્વશાંતિ’ને નવીન કવિતાના અવાજ તરીકે નરસિંહરાવ દિવેટિયા જેવા ગઈ પેઢીના સાક્ષરે બિરદાવ્યું અને સમકાલીન સાહિત્યગુરુ કાકાસાહેબે પ્રોત્સાહન આપ્યું. એમાં કેટલું બધું ઔચિત્ય છે ! ‘વિશ્વશાંતિ’ કાવ્ય ઉમાશંકરના તેજસ્વી વ્યક્તિત્વનો પરિચાયક બની રહ્યું છે. કાકાસાહેબને ઉમાશંકરે ‘ગંગોત્રી’ ની અર્પણ પંક્તિઓમાં જે રીતે યાદ કર્યા છે તે તેમની વચ્ચેના આત્મીય સંબંધોની સાથીરૂપ પંક્તિઓ બની રહી છે.

‘અજાણ્યું વૈ આવ્યું ગભરું ઝરણું કો તવ પદે,

પ્રવાસી, તે એને હૃદય જગવી સિંધુરટણા’

(૨) ‘ગંગોત્રી’ (૧૯૩૪) : ગંગોત્રીમાં ‘શૂરસંમેલન’, ‘બારણે બારણે બુદ્ધ’, ‘ગુલામ’, ‘એક ચૂસાયેલા ગોટલાને’, ‘વિશ્વતોમુખી’, ‘વિશ્વ માનવી’, ‘ભોમિયા વિના’, ‘જઠરાજિ’, ‘ઈનામનો વહેંચનાર જ્યાં ઊંચી ગુણ સંપતિવાળાં’

કાવ્યોનો સમાવેશ થાય છે. સ્વતંત્રતા, સમાજભિમુખતા, વાસ્તવદર્શન, દલિતપ્રેમ, માનવતાની ઉપાસના, વૈશ્વિક સંવેદન, આત્મસંવેદન, અધ્યાત્મભાવ, ચિંતન વગેરે ભાવો કાવ્યવિષયક તરીકે સબળ રીતે આલેખાયાં છે.

‘ભોમિયા વિના મારે ભમવાતા ડુંગરા, જંગલની કુંજ કુંજ જોવી હતી.

જોવાતાં કોતરો ને, જોવીતી કંદરા, રોતાં ઝરણાંની આંખ લ્હોવી હતી.’

(૩) ‘નિશીથ’ (૧૯૩૯) : ‘નિશીથ’ ૧૯૩૯માં પ્રકાશિત થયો હતો. સ્વરૂપ, વિષય, નિરૂપણરીતિ, અભિવ્યક્તિ, છંદોલય ઇ. દ્રષ્ટિએ ‘નિશીથ’ નાં કાવ્યોમાં સહદયને તાજપ અને પ્રૌઢીનો અનુભવ થાય છે. ‘નિશીથ’ની કવિતાનો એક વિષય છે. પ્રકૃતિસત્ત્વનું ગાન જેમ કે, ‘નખી સરોવર ઉપર શરદપૂર્ણિમા’, ‘સાબરદર્શન’ ‘નડગાશિખર’, ‘થૂવેરકાંટા’ અને જે કાવ્ય ઉપરથી કવિએ સારાચે સંગ્રહનું શીર્ષક પસંદ કર્યું છે તે ‘નિશીથ’ કાવ્ય, નખી સરોવર ઉપરની સમયલીલામાં પ્રશાંત સૌંદર્યશ્રીનું આકંઠ પાન કરતા. કવિના હૃદયને કોઈ કુસુમકુમળી અંગુલી (કવિતાદેવીની) સ્પર્શી જાય છે. અને કવિ ચિત્તમાંથી પી ઉરઝરણ ગાશે પછી આપમેળે એવી પંક્તિઓ પ્રસ્રવે છે. સુંદરતાનું પાન કરવાની દીક્ષા પ્રકૃતિ પાસેથી મેળવીને કવિના ઉરઝરણને આયુષ્યભર ગાવાની તક મળી ગઈ. ‘નિશીથ’ કાવ્યમાં કવિએ પ્રકૃતિના રમ્યરુદ્ર સ્વરૂપને નટરાજ કલ્પી સૃષ્ટિના રંગમંચ ઉપર વૈશ્વિક નૃત્ય કરતો આલેખ્યો છે.

‘મને વ્હાલી વ્હાલી, કુદરતઘણી કિંતુ અહતે,

મનુએ છાપેલી પ્રિયતર મને કુંજ ઉરની.’

(૪) ‘આતિથ્ય’ : કાવ્યસંગ્રહમાં કવિ સમકાલીન યુગચેતનાને ઝીલતા કવિતા આપે છે. અહીં ‘મધ્યાહન’ જેવું પ્રકૃતિકાવ્ય, ‘પ્રણયસત્યક’ માંનો પ્રણયોદગાર તેમજ ‘કવિ’, ‘વિહંગટહુકો’ વગેરે કાવ્યો ખાસ ધ્યાન ખેંચે છે.

(૫) ‘વસંતવર્ષા’ : કાવ્યસંગ્રહમાંનો પ્રણયોદગાર તેમજ ‘કવિ’, ‘વિહંગટહુકો’ વગેરે કાવ્યો ખાસ ધ્યાન ખેંચે છે. આ કાવ્યસંગ્રહમાં ‘મેઘદર્શન’, ‘થોડો એક તડકો’, ‘ભલે શુંગો ઊંચાં’, ‘જીર્ણજગત’, ‘રડો ન મુજ મૃત્યુને’, ‘હીરોશિમા’, ‘નગરવન’, અમે ‘સારસ્વતો’, ‘ગયાં વર્ષો તેમાં’, ‘રહ્યાં વર્ષો તેમાં’ વગેરે કાવ્યો કવિચેતનાની સમૃદ્ધિ દાખવે છે.

‘બધો પી આકંઠ પ્રણય, ભુવનોને કહીશ હું,- મળ્યાં વર્ષો તેમાં અમૃત લઈ આવ્યો અવનિનું’;

(૬) ‘અભિજ્ઞા’ : અભિજ્ઞામાં ૧૯૫૪ થી ૧૯૮૦ દરમ્યાન રચાયેલાં મોટાભાગનાં કાવ્યો છે. હવે અહીં યુગપ્રશ્નોને સ્થાને કવિની અંતર્મુખતા વિષય બને છે, તે ધ્યાન ખેંચે છે. ‘રાજસ્થાનમાં પસાર થતાં’, ‘અંજલિકાવ્યો’, ‘ગુજરાત સ્તવનો, રામાયણનાં પાત્રો’ વગેરે દ્વારા આ કાવ્યસંગ્રહ ‘પૃથ્વીપ્રેમી જ નહીં મધુરદર્શીને સૌંદર્યપ્રેમી કવિની મોટી મિરાત’ પ્રગટ કરી જાય છે.

(૭) ‘ધારાવસ્ત્ર’ : કવિના કાવ્યસંગ્રહ ‘ધારાવસ્ત્ર’ ની કવિતા નિત્ય પ્રવાસી કવિ ઉમાશંકરની છબિ પ્રગટ કરે છે. ‘માઈલોના માઈલો માર’, ‘એક ઝાડ’, ‘એક પંખીને કંઈક’ વગેરે કવિની માર્મિક આંતરિક સંવેદનાનાં ઊર્મિકો બન્યાં છે. આ કાવ્યસંગ્રહમાં મોટેભાગે અછાંદસ કવિતાનું પ્રમાણ વિશેષ છે.

(૮) ‘સપ્તપદી’ : આ સત્યપદી કાવ્યસંગ્રહમાં સાત મહત્વનાં દીર્ઘકાવ્યો, કાવ્યો ગ્રંથસ્થ થયાં છે. ‘છિન્ન ભિન છું’, ‘શોધ’, ‘નવપરિણીત પેલાં’, ‘સ્વપ્નોને સળગવું હોય તો’, ‘પીછો’, ‘મૃત્યુક્ષણ’, ‘પંખીલોક’, એ સાતમાં ‘શોધ’, અને ‘પંખીલોક’ કાવ્ય કલા ગુણે વિશેષ ધ્યાન પામતી ઉત્તમ કાવ્યરચનાઓ બની છે. સાચી કવિતા અંગે આ કવિની સંવેદનભરી શોધ આ રીતે વ્યક્ત થઈ છે.

કવિતા, આત્માની માતૃભાષા

મૌનનો દેહ, આસવઅસ્તિત્વનો,
સ્વપ્નની ચિર છવિ
ક્યાં છે કવિતા ?

‘કાન જો આંખ હોય તો શબ્દ એને પ્રકાશ લાગે’, એ પંક્તિથી થયો છે, અને કાવ્યનો અંત ‘છેલ્લો શબ્દ મૌનને જ કહેવાનો હોય છે. એ પંક્તિથી થાય છે.’

‘પ્રાચીના’નાં પદ્યરૂપકો અને ‘મહાપ્રસ્થાન’ પદ્યનાટકની દિશામાં :- વીસ વર્ષના સમયગાળાના અંતરે બે વિશિષ્ટ કાવ્યસંગ્રહો કવિ ઉમાશંકર જોશી આપે છે. ૧૯૪૪ માં ‘પ્રાચીના’ અને ૧૯૬૫ માં ‘મહાપ્રસ્થાન’, ‘વિશ્વશાંતિ’ નો ભાવ જે ઉંમરે કવિને વિશાળ છલાંગ ભરાવે છે. તે જ કવિ પદ્યરૂપકો સંવાદકાવ્યો દ્વારા નવી જ રીતિની કવિતા આપવા પણ પ્રેરાય છે.

(૯) પ્રાચીના :- ‘પ્રાચીના’ માં ‘કર્ણ-કૃષ્ણ’, ‘૧૯મા દિવસનું પ્રભાત’, ‘ગાંધારી’, ‘બાલ રાહુલ’, ‘રતિમદન’, ‘આશંકા અને કુબ્જા’ એમ સાત પદ્યરૂપકો સંગ્રહાયાં છે. પ્રાચીન ભારતીય સંસ્કૃતિનાં મૂલ્યો પ્રગટ કરતાં સાત સંવાદકાવ્યોના આ સંગ્રહને તે વર્ષનું મહીડા પારિતોષિક પ્રાપ્ત થયું હતું. તે ઉપરાંત આ કાવ્યગ્રંથને નર્મદ સુવર્ણચંદ્રકથી પણ પુરસ્કૃત કરવામાં આવ્યો છે. ‘કર્ણ-કૃષ્ણ’, જીવનની પરમ કરુણાને વ્યક્ત કરતી કાવ્યરચના છે. કર્ણની રહસ્યમયી જિંદગી, ‘મૃત્યુસોયથી કુજન્મનો કાંટો’ કાઢવા મથામણ કરતો કર્ણ, ‘સ્વયંવરે જીવનસુંદરીના, જોવાય ના જન્મ પરંતુ પૌરુષ’ એવા ઉદ્ગારો કરતો અને સમાજ વ્યવસ્થાને પડકારતો કર્ણ તેમજ સમષ્ટિના સત્યનું હું ય રશ્મિ એ પંક્તિ દ્વારા એક વ્યક્તિ તરીકે આત્મસ્થાપના કરતો કર્ણ સમષ્ટિના કલ્યાણ માટે લડત આપતા કર્ણનું પાત્ર દાદ માગી લે તેવું બન્યું છે.

(૧૦) ‘મહાપ્રસ્થાન’ : આ કાવ્યસંગ્રહમાં પણ સાત દીર્ઘ રચનાઓ છે. ‘મહાપ્રસ્થાન’, ‘યુધિષ્ઠિર’, ‘અર્જુન-ઉર્વશી’, ‘કચ’ એ ચારનું વસ્તુ મહાભારતમાંથી લેવામાં આવ્યું છે. ‘મંથરા’ અને ‘ભરત’ રામાયણનું કથાવસ્તુ ધરાવે છે. આમ તેમાં સાચા અર્થમાં સાતત્ય અને વિકાસ પણ જોવા મળે છે. સાતત્ય સમયનું અને વિકાસ કાવ્યકલાની પ્રથમ રચના ‘મહાપ્રસ્થાન’ માં સ્વર્ગારોહણ પ્રસંગે દ્રૌપદી તથા ચાર પાંડવોની અવસાનની ઘટના નિરૂપી છે. વિષયના મર્મને પકડતી વાતચીતમાં રૂપની સરળ ભાષા, વનવેલી જેવા પદ્યનાટકને ઉચ્ચિત દેશીમાત્રા મેળ છંદનો પ્રયોગ અને તેની સાથે-સાથે વ્યુત્ક્રમ દ્વારા પદ્યનાટક માટે ગદ્યનો સફળ વિનિયોગ કવિ ઉમાશંકરની સફળ નાટ્ય કવિ તરીકેની પ્રતિભા ઉપસાવી આપી છે.

આમ આ રીતે જોવા જઈએ તો ઉમાશંકર જેઠાલાલ જોશી ગાંધીયુગના શ્રેષ્ઠ, આદર્શમૂર્ધન્ય કવિ તરીકે બહાર ઉભરી આવ્યા છે.

સંદર્ભ સૂચી:-

1. અર્વાચીન ગુજરાતી સાહિત્યનો ઇતિહાસ - ડૉ.રમેશ એમ. ત્રિવેદી.
2. ઉમાશંકર જોશી - હરીન્દ્ર દવે
3. કવિતાનું સ્વરૂપ - નલિન રાવળ
4. સ્વાધ્યાલોક - નિરંજન ભગત
5. અર્વાચીન ગુજરાતી સાહિત્યની વિકાસરેખા - (ખંડ - ૪) ગાંધીયુગ અને અનુગાંધીયુગ - ધીરૂભાઈ ઠાકર.

ધાણધાર પંથકના લોકસાહિત્યમાં ભારતીય સમાજનું દર્શન

રાજનસિંહ કાનજી રાહોડ*

પ્રસ્તાવના :- સાહિત્યમાં જ્યારે લોકસાહિત્યની વાત થતી હોય ત્યારે સૌરાષ્ટ્ર - કાઠિયાવાડ, કચ્છ એમ ઉત્તર ગુજરાતના લોકસાહિત્યની પણ વાત થાય છે. સૌરાષ્ટ્રના લોકસાહિત્યની જેવી નોંધ લેવાઈ છે એવી ઉત્તર ગુજરાતના લોકસાહિત્યની નોંધ લેવાઈ નથી. ઉત્તર ગુજરાતના લોકસાહિત્યમાં આગવું અને અનોખું મહત્ત્વ છે પણ એ મલકના લોકસાહિત્યનું ગણું ઓછું સાહિત્ય પ્રકાશિત થયેલ છે. ઉત્તર ગુજરાત પણ ગણા બધા પંથકોમાં વહેંચાયેલું છે. જેમ કે; ધાણધાર, ચુંવાળ, પાટણવાડો, વઢિયાર, કોળિયારો યા ડીસાવળ, દંઢાઈ, કાંકરેજ, હિંદવાણી, સમાલ, થરાદરી , ખારોપાટ, જતવાડ, મોડાસિયા, બાયડ પરગણું, પાદરા પરગણું, દેહ પરગણું, બાવન પરગણું, દોતોર, ગઢવાડું વગેરે છે. આ પંથકોમાં ભિન્ન - ભિન્ન જાતિ, ધર્મના લોકો વસે છે. તેમના ભિન્ન - ભિન્ન સંસ્કારો, રીત - રિવાજો અને માન્યતાઓ જોવા મળે છે. ઉત્તર ગુજરાતના ધાણધાર પંથક અને આ પંથકનું લોકસાહિત્ય એ ગુજરાતી લોકસાહિત્યમાં બીજા અન્ય પંથકોથી જુદું જ તરી આવે છે. આ પંથકનું લોકજીવન, વટ વચન અને વીરતા માટે પોતાનું જીવન ન્યોછાવર કરનાર વીરપુરુષો, સતીઓ, સંતો અને મહંતોનો આગવો અને અનોખો ઇતિહાસ અહીં પડેલ છે પણ એને ઉજાગર કરનાર કેટલા?એટલે મારે અહીં 'ધાણધાર પંથકના લોકસાહિત્યમાં ભારતીય સમાજનું દર્શન' વિષય પર વાત કરવી છે.

લોકસાહિત્યમાં ધાણધાર પંથકનું સમાજજીવન :- ગુજરાતી લોકસાહિત્યએ ગુજરાતની અસ્મિતા, સંસ્કાર અને ખમીરનો જીવંત વારસો છે. જે કોઈ એક વ્યક્તિની રચના નથી પણ સમગ્ર સમાજના વર્ષોના અનુભવ અને અનુભૂતિઓનો નિચોડ છે. બનાસકાંઠાના પાલનપુર આજુબાજુનો તેમજ હાલના વડગામ તાલુકાનો વિસ્તાર એ 'ધાણધાર પંથક' તરીકે ખ્યાતનામ છે. 'ધાણધાર પંથક' એ પ્રાચીન સમયમાં 'સારસ્વત ક્ષેત્ર'નો જાણીતો પ્રદેશ હતો. પ્રાચીન સરસ્વતી નદી આ વિસ્તારમાં થઈને વહેતી હતી. ધાણધાર પંથકનું સમાજ જીવન એ ભારતીય સમાજ જીવનના મૂળમાં રહેલું છે. ભારતીય સમાજ એટલે વિવિધતામાં એકતાનો જીવંત નમૂનો હજારો વર્ષોની પરંપરા, અનેક ધર્મ, ભાષા, જાતિ અને સંસ્કૃતિનો સમન્વય ભારતીય સમાજમાં જોવા મળે છે. ધાણધાર પંથકના લોકસાહિત્યના લોકગીતો, લોકવાર્તાઓ, હાલરડાં, મરશિયાં અને શૌર્યકથાઓમાં ભારતીય સમાજના દર્શન થાય છે. ધાણધાર પંથકના લોકસાહિત્યમાં વર્તમાન સમાજની રીતભાત, જ્ઞાતિ વ્યવસ્થા, સ્ત્રીઓ- પુરુષો, વડીલોનું આગવું સ્થાન, ધાર્મિક આસ્થા અને પ્રકૃતિ સાથેનો અતુટ નાતો વણાયેલો જોવા મળે છે.

મેનપરના સતીશ્રી મેનકુંવરબાની કથા હોય કે જેમાં પોતાના પતિ યુદ્ધમાં શહીદ થયાં છે એવી પ્રતીતિ એમને થાય છે અને પોતાને સત ચડે છે પોતાના પતિનું મસ્તક ખોળામાં લઈને બેસે છે અને એમના જમણાં પગના અંગુઠામાંથી અગ્નિ જન્મે છે તેઓ પોતાના પતિ પાછળ સતી થાય છે. પસવાદળના વિરપાનાથ દાદા કે જેઓ લગ્ન મંડપમાંથી ઉભા થઈ ગાયોની વારે ચડે છે ગાયોને બચાવે છે અને પાછા ફરતા ચોરો, લૂંટારો દ્વારા પાછળથી હુમલો થતા પોતે શહીદ થાય છે. મગરવાડાના શ્રીમણિભદ્રવીર દાદાની વાત હોય કે પછી ધાણધાર પંથકની પાળિયા કથાઓ કે જે પોતાનો આગવો ઇતિહાસ રચીને બેઠેલ છે. ધાણધાર પંથકના લોકમેળાઓ કે જેમાં ભાતીગળ લોકસંસ્કૃતિના દર્શન થાય છે. ધાણધાર પંથકનો સમાજ એ સંસ્કૃતિ અને પ્રકૃતિ સાથે ગાઢ નાતો ધરાવે છે. ભારતીય પરંપરામાં ઋષિ અને કૃષિનું મહત્ત્વ છે. એમ જ ધાણધાર પંથકમાં આવેલ અરવલ્લી પર્વતમાળાનો વિસ્તાર અને એમાં થયેલા અનેક સાધુ સંતોના ચમત્કારો અને આ પંથકનો સમાજ કૃષિ દ્વારા પ્રકૃતિની પણ પૂજા કરતો રહ્યો છે.

* શોધાર્થી, ગુજરાતી વિભાગ, હે. ઉ. ગુ.યુ., પાટણ.

આવી અનેક ધાર્મિક ભાવના દ્વારા અન્ય સમાજો સાથે મળીને ઉજવાતા સંયુક્ત ધાર્મિક તહેવારો અને સામાજિક સમરસતાના દર્શન ધાણધાર પંથકના લોકજીવનમાં આપણને થાય છે.

આમ, ધાણધાર પંથકનું લોકસાહિત્ય એ ભારતીય સમાજને જાણવા માટે ખૂબ જ અગત્યનું બની રહે છે.

અન્ય મહત્વપૂર્ણ મુદ્દાઓ :

- શૌર્ય અને બલિદાન :- સતીમાતા અને મહાપુરુષોની કથા
- ઋષિ, કૃષિ અને પ્રકૃતિ પુજા :- ધાણધાર પંથકના ચમત્કારી ઋષિ-મુનિઓ, ખેતી અને પશુપાલન સાથે સંકળાયેલું સમાજજીવન.
- ધાર્મિકતા :- ધાણધાર પંથકના રૂપાલ ગામનો શીતળા માતાજીનો લોકમેળો, વડગામનો રણછોડજીનો મેળો, મગરવાડાનો મણિભદ્રવીર દાદાનો મેળો, મેનપરનો સેમોજ માતાજીના મંદિરે આસો નવરાત્રિ દરમિયાન થતો હવન અષ્ટમીનો યજ્ઞ અને મેળો.

ધાણધાર પંથકના લોકસાહિત્યમાં ભારતીય સમાજનું દર્શન :- ધાણધાર પંથકની વાત કરીએ ત્યારે ગુજરાતી લોકસાહિત્યમાં લોકવાર્તાના સંશોધકશ્રી મુરાદખાન યાવડાનું નામ અચૂક લેવું જ પડે. તેમના પુસ્તકો 'ધાણધારનું ધાવણ' અને 'પાલનપુરના પાળિયા' નો અભ્યાસ કરીએ ત્યારે આપણને ધાણધાર પંથકના લોકસાહિત્યમાં ભારતીય સમાજનું દર્શન થાય છે. ધાણધાર પંથકના સમાજને ઉજાગર કરવા માટે મુરાદખાને આ ગ્રંથો દ્વારા પ્રયત્ન કરેલ છે. વટ, વચન અને વીરતા માટે પોતાના જીવનનું બલિદાન આપનાર વીર પુરુષો અને સતી માતા તથા સંતો - મહંતોનો ઇતિહાસ ઉજાગર થાય છે. મુરાદખાન યાવડાના આ બંને લોકવાર્તા સંગ્રહોમાં તેમણે ધાણધાર પંથકના ખમીરવંતા ઇતિહાસને ઉજાગર કર્યો છે. જેમાં તેમણે 'ધાણધારનું ધાવણ'માં ૧૫ જેટલી લોકવાર્તાઓ અને 'પાલનપુરના પાળિયા'માં ૨૩ જેટલી લોકવાર્તાઓ સંપાદિત કરેલ છે.

'ધાણધારનું ધાવણ' લોકવાર્તા સંગ્રહમાં 'જાગતિ જોત્યું' લોકવાર્તા સંપાદકના પોતાના જ ગામ માલણનું એ સામંતશાહી સમયમાં કેટલું મહત્વ હતું તેની વાત કરેલી છે. જેમાં એ સમયમાં લોકો કેટલા વટ, વચનવાળા અને ટેકીલા હતા તેની વાત કરવામાં આવેલી છે જેનો અભ્યાસ કરતા આપણને ભારતીય સંસ્કારો અને રીતરિવાજોના દર્શન થાય છે. એમાની બીજી લોકવાર્તાઓ 'હસતાં હાણ' માં પાલનપુરના નવાબ શેરમહમદખાનની કચેરીમાં રમત રમતમાં પણ માથાની પાઘડી બાબતે એદલખાન નામના દરબારી પોતાના એકના એક જ દીકરાને તલવારના ધા થી બે ટુકડા કરી દે છે. એ સમયમાં પાઘડીની શું ઈજ્જત અને આબરૂ હશે તેનો અંદાજ આ લોકવાર્તા પરથી આવે છે.

'ગુરુ વચને ગાદી' વાર્તામાં ધાણધાર પંથકના સંતો - મહંતોના પરચાની વાત કરવામાં આવી છે. જેમાં ગુરુ ધુંધળીમલ મહારાજના વચનથી પીરોજખાન પાલનપુરના નવાબ પીરોજખાનજી બનીને છસે બાવન (છસો બાવન - ૬૫૨)ગામ માથે હકુમત ચલાવેલ જેમાં એક સંતના કહેણ માત્રથી એક ખેડુ જીવન જીવતા પીરોજખાન પાલનપુરના દીવાન બને છે. ભેરુબંધ નામની લોકવાર્તામાં મોટેટા ગામના જગતાજી કલોટ અને નગરી ગામના અકબરખાનની મિત્રતાની વાત કરવામાં આવી છે. જેમના ખોળિયા જુદા છે પણ જીવ એક જ. બાળપણથી બંને ભેરુબંધ છેક વૃદ્ધાવસ્થાએ અકબરખાને મોટું ગામતરું કરી જગતથી વિદાય લીધી તો પાછળ તેમના મિત્ર કવિરાજ જગતાજી એ પણ આઘાતમાને આઘાતમાં અન્ન - જળ ત્યાગી મિત્રને મળવા સ્વર્ગે સિધાવે છે. 'વાઘમાર' નામની લોકવાર્તામાં બાળારામના જંગલ અને હિંસક પ્રાણીઓ તથા ચિત્રાસણીના હાથીખાન યાવડા જે વાઘને મારી નાખે છે. જેમાં તેમની બહાદુરી અને નીડરતાના દર્શન થાય છે.

'પરંદાની પરખ' લોકવાર્તામાં પક્ષીઓની પરખ બોલી - ભાષા જાણનાર જંગરાળના રાવજી નહાલસિંહ રસલુપૂરના નવાબ મહોબતખાનને ત્યાં દુકાળ સમયમાં કાગવાણી જાણીને વરસાદનું જણાવે છે અને વરસાદ પડે છે.

અંતે ગામની જમીન આપવામાં આવે છે જે ગામ વસે છે તે ગામ હાલનું કોદરાલી.જેમાં ગામનો ઇતિહાસ અને પક્ષીઓની ભાષા જાણનાર નહાલસિંહના વ્યક્તિત્વમાં ભારતીયતાના દર્શન થાય છે. 'પાલનપુરના પાળિયા' લોકવાર્તા સંગ્રહમાં પાળિયાનો અર્થ અને વીર પસલી, ઉડણ અખેરાજ, હંધુય ઋણ માફ, પડકાર, દોસ્તીના દાવે, અશ્વ વિદ્યા, સિપાવટ અને મોતીની માળા ન તૂટે જેવી ખૂબ જ લોકપ્રિય લોકવાર્તાઓ આપેલી છે.

'વીર પસલી' લોકવાર્તામાં ડભાડના ગોરશાજી ભાટી પોતાની ધરમની કરેલી ઝબુ નામની બેનનું ગાયોનું ધણ પાછુ વાળવા પોતાના જ સગા મામા સામે બાથ ભીડીને મોતને ભેટે છે. તો 'ઉડણ અખેરાજ' વાર્તામાં અરવલ્લી પર્વતમાળાનું પ્રાકૃતિક વર્ણન અને એમાં શિરોહીરાવ અખેરાજ શિકાર કરવા આવે છે અને ત્યારે તેમના ગુરુ દ્વારા એક જીવડાંના આરોહણથી ઔષધવિદ્યા દ્વારા વૃદ્ધાવસ્થામાંથી યુવાનીમાં પ્રવેશ કરવામાં આવ્યો છે.

નિષ્કર્ષ :-

- ધાણધાર પંથકના સમાજની વિશેષતા :- ક્ષત્રિય - રાજપૂત, બારોટ, જૈન, ઠાકોર, રબારી, ચૌધરી, દલિત, મુસ્લિમ વગેરે અઢારેય આલમ એમ તમામ જ્ઞાતિ, ધર્મ, સમાજોના નોખા - અનોખા રીત - રિવાજો અને જીવનશૈલીનું દર્શન થાય છે.
- વટ, વચન અને વીરતા :- ગાયોની રક્ષા, જ્ઞાતિની આબરૂ, સ્ત્રીઓની રક્ષા કે ગામ અને મંદિરોના રક્ષણની શૌર્યગાથાઓ (મેનપરના સતી મેનકુંવરબા, પસવાદળના વિરપાનાથ દાદા) અહીં આલેખાઈ છે.
- લોકવાર્તાઓમાં શૌર્ય અને સમર્પણના દર્શન :- આ લોકકથાઓમાં માનવીય મૂલ્યો, શૌર્ય અને સમર્પણ ભાવના દર્શન થાય છે.
- સંતો અને મહંતો :- ધાણધાર પંથકમાં અને આ પંથકમાં આવેલ અરવલ્લી પર્વતમાળામાં અનેક સંતો - મહંતોનાં પરચા લોકોને અવાર નવાર મળતા રહ્યા છે. (ધુંધળીમલ ગુરૂ મહારાજ, શિવગિરી મહારાજ, વાસુદેવગિરી મહારાજ વગેરે)
- ભારતીય સંસ્કૃતિના દર્શન :- ધાણધાર પંથકના લગ્નગીતોમાં ગણેશ સ્થાપનાથી લઈ જાન વિદાય સુધીના ગીતોમાં સામાજિક સંસ્કારો અને ભારતીયતાના દર્શન થાય છે.
- કૌટુંબિક ભાવના :- ધાણધાર પંથકના સમાજોમાં સંયુક્ત પરિવારનો પ્રેમભાવ, ભાતૃ ભાવના - સંપ ભાવના અને ઘરે આવેલ મહેમાન માટેના આતિથ્યભાવના દર્શન થાય છે.
- મૂલ્ય નિષ્ઠા :- ધાણધાર પંથકના લોકસાહિત્યમાં વટ, વચન અને વીરતા, ત્યાગ અને પરોપકાર જેવા ઉમદા મૂલ્યોને પ્રાધાન્ય મળ્યું છે.

સંશોધનનું મહત્વ :- આ લેખમાં ધાણધાર પંથકના લોકસાહિત્યમાં પરંપરા, સંસ્કૃતિ અને માનવતાનાં દર્શન થાય છે. આપણા જે સંસ્કાર છે ભાઈ - બહેનનાં સંબંધ, માતા- પિતાનો આદર, વડીલોનું માન - સન્માન, ગુરૂનો આદર હજુ પણ આ ધાણધાર પંથકમાં અકબંધ જોવા મળે છે. આજ 'ભારતીયતા' છે જેના દર્શન આ પંથકમાં થાય છે. લોકસાહિત્ય આપણી અમર સંસ્કૃતિની વિરાસત છે તેની સાચવણીને જાળવણી એ આપણી ફરજ છે.

સંદર્ભગ્રંથ :-

1. બનાસની અસ્મિતાનો ઉન્મેશ, કનુ આચાર્ય, પ્ર.આ.ઓગસ્ટ, ૨૦૦૮
2. ગુજરાતી લોકકથા, ડૉ. હસુ યાજ્ઞિક, પ્ર.આ.૧૯૯૭
3. ધાણધારનું ધાવણ, મુરાદખાન ચાવડા, પ્ર.આ.૧૯૮૫
4. પાલનપુરના પાળિયા, મુરાદખાન ચાવડા, પ્ર.આ.૧૯૯૬
5. લોકવાડમય, કનુભાઈ જાની, પ્ર.આ.એપ્રિલ, ૧૯૯૨

Indian Political Thought: Necessity and Contemporary Relevance

Prof. Rajendrasinh H. Parmar*

Introduction :- The Metaphysical and Philosophical Roots - The study of ancient Indian political thought is not merely a historical inquiry into archaic systems of governance; it is a profound exploration of the fundamental relationship between human existence, cosmic order, and social organization. Unlike classical Western political theories—such as those proposed by Hobbes, Locke, or Rousseau, which often view the state as an artificial product of a 'Social Contract' designed to prevent chaos—Indian political philosophy perceives the state differently. It views the state as an organic, evolutionary institution intended to facilitate the holistic realization of the Purusharthas (the four-fold goals of human life): Dharma (moral duty and righteousness), Artha (wealth and material prosperity), Kama (pleasure and emotional fulfillment), and Moksha (spiritual liberation). The ontological foundation of this political thought traces back to the Vedic period. Texts like the Rigveda mention the Sabha (assembly of elders) and Samiti (general assembly), which were not merely casual gatherings but institutionalized democratic bodies. They acted as powerful checks and balances on monarchical power. In this tradition, the king was never an absolute, divine law-giver. Instead, he was the Dharmaprativartaka—the protector, promoter, and executor of an eternal moral law (Dharma) that preceded the state itself.

The necessity of revisiting Indian political thought in the 21st century arises from the ongoing crisis of purely materialistic and hyper-individualistic ideologies. While modern secularism strictly separates ethics from state administration, Indian thought posits that politics devoid of Dharma is a hollow, dangerous pursuit of power. 'Indian Polity' represents a synthesis of Vijnana (Material Science and administrative mechanics) and Jnana (Spiritual Wisdom and ethics). By grounding governance in the ultimate welfare of all living beings (Sarvabhute Hite Ratah), ancient Indian thinkers provided a robust framework for a stable, sustainable, and highly inclusive society.

The Concept of Rajdharma - Moral Restraint on Power :- Rajdharma—the duty of the rulers—stands as the most significant contribution of Indian thought to global political ethics. It defines the 'Sacred Duty' of the sovereign, elevating the act of governing from a mere exercise of authority to a rigorous form of Tapasya (penance and selfless service). In the Shanti Parva of the Mahabharata, the great patriarch Bhishma Pitamah instructs King Yudhishtira that the stability of the entire world rests squarely on the king's unyielding adherence to his duties.

A central element of Rajdharma is the Dharmadanda (The Staff of Righteousness or Justice). This concept establishes that the king is not above the law; rather, he is its humblest custodian. This ancient Indian principle of the 'Rule of Law' existed millennia before Western milestones like the Magna Carta. Furthermore, Indian texts establish a conditional authority: if a king degenerates into a tyrant and fails in his primary duty of Rakshana (protection of subjects), the texts empower the populace to rebel and replace him. As Kautilya profoundly noted, "In the happiness of his subjects lies the king's happiness; in their welfare, his welfare."

In the contemporary context—plagued by corruption, the criminalization of politics, and self-serving leadership—the revival of Rajdharma is an absolute necessity. It shifts the democratic discourse from an obsession with 'Political Rights' to a balanced emphasis on 'Political Duties'. It reimagines the leader as a Sevak rather than a master. This moral restraint acts as a safeguard against Matsya Nyaya

* Head of Department, Political Science, Bahauddin Government Arts College, Junagadh.

(the Law of the Fishes, equivalent to the Law of the Jungle, where the big fish swallow the small fish), thereby protecting the marginalized and ensuring true social justice.

Kautilya's Saptang Theory - The Organic State :- Kautilya's Arthashastra provides the most systematic and empirical structural analysis of the state through the Saptang Theory. Rejecting the idea of the state as a mechanical apparatus, Kautilya envisioned it as a living organism comprising seven vital, interdependent limbs (Angas):

Swami : The head of the state. The leader must be a Rajarshi—a royal sage who has conquered his internal enemies (lust, anger, greed) before attempting to conquer external foes.

Amatya : The eyes of the state. The efficiency of governance relies entirely on a meritocratic, honest, and capable administration.

Janapada: The legs of the state, representing the geographical boundaries and the demographic strength of the nation.

Durga : The arms of the state. This represents national security, physical defensive structures, and capital infrastructure.

Kosha: The mouth of the state. Kautilya pragmatically emphasized that "all undertakings depend upon finance." A robust, well-managed treasury is the beating heart of sovereign power.

Danda : The brain or the rod of coercion. This represents the armed forces and the judicial power used to maintain internal law and external sovereignty.

Mitra: The ears of the state. The diplomatic circle of trusted friends and international alliances.

In modern administrative utility, these seven limbs are strikingly relevant. The emphasis on Kosha directly mirrors modern priorities of GDP growth and fiscal deficit management. Furthermore, Kautilya's Mandala Theory (the circle of inter-state relations) works alongside the Saptang framework, providing a highly sophisticated, realist lens through which to understand modern geopolitics, neighborhood-first policies, and strategic international alliances. Because the state is organic, the failure or corruption of even one limb—such as the bureaucracy can trigger the systemic collapse of the entire 'Body Politic'.

Shanti Parva and Vidur Niti - Ethics and Judiciary :- The Mahabharata is frequently referred to as the 'Fifth Veda' due to its profound sociological and political insights. Specifically, the Shanti Parva and Vidur Niti delve deep into the psychological and ethical dimensions of leadership. Vidur, the exceptionally wise counselor to the Kuru throne, argues forcefully that a ruler who lacks self-control is entirely incapable of controlling a kingdom. His Niti focuses on the requisite qualities of a Pandit—an individual who makes decisions unclouded by lust, anger, arrogance, or greed. This section also illuminates the 'Soul of the State'—Nyaya. In the ancient Indian judicial tradition, while the king's court served as the final appellate authority, the delivery of justice was highly decentralized and contextual. It was guided by Deshadharma, Srenidharma, overarching universal ethics. The primary objective of the judiciary was not merely punitive action, but the restoration of social harmony and the rehabilitation of the cosmic order.

Leadership in this tradition is defined by unyielding accountability. The King was expected to be Satyavrata (completely devoted to the Truth). Vidur's ominous warnings to the blind King Dhritrashtra serve as a timeless cautionary tale for modern political figures: the physical and economic downfall of a state always begins with the moral compromise of its head. Modern legal systems can draw inspiration from this ancient emphasis on making justice swift, culturally grounded, and accessible to the most marginalized members of society.

Contemporary Relevance and Synthesis :- The ultimate teleological goal of this research is to bridge the historical gap between ancient philosophical wisdom and modern public administration. The

pressing necessity of Indian political thought today is found in its holistic approach to human development. While modern global capitalism heavily prioritizes Bhoga (unlimited consumption and exploitation), Indian thought emphasizes Samyama (restraint, balance, and sustainability).

The ancient concept of Yogakshema—ensuring the welfare, security, and prosperity of the people—is the direct historical precursor to the modern concept of the 'Welfare State'. In our current era of severe climate change and environmental degradation, the Vedic respect for nature as an active stakeholder in the political community (Prakriti) offers a vital blueprint for sustainable development. Furthermore, the universal philosophy of Vasudhaiva Kutumbakam ("The World is One Family") provides a much-needed moral foundation for modern global cooperation, multilateralism, and peaceful coexistence among nations. In conclusion, the intellectual frameworks established by Kautilya, Bhishma, and Vidur are not dead relics of antiquity; they are breathing, dynamic principles of statecraft. By deliberately integrating the rigorous structural and strategic efficiency of the Arthashastra with the profound moral depth and ethical accountability of Rajdharma, modern nations can forge governance systems that are economically prosperous, militarily secure, and fundamentally ethical. This intellectual synthesis provides a clear roadmap for achieving a truly 'Just Society' in the 21st century.

Reference:-

1. Kautilya. The Arthashastra. Translated by R.P. Kangle. Part II. Delhi: Motilal Banarsidass Publishers, 2010, pp. 254-265.
2. Vyasa, Krishna Dwaipayana. The Mahabharata: Shanti Parva. Translated by K.M. Ganguli. New Delhi: Munshiram Manoharlal, 2003, pp. 115-140.
3. Manu. The Manusmriti (The Laws of Manu). Translated by Wendy Doniger. London: Penguin Classics, 1991, pp. 128-150.
4. Vidur. Vidur Niti. Sanskrit Text with English Translation. Gorakhpur: Gita Press, pp. 45-72.
5. Kamandaka. Nitisara (The Elements of Polity). Edited by Rajendralala Mitra. Calcutta: Asiatic Society, 1982, pp. 90-112.
6. Somadeva Suri. Nitivakyamritam. Edited by S.K. Sharma. Delhi: Classics India Publications, pp. 60-85.
7. Altekar, A.S. State and Government in Ancient India. Delhi: Motilal Banarsidass, 2002, pp. 225-250.
8. Ghoshal, U.N. A History of Indian Political Ideas. London: Oxford University Press, 1959, pp. 180-205.
9. Jayaswal, K.P. Hindu Polity: A Constitutional History of India in Hindu Times. Bangalore: Bangalore Printing and Publishing Co., 1943, pp. 40-75.
10. Kane, P.V. History of Dharmasastra. Vol. III. Pune: Bhandarkar Oriental Research Institute, 1973, pp. 240-285.
11. Bhandarkar, D.R. Some Aspects of Ancient Indian Polity. Benaras: Banaras Hindu University, 1929, pp. 102-125.
12. Prasad, Beni. Theory of Government in Ancient India. Allahabad: Indian Press, 1927, pp. 150-178.
13. Mehta, V.R. Foundations of Indian Political Thought. New Delhi: Manohar Publications, 1996, pp. 30-55.
14. Varma, V.P. Ancient and Medieval Indian Political Thought. Agra: Lakshmi Narain Agarwal, 2015. (Ref: Cultural Roots of Polity, pp. 310-345).
15. Gauba, O.P. Indian Political Thought. New Delhi: Mayur Paperbacks, 2015, pp. 12-35.
16. Singh, G.P. Political Thought in Ancient India. New Delhi: Genesis Publishing, 1993, pp. 210-230).
17. Spellman, John W. Political Theory of Ancient India. Oxford: Clarendon Press, 1964, pp. 95-115.
18. Choudhary, Radhakrishna. Kautilya's Political Ideas and Institutions. Varanasi: Chowkhamba Sanskrit Series, 1971. (Ref: Intelligence System, pp. 140-162).
19. Panikkar, K.M. The Origin and Evolution of Kingship in India. Baroda: Baroda State Press, 1938, pp. 55-80.
20. Brown, D. Mackenzie. The White Umbrella: Indian Political Thought from Manu to Gandhi. Berkeley: University of California Press, 1953. pp. 20-45.

Indian Ethos and Contemporary Multi-dimensional Discourses

Prof. Hetal S. Patel*

Abstract :- This paper seeks to explore the Indian ethos and its dynamic engagement with contemporary multi-dimensional discourses especially Feminism and Queer theory, highlighting the continued relevance of India's intellectual and cultural traditions in addressing present-day challenges. Indian ethos, rooted in philosophical pluralism, ethical responsibility, spiritual inquiry, and social harmony, has never functioned as a rigid or monolithic system. Rather, it represents a living, evolving framework capable of adaptation in response to changing historical, social, and ideological contexts. The study argues that ancestral wisdom embedded in Indian thought offers critical insights for navigating the complexities of the twenty-first century, including issues of identity, justice, sustainability, and coexistence. The paper examines Indian ethos through modern critical perspectives such as feminism and Queer discourse.

By engaging these discourses as analytical tools, the paper re-reads classical Indian concepts such as dharma and *Vasudhaiva Kutumbakam* in relation to modern concerns of social equality and global responsibility. This dialogue between tradition and modernity reveals that Indian ethos does not stand in opposition to progressive thought; rather, it complements and enriches it by offering a holistic worldview that balances individual freedom with collective welfare. The paper ultimately argues that a critical reinterpretation of Indian intellectual roots can contribute meaningfully to contemporary debates, fostering an inclusive, democratic, and ethically grounded social vision. Such an engagement enables a reconciliation of ancient wisdom with the socio-political demands of the modern world, affirming the enduring relevance of Indian ethos in contemporary multi-dimensional discourses.

Key words :- Indian Ethos, Feminism, Queer theory, Pluralism, Identity

Introduction :- Contemporary world is growing speedily in every sphere of human life. In this rapidly changing world, it happens that people forget their ancient roots. This paper is inspired from one such incident that took place in near past. It was in 17th October, 2023 that the Supreme Court of India announced its verdict in *Suprio@ Supriya Chakraborty vs Union of India and others*.¹ It was a case regarding change in the Hindu Marriage Act. This paper is not going to analyse the judgement of the Supreme Court, but the researcher was fascinated to the discussion that took place in the court room during the hearing and even in the final judgement also it is mentioned that the issue of rights of the transgenders or the same sex marriage is not a foreign concept. This judgement specifically points out that- "A pluralistic social fabric has been an integral part of Indian culture and the cornerstone of our constitutional democracy. Non-heterosexual unions are well known to ancient Indian civilization as attested by various texts, practices and depictions of art."²

This has sparked a curiosity in the researcher to find out the texts/ ancient Indian ethos that match with the contemporary discourses specifically feminism and Queer studies.

Objectives:- The objectives of this paper are :

- To use modern feminist literary critique to identify how *Yajnyavalkya Smriti* provides the base for an Indian form of feminism that matches with cast class and gender of the modern day.
- To evaluate *Yajnyavalkya Smriti* whether there is any reference to the transgenders as compared to the modern clear identities and their places in society

* Department of English, Hemchandracharya North Gujarat University, Patan.

- To Use the Queer Theory outlined in Waugh (focusing on the subversion of binaries) to examine how Kautilya's *Arthashastra* categorizes "non-normative" bodies (like eunuchs/strumpets) as functional tools of the state rather than autonomous identities.
- To find out whether the traces of same sex attraction or marriage is a discussed in yagnival ke Smriti aur Chanakya Arthshastra
- To examine the reason behind the drastic deterioration from a broad minded Holistic society to a narrow minded rigid so called modern society under the influence of colonization.
- To evaluate the impact of various invasions and colonialism on the Indian mind set in accepting the rights of women and the transgenders or LGBTQA.

Limitation of the study :- The present research would be limited to the study of Yajnavalkya Smriti and Kautilya's Arthshastra. The study of these two text will strictly be focused on the modern discourses of feminist ideology and rights of the people of the queer identity.

Hypothesis :- An attempt would be made to prove that the ancient Indian society was open to accept all kinds of human beings giving equal importance to everyone irrespective of their gender and sexual orientation. Discriminating the rights of human beings based on the sexual orientation would not have been accepted in the ancient Indian society. The researcher would be able to prove that the ancient Indian society was broad minded and holistic because it gave priority to The Identity of all human beings and their existence while the socio-cultural fabric of 21st century India is characterized by a rigid moral conservatism that prioritizes the preservation of traditional hierarchies over individual autonomy. This environment fostered a systemic hypocrisy where the 'ideal citizen' was defined through the lens of heteronormativity and patriarchal control.

Investigating the Yajnavalkya Smriti through feminist ideology :- The *Yajnavalkya Smriti*, analysing from a feminist lens seems to be notably positive and progressive in matters of having financial Independent and letting her possess the inheritance of her mother. It is said in Shlok 144 of Day Vibhag Prakarana, Vyavhar adhyay:

बन्धुदत्तं तथा शुल्कम् अन्वाधेयकम् एव च।
अतीतायामप्रजसि बान्धवास्तदवाप्नुयुः॥144³

i. e. Wealth given by the relatives of a woman's maternal and paternal sides, the shulk (wealth received in exchange for giving the daughter in marriage) and Anvadheyaka (wealth received from the husband's family or the paternal family after the marriage) is also called Stridhana. Upon the death of a woman without offsprings (i. e. Daughter, grandson, grandson's son etc.) the husband and other relatives receive the Stridhana.

Again in slok number 117:

विभजेरन् सुताः पित्रोरुर्ध्वं रिक्थमृणं समम्।
मातुर्दुहितरः शेषमृणात्ताभ्य ऋतेऽन्वयः॥117⁴

i. e. After the death of the parents (mother and father), the sons should divide the estate. They must divide both the assets (riktham) and the debts (ṛṇam) equally. The remaining property of the mother (after her debts are paid) goes to her daughters. If there are no daughters, the mother's property goes to her male descendants (sons).

Thus, analysing these slokas from feminist framework of KK ruthven, is indicates that the economics subject activity of women in the ancient Indian society. This explicitly categorises the various sources from where a woman received wealth she can receive wealth from her maternal and paternal side as well as through marriage. All this wealth belongs to the women only. This clearly establish is that the ancient Indian atost recognised women as legal individuals capable of holding assets. Buy including Anvadheyaka i. e. Wealth received from the husband's family after marriage, technology is a woman's on going economic relationship with both her parental home as well as her marital home. It is strange that even though such a provision was already available with the ancient

Indian text likes Smritis, women in India after independence had to claim their property rights through filing legal procedure in the High Courts and supreme courts. This clearly indicates the impact of colonialism and Victorian mind set in framing India's laws after independence where women had to fight for getting their equal rights to possess property.

The second half of the passage conveys that the heirless women's wealth is received by the husband and other relatives, this again shows the reversion to patriarchy. However it is also positively clarified that the first heir to a woman's wealth is her daughter which is a positive gendered inheritance. This it is clear that the women can hold her wealth during her life but the patriarchal structure ensures that the wealth stays within the male dominated lineage if the direct heir is not there. For example,

अप्रजस्त्रीधनं भर्तुर्ब्राह्मिणादिषु चतुर्वर्षिणि
दुहितृणां प्रसूता चेच्छेषेषु पितृगामि तत्॥145⁵

i. e. If a woman dies without offspring, her property (Stridhana) follows different paths depending on how she was married. If she was married under the Brahma, Daiva, Arsha, or Prajapatya rites, her property goes to her husband (bhartuḥ). In the remaining (often considered "unapproved") forms of marriage—such as Asura, Gandharva, Rakshasa, or Paishacha—the property reverts to her parents (pitṛgāmi). If she does have children, the property goes to her daughters (duhitṛṇām) first.

The second line in this sloka clearly highlights and intersection of gendered rights on state regulation. It is noticeable here does daughters are given the first write of inheritance regardless of type or form of marriage this clearly establishes a female line of capital that exist parallel to the patriarchal one. Another positive aspect is there the married women's wealth is not only the right of her husband after her marriage but it can also be possessed by her father depending on the type of marriage. It is significant to note that though Yajnyavalkya mentions about the financial independent of women by analysing Stri dhana', it is possessed by a woman through gifts received either from maternal, paternal relatives or from the husband's family. The mention of earning wealth by a woman independently is missing. This is in contrast with how Kautilya treats women who exist outside the traditional rules of wife daughters or mothers specifically those in the service of the state. While Yajnyavalkya clearly states that,

रक्षेत् कन्यां पिता विन्नां पतिः पुत्राश्च वार्धके
अभावे ज्ञातयस्तेषां न स्वातन्त्र्यं क्वचित् स्त्रियाः॥1.85⁶

The father should protect her while she is a maiden (kanya). The husband (pati) should protect her once she is married (vinnām). Her sons (putrāḥ) should protect her in her old age (vārdhake). In the absence (abhāve) of these, her kinsmen or relatives (jñātayah) are responsible. A woman should never be left independent.

This shloka is completely in contradiction with the earlier specification with reference to independence. It establishes a kind of control and surveillance on a woman's existence by the patriarchal hierarchy which is a direct denial of female autonomy. It defines the Indian ethos of the ancient times is one to the total guardianship. Using KK feminist framework, in this verse, the Indian authors defines a woman not by her individual traits but by her relational status to men. Indicates that the woman can never have her own identity. She is always a 'daughter of', 'a wife of' or 'a mother of'. Her identity is always dependent in any of the male figures surrounding her. This indicates the politics of language in the language of KK Ruthven. The word rakshati can be interpreted as a euphemism for surveillance. In the ancient world of violin and unstable society protection may provide a sense of physical safety and economic maintenance for a woman, but from a feminist gauge protection itself conveys the sense of being weaker. By seeing a woman should never be independent the text suggest that female autonomy was looked as a thread to social order. The state manage is the female body because it is the medium for lineage and property it must be guarded to ensure the purity of the next generation. There are many other such references where Yajnavalkya Smriti conveys and androcentric

sense. But in the context of financial independence and a woman's identity is appears to have been preferred in this Smriti. Even in the rituals followed after the death, it is mentioned in BhakshyabHakshya Prakaran that,

द्वौ दैवे प्राक्-त्रयः पितृये उदक् एकैकम् एव वा।

मातामहानाम् अपि एवम् तन्त्रम् वा वैश्वदेविकम्॥228⁷

i.e. For the Devas (Vishvedevas), two Brahmanas should be invited, and they should face East (prāk). For the Pitris (ancestors), three Brahmanas should be invited, and they should face North (udak). Alternatively, if one cannot invite many, one Brahmana for the Devas and one for the Pitris may be invited. The same rule applies to the offerings for the maternal ancestors (mother's side). The rites for the Vishvedevas can be performed once (tantram) even if there are multiple sets of ancestors being honoured. Thus the Smriti focusses on the domestic role of a woman in society more. While Kautilya's Arthashastra deals with the role of a woman for the upliftment of the State and its King. Kautilya's concepts about a woman's role are more progressive.

Chanakya describes a class of female spies called Parivrajikas in Adhikaran 1, Adhyay 12,

परिव्राजिका वृत्तिक्रामा दरिद्रा विधवाप्रगल्भा ब्राह्मण्यन्तः-

पुरे कृतसत्कारा महामात्रकुलान्यधिगच्छेत् ॥ ५ ॥ एतया मुण्डा

वृषल्यो व्याख्याताः ॥ ६ ॥ इति संचाराः ॥ ७ ॥⁸

i.e. Describes a female ascetic (Parivrajika) who is poor, widowed, and bold, and how she can gain access to the inner apartments (antahpura) of high officials (Mahamatras) due to her status. Similar roles can be filled by women with shaved heads (Munda) or women of lower castes (Vrishali).

These were often poor Brahmins or widows who were highly educated and respected. Unlike Verse 85 of Yajnavalkya, which demands a woman never be independent, Chanakya's Parivrajika is entirely free and intelligent. She has the "freedom of the city," entering the houses of high ministers and even the king's harem. This is "Institutionalized Intellectual Agency." The state recognizes her intellect as a political weapon, granting her a public life that bypassed domestic "protection."

Chanakya mentions female officials who managed other women, particularly in the weaving establishments (Sutradhyaksha). This shows a formalized hierarchy of female labor. Women weren't just workers; they were managers. Chanakya even provides specific protections for women who worked from home, ensuring that the state officials who collected their work did not look at them inappropriately or mistreat them—punishing the official if he did. Chanakya recognizes the economic value of female labor and creates a "safe workplace" protocol that feels surprisingly modern. One of the most striking images in the Arthashastra is that of the King being surrounded by armed women (Stree-shakti) when he leaves his apartments. This completely subverts the "Protector/Protected" binary. Here, the woman is the Protector and the most powerful man in the state (the King) is the Protected.

This is a "Deconstruction of Gendered Roles."⁹ The physical capability of the female body is prioritized over the biological myth of frailty. Chanakya is practical about marriage. The Arthashastra allows for divorce (Moksha) by mutual consent if there is mutual hatred. It also explicitly lists conditions under which a woman can remarry—such as if her husband is long-absent, has become an ascetic, or is impotent. Chanakya's feminism is Strategic. He didn't necessarily believe in equality in the modern sense, but he believed in Competency. If a woman was competent, the Arthashastra gave her a seat at the table of the State. This provides a Positive counter-narrative to the Negative restrictions of Verse 85. Kautilya also mentions about recruiting transgenders in the duty of protecting the queens in harem in Adhyay 21 of Adhikaran 1..

अशीतिकाः पुरुषाः पञ्चाशत्काः स्त्रियो वा मातापितृव्यञ्जनाः स्थविरवर्ष-

वाराभ्यागारिकाश्चावरोधानां शौचाशौचं विद्युः स्थापयेयुश्च स्वामिहिते ॥ ३१ ॥¹⁰

i.e. Men over eighty years of age and women over fifty, who can act as parents (or family elders), as well as aged and eunuch of the inner court, should observe the purity or impurity of the inhabitants of the harem and keep them established in what is beneficial to the master (king).

Another reference to the transgender in Kautilya is,

शयनादुत्थितः स्त्रीगणैर्धन्विभिः परिगृह्येत् ॥ १ ॥ द्वितीयस्यां कक्ष्यायां
कञ्चुकोष्णीषिभिर्वर्षवराभ्यागारिकैः ॥ २ ॥ तृतीयया कुब्जवामनकिरातैः ॥ ३ ॥
चतुर्थ्या मन्त्रिभिः संबन्धिभिर्दौवारिकैश्च प्रासपाणिभिः ॥ ४ ॥¹¹

i.e. On rising from bed, the king shall be surrounded by female attendants armed with bows. At the second layer, he is surrounded by attendants wearing robes and turbans, and aged eunuchs. In the third court, he is surrounded by hunchbacks, dwarfs, and mountain tribesmen (Kiratas). In the fourth court, he is surrounded by ministers, kinsmen, and doorkeepers bearing spears in their hands.

Thus, it is amply clear that Chanakya does not discriminate women or eunuch in recruitment of King's protection. One may argue that Chanakya's use of diverse groups—such as women, the elderly, and "Kiratas"—was a deliberate security tactic. Because these individuals were often outsiders to mainstream political circles, they were considered less likely to be bribed or involved in the power struggles of the court. But with whatever reasons he mentions them, it is proven that during the time of Kautilya, everyone in society was treated with somewhat equal attitude in comparison to the contemporary society.

Conclusion :- After analysing the above mentioned two texts representing the ancient Indian Ethos from modern discourses of feminism and queer theory, this research proves that:

- The ancient Indian society was open to accept all kinds of human beings giving equal importance to everyone irrespective of their gender and sexual orientation.
- The ancient Indian society was less discriminative though it was divided into Varna system, especially towards women and transgenders.
- The ancient Indian ethos provides a source of the rise of a new feminist ideology that should not be based on any political agenda like the West.
- It appears from the analysis that there is a clear negative impact of various invasions on Indian society and culture during the last 1200 years that the Modern Indian society had either forgotten or overlooked the rich ancient roots.
- The remedy to this negative impact may be to apply an Oriental approach to look at the modern discourses keeping in view the Indian ethos and polishing them in such a manner that they may be pragmatic in today's socio-cultural framework.

References:-

1. <https://www.livelaw.in/articles/equality-marriage-verdict-constitution-of-india-special-marriage-act-240964>
2. Writ Petition (Civil) No. 1011 of 2022 Supriyo @ Supriya Chakraborty & Anr. Versus Union of India, Pg.250
3. Tr. Pandey, Umeshchandra. Yagyavalkya Smriti, Chaukhamba Sanskrit Sansthan, Varanasi (Ed.1), Pg.302
4. Ibid, Pg.272-273
5. Ibid, Pg. 302
6. Ibid, Pg. 36
7. Ibid, Pg.102
8. Tr. Joshi, Vasudev Mahashankar: Kautilya nu Arthshastra, Sastu Sahitya Mudranalaya, Trust, Ahmedabad. 2nd Ed. 2014. Pg.32
9. Waugh, Patricia (ed): An Oxford Guide- Literary Theory and Criticism, Oxford University Press, New Delhi,2006. Pg.325
10. Tr. Joshi, Vasudev Mahashankar: Kautilya nu Arthshastra, Sastu Sahitya Mudranalaya, Trust, Ahmedabad. 2nd Ed. 2014. Pg.71
11. Ibid, Pg.71

The Roots of Modernism in India: Language, Literature, and Free Thinking

Dr. Hiral R. Soni*

Abstract :- Modernism is generally understood as a literary and cultural movement that emerged in the West during the late nineteenth and early twentieth centuries, shaped by industrialization, scientific advancement, and social upheaval. In the Indian context, Modernism is often viewed as a phenomenon that arrived after colonial contact, particularly through English education and Western literary influence. Such an approach, however, overlooks the long and complex history of Indian language and literature. This paper argues that the roots of Modernism in India can be traced much earlier, especially through the development of vernacular languages and literary traditions from around the tenth century onwards.

The emergence of vernacular languages such as early Hindi marked a significant shift in literary expression. Literature moved away from classical Sanskrit and became accessible to wider sections of society. This linguistic transformation enabled writers and poets to express individual experience, question social and religious authority, and articulate free thinking. These qualities are central to what is later identified as modern literary consciousness. By examining the Bhakti movement and its poets, this paper highlights how Indian literature demonstrated features such as individuality, emotional honesty, symbolic expression, and resistance to rigid traditions long before colonial modernity. A comparative literary perspective shows that while Western Modernism was largely shaped by material progress, industrial anxiety, and a crisis of faith, Indian literary modernity was rooted in philosophical inquiry, spiritual freedom, and linguistic accessibility. This paper challenges the colonial framing of Modernism as an exclusively Western phenomenon and calls for a broader, more inclusive understanding of Modernism. By recognizing the role of language history and literary traditions in India, the study places Indian literature within global discussions of modern thought and literary innovation.

Keywords:- Modernism, Indian Literature, Language History, Vernacular Traditions, Comparative Literature.

Introduction :- Modernism is often associated with Western literature from the late 19th and early 20th centuries. Authors like Virginia Woolf, James Joyce, and T. S. Eliot are frequently seen as pioneers who disregarded conventional forms in order to convey the shattered realities of contemporary existence. In Indian literary studies, modernism is usually discussed as a post-colonial movement that was impacted by Western education and English literary models. Modernism is generally defined as a break from established traditions. "Modernism is marked by a strong and deliberate break with tradition and a search for new forms of expression suitable to the conditions of modern life," according to M. H. Abrams (Abrams 167). This description does not adequately explain literary advances in non-Western cultures like India, even while it effectively captures the Western experience.

This paper makes the case that Indian literature had a modern consciousness of its own far earlier. Long before colonial domination, Indian writers showed individualism, free thought, and social critique through the development of vernacular literary traditions and language. This study re-examines the origins of modernism in India by concentrating on language history and literature.

Western Modernism: Language and Literary Innovation :- Rapid industrialization, scientific advancement, urbanization, and the trauma of war all contributed to the development of Western Modernism. Writers found it difficult to depict a world that seemed disjointed and uncertain, and

* Asst. Professor, Government Arts College, Becharaji

traditional belief systems were upended. Modernist literature thus experimented with form, vocabulary, and narrative method.

The Waste Land by T. S. Eliot depicts spiritual emptiness and societal decay. The idea of disintegration that characterizes much Western modernist poetry is encapsulated in his well-known line, "These fragments I have shored against my ruins" (The Waste Land, line 430). In a similar vein, authors such as Virginia Woolf and James Joyce prioritized psychological depth and inner awareness over chronological narrative.

Western Modernism is closely linked with material and social change. Industrial society, technological growth, and urban life shaped the themes and styles of modernist writing. This historical background is important when comparing Western Modernism with Indian literary traditions, which evolved under very different cultural and philosophical conditions.

Language History in India: The Rise of Vernaculars :- The rise of vernacular languages around the 10th century marks a significant turning point in the history of Indian literature. Gradually, regional languages such as early Hindi, Marathi, Bengali, and Tamil began to take the place of classical Sanskrit, which had traditionally been associated with religious texts and elite literary circles. This transformation went beyond a simple shift in language—it reflected deeper cultural and intellectual changes. With the growing use of regional languages, literature became more accessible to common people. Writers were now able to explore personal feelings and address social issues in ways that resonated with a wider audience. As Sheldon Pollock points out, "the emergence of vernacular languages marked a profound cultural shift, allowing literary expression to move beyond elite control" (Pollock 23). In this way, language evolved into a powerful medium for expressing individuality and even challenging established authority.

Early Hindi literature, in particular, contributed significantly to the development of literary awareness. It allowed poets to connect directly with the masses through simple yet meaningful language. This newfound freedom encouraged creativity and sincerity in expression—qualities that are often seen as essential to modern literature. Thus, the history of language in India reveals the early foundations of literary modernity, rooted in openness and independent thought.

Bhakti Literature as Early Indian Modernism :- The Bhakti movement stands as a compelling example of early modern literary expression in India. Poets like Narsinh Mehta, Kabir, Mirabai, Surdas, and Namdev composed their works in regional languages and focused on personal devotion rather than rigid rituals or organized religion. Through their writings, they often questioned social hierarchies, caste divisions, and established religious norms. A defining feature of Bhakti poetry is its deeply personal tone. As A. K. Ramanujan observes, "Bhakti poetry speaks in the voice of a single human being, addressing the divine without institutional mediation" (Speaking of Śiva 12). This direct and individualistic approach closely aligns with modern ideas of personal freedom and independent thought. Kabir, for instance, openly criticizes both Hindu and Muslim practices, emphasizing inner spirituality over outward rituals. Similarly, Mirabai's poetry reflects a form of devotion that goes against societal expectations. Rather than simply accepting tradition, these poets reshaped and questioned it through their own lived experiences. Such characteristics make it reasonable to consider Bhakti literature as an early expression of modernism in India.

Comparative Literary Perspective: India and the West :- A comparison between Indian Bhakti literature and Western modernist writing highlights both shared features and important distinctions. In both traditions, authors foreground the individual voice and question established conventions. The use of symbolism, metaphor, and emotional intensity is also common to each.

Despite these similarities, their central concerns differ considerably. Western modernism often captures feelings of anxiety, alienation, and a loss of meaning brought about by rapid social and material changes. In contrast, Indian literary modernity tends to focus on inner transformation through

spiritual reflection and moral inquiry. While Western modernist writers frequently portray a sense of crisis, Bhakti poets aim for personal and social renewal.

Their use of language also sets them apart. Western modernist texts are often marked by complexity and fragmentation, mirroring psychological tension and instability. On the other hand, Indian vernacular poetry generally favors simplicity and directness in order to communicate more clearly with a broader audience. These differences indicate that modernity is not uniform but can develop in varied ways across different cultural contexts.

Colonialism and the Re-framing of Indian Literature :- Colonial approaches to literary history often divided Indian literature into fixed categories such as ancient, medieval, and modern. In this framework, modernity was typically linked to the impact of colonial rule, while pre-colonial works were dismissed as merely traditional or devotional. Such a perspective overlooked the richness, continuity, and evolving nature of India's literary traditions. As Sisir Kumar Das observes, "colonial literary histories often disrupted the continuity of Indian literature by imposing artificial period divisions" (Das 9). Because of this, many early instances of creative experimentation and individual expression in Indian writing were either ignored or not given due importance.

Revisiting Indian literature from a modernist perspective helps uncover these overlooked elements of early modern consciousness. It also questions the idea that modernity is solely tied to Western models of progress or shaped only by colonial influence.

Conclusion :- Modernism should not be confined to a particular place or historical moment. The evolution of Indian literature—especially its linguistic development and diverse literary traditions—shows that elements of modern consciousness were present well before the arrival of colonial influence. The growth of vernacular languages, along with the rise of Bhakti poetry, reflects a spirit of independent thought, individuality, and creative expression.

Whereas Western modernism largely emerged as a response to scientific advancement and material changes, Indian literary modernity developed through wider access to language, philosophical reflection, and a sense of spiritual autonomy. Acknowledging these foundations helps us move toward a more inclusive and expansive understanding of modernism. By situating Indian literature within the broader context of global modern thought, this study questions colonial interpretations and emphasizes India's important role in shaping the history of modern literary expression.

References:-

1. Abrams, M. H. A Glossary of Literary Terms. 11th ed., Cengage Learning, 2015.
2. Das, Sisir Kumar. A History of Indian Literature: 500–1399. Sahitya Akademi, 1991.
3. Eliot, T. S. The Waste Land. Harcourt, Brace and Company, 1922.
4. Hardy, Friedhelm. Viraha-Bhakti: The Early History of Kṛṣṇa Devotion in South India. Oxford UP, 1983.
5. Pollock, Sheldon. The Language of the Gods in the World of Men: Sanskrit, Culture, and Power in Premodern India. University of California Press, 2006.
6. Ramanujan, A. K. Speaking of Śiva. Penguin Classics, 1973.
7. Ramanujan, A. K. "Is There an Indian Way of Thinking?" Contributions to Indian Sociology, vol. 23, no. 1, 1989, pp. 41–58.
8. Williams, Raymond. Culture and Society 1780–1950. Columbia UP, 1983.
9. Dimock, Edward C. The Place of the Hidden Moon: Erotic Mysticism in the Vaiṣṇava-Sahajiyā Cult of Bengal. University of Chicago Press, 1966.
10. Lorenzen, David N. Bhakti Religion in North India: Community Identity and Political Action. State University of New York Press, 1995.
11. Prasad, Vasudha Dalmia. The Nationalization of Hindu Traditions: Bharatendu Harishchandra and Nineteenth-Century Banaras. Oxford UP, 1997.

Forgotten Feminine Virtues: Human Ideals through Urmila's Lens

Malhar Jayeshkumar Chhanalal*

Abstract :- Smriti Dewan's *Urmila: The Forgotten Princess* (2021) offers a fresh lens to rethink important human values like dharma, sacrifice, loyalty, and resilience in the Ramayana, all through the often overlooked character of Urmila, who is Lakshmana's wife. The study uses a gynocritical approach to argue that Dewan's narrative brings to light what she calls 'forgotten feminine virtues': a bold sense of agency that challenges how patriarchal dharma tends to celebrate visible male heroism while ignoring the silent strength of women. By reinterpreting Urmila's fourteen-year Nidra (sleep) as more than just passive acceptance but as a form of visionary resistance, Dewan highlights the gendered cracks in epic morality, where women's inner lives support the broader narrative yet often go unnoticed. Key insights point to Urmila as a moral pivot, showing her interactions with figures like Parashurama and Vishwamitra as examples of resilience that stand in contrast to Rama's public heroism. Referencing Valmiki's silences and critiques from others, like Sr. A.L.'s views on patriarchal feminism, this paper argues that Dewan's version serves as a feminist correction, pushing epic studies to embrace a more inclusive human experience. In doing so, it pushes back against simplistic ideas of pativrata, presenting Urmila as a richly complex character: flawed, witty, and sovereign who embodies the full spectrum of human virtue.

Keywords:- Urmila, feminist Ramayana, Nidra symbolism, patriarchal dharma, gynocritical reinterpretation

Introduction:- In Valmiki's Ramayana, Urmila gets sidelined: "Lakshmana, leaving his wife Urmila in Ayodhya, followed Rama into exile" (Valmiki 2.35.12, Shastri trans.). Her fourteen-year wait goes unmentioned, just a footnote to her husband's loyalty. This oversight reflects what Sr. A.L. calls "patriarchal feminism," where women's sacrifices symbolize strength but often stay on the fringes because they challenge societal norms without any resolution (Sr. 5). Dewan's *Urmila* breaks this silence, presenting her as a "strong-headed and resilient, Princess of Mithila... heir to the throne and keeper of the sacred bow Pinaka" (Dewan 15, qtd. in Vidhya).

This raises a crucial point: while Rama embodies public duty—his exile seen as a heroic act—and Sita's devotion tested by fire can be understood as chastity, Urmila's overlooked Nidra offers a different human ideal: a quiet strength that fuels the epic's continuity.

Dewan's story following Urmila from her spirited youth in archery to a dreamt-of sovereignty—does important work. It questions how the ideals from the Ramayana solidify into gender roles: male actions are praised, while female stagnation is glorified. Kavi notes that "Urmila's witty character, her bravery, her dreams and loyalty... push her beyond mere stereotype" (Kavi), responding to feminist calls to bring forward unheard voices. This paper contends that through Urmila's perspective, feminine qualities like ethical defiance and compassionate wisdom are not just add-ons but essential to a complete understanding of humanity, challenging the male-centric view often found in epic studies.

Nidra as Subversive Consciousness:- Dewan's take on Nidra really goes beyond Valmiki's brief mention of how "Nidra Devi granted Urmila sleep for Lakshmana" [Valmiki 4.45.10]. It transforms sleep into something much deeper, a kind of visionary agency. Urmila herself reflects, saying, "The

* Research Scholar, Department of English. Hemchandracharya North Gujarat University, Patan.

loner she became, the deeper Nidra embraced her... only a woman can help another woman so did Nidra." (Dewan 178,).

This gives her a chance to see into her exile: the abduction of Sita and Rama's suffering. From this angle, endurance shifts from mere stoicism to a more active form of ethics; Urmila's dreams create a parallel narrative that supports the political scene in Ayodhya, while Lakshmana stays alert in the forest.

This perspective challenges the Ramayana's focus on visible actions like Rama breaking a bow or Hanuman leaping while overlooking the invisible labor behind the scenes. Vijian sheds light on this, noting that "Feminist analysis... highlights the quiet power of women challenging traditional roles through reinterpretations" (Vijian 141). So, Urmila's Nidra represents a "forgotten virtue": it's not about absence; rather, it's about constant vigilance. Her inner thoughts "I slept, yet I saw; I waited, yet I ruled" (Dewan 202) question the imbalance of sacrifice: Lakshmana's loyalty gets him songs and stories, while hers fades into nothing.

Contrast is further amplified here. In Pervin Saket's *Urmila* (2015), sleep is seen as a cage, but Dewan flips that around, aligning with Rajan's argument that "Rediscovering Urmila demands feminist retelling... contradicting pativrata as unidirectional" (Rajan 3). In this way, Nidra becomes a symbol of a feminine approach to dharma that is relational and introspective, reshaping human ideals beyond just martial glory.

Warrior Agency and Ethical Defiance:- Dewan gifts Urmila a strength in battle that you don't see in Valmiki's text, setting her up against Parashurama. "The axe gleamed... but Urmila stood firm, Pinaka humming in her grasp" (Dewan 92). This moment really emphasizes the idea of defiance as a human value. When Parashurama shouts, "Woman, yield the bow!" Urmila responds, "Mithila bows to none but dharma's true arbiters" (Dewan 95). This twist challenges the idea that sages are always correct and puts Urmila in the role of a moral judge. Her strength raises a key question: if Rama's exile is justified for kingship, then isn't her defense of the throne just as crucial for maintaining cosmic balance?

The political drama adds another layer to her resilience. In the midst of Ayodhya's plots—"Whispers of regicide swirled; Urmila, sleepless in sleep, unraveled plots" (Dewan 245, qtd. in Mark)—she shows a kind of practical wisdom. Vidhya points out that "Urmila's journey with Lord Parshuram... found the essence of Sita close to her heart," highlighting a bond of sisterly empathy rather than a rivalry (Vidhya). This perspective pushes back against the idea in patriarchal feminism that submission is a virtue, where qualities like tolerance can sometimes overlook deeper issues (Sr. 7). Urmila isn't without her flaws; her fiery temper and skepticism about the throne make her relatable: "She was no saint, but a queen forged in fire" (Dewan 301).

If we look at Showalter's concept of the "wild zone" of female camaraderie, Urmila's visits to Sita show "affectional alliances defying patriarchy" (Showalter 264). Dewan makes a case for a more intricate kind of virtue—one that's both rebellious and responsible, pushing against the traditional boundaries set in epics.

Post-Exile Queenship and Relational Wisdom:- Urmila's denouement synthesizes virtues: enthroned post-war, she mothers heirs while counseling Rama. "The Queen Urmila, a warrior... Father-daughter's bond mended empires," Dewan writes, as Urmila advises: "Dharma is not exile alone, but justice in the hearth" (Dewan 412, qtd. in Vidhya).

This reframes loyalty: not abject service, but mutual sustenance. Sita's lament "She could have sat at home like Urmila... but I did not" (Dewan 189, qtd. in CriticSpace) exposes injustice, prompting Urmila's silent rebuttal: waiting *is* action.

Scholarly corollaries affirm: Likhitha deems her "silent warrior whose agony was unheard," yet Dewan amplifies her voice (Likhitha). Against Kane's *Sita's Sister*, where Urmila's "individuality contradicts pativrata" (Rajan 3), Dewan integrates flaws into sovereignty, arguing true humanity inheres in imperfection. This critiques Valmiki's teleology: Rama's triumph elides Urmila's groundwork.

Conclusion:- In synthesizing the key findings, Dewan's transformative portrayal of Urmila in *Urmila: The Forgotten Princess* fundamentally reconfigures Ramayana's human ideals, elevating Nidra's dialectic from passive slumber to ethical clairvoyance that underscores invisible labor as a core virtue, while her defiant agency in encounters with Parashurama and Vishwamitra positions resilience as a subversive counter-dharma challenging male heroism's monopoly. This relational synthesis culminates in her queenship, where empathy emerges as the pinnacle virtue, bridging personal endurance with cosmic order and extending epic humanity beyond patriarchal selectivity as a vital feminist corrective. Analytically, Dewan's Urmila indicts the asymmetry of ideals—Rama's visible sacrifice deified, hers spectralized—with the author's reflection, "It was unfair to Urmila because she spent... waiting" (qtd. in CriticSpace), birthing resilience as an ethic that resists Sr.'s notion of "patriarchal feminism," wherein reverence veils control (Sr. 5); Urmila's complexity—witty, flawed, erring yet loving fiercely argues for virtue's universality, echoing Showalter's assertion that women's texts "affirm the autonomy of female consciousness" (Showalter 261). Yet tensions persist: does such empowerment domesticate rebellion, or does Dewan's non-didacticism—eschewing tokenism for raw relational wisdom, as in "Empathy transcends rivalry" (Dewan 420)—genuinely demand parity in Ramayana studies? Ultimately, Urmila's resilient, defiant, and wise virtues redefine epic humanity, exposing dharma's gendered voids; her lens, a feminist clarion, urges scholarship beyond margins, insisting amid 2026's evolving discourses that true ideals embrace the silenced, forging an inclusive morality where forgotten feminine wholeness illuminates the cosmic narrative.

References:-

1. Dewan, Smriti. *Urmila: The Forgotten Princess*. Bloomsbury India, 2021.
2. CriticSpace. "Book Review – URMILA, The Forgotten Princess." *CriticSpace*, 2 June 2022.
3. Kavi. "Urmila, the Forgotten Princess by Smriti Dewan." *Words Behind the Ink*, 10 May 2021, wordsbehindtheink.wordpress.com/2021/05/10/urmila-the-forgotten-princess-by-smriti-dewan/.
4. Likhitha. "'Urmila – The Forgotten Princess'" by Smriti Dewan." *Likhitha Reads*, 6 May 2021, likhithareads.wordpress.com/2021/05/06/urmila-the-forgotten-princess-by-smriti-dewan/.
5. Mark. "Book Review: Urmila: The Forgotten Princess by Smriti Dewan." *Mark by Manyaa*, 8 May 2021, markbymanyaa.wordpress.com/2021/05/08/book-review-urmila-the-forgotten-princess-by-smriti-dewan/. Rajan, P.B. "Rediscovering Urmila: A Feminist Retelling of a Forgotten Character." *Language in India*, Mar. 2025, www.languageinindia.com/march2025/saranyaanalysissitassisterfinal.pdf.
6. Showalter, Elaine. "Toward a Feminist Poetics." *The New Feminist Criticism: Essays on Women, Literature, and Theory*, edited by Elaine Showalter, Pantheon, 1985, pp. 125-43. Sr., A.L. "Urmila's Plight and the Effects of Patriarchal Feminism." *ILN Journal*, 29 Sept. 2025, online.ilnjournal.com/index.php/iln/article/view/Akshaya.Valmiki.The.Ramayana.of.Valmiki. Translated by Hari Prasad Shastri, Shanti Press, 1952. Vidhya. "Urmila - The Forgotten Princess by Smriti Dewan." *Vidhya Thakkar*, 20 Mar. 2022, vidhyathakkar.com/urmila-the-forgotten-princess-by-smriti-dewan-published-by-bloomsbury-india-book-review/.
7. Vijian. "Feminist Discourse in Ramayana Reinterpretations." *Anubooks*, 24 Mar. 2025, anubooks.com/uploads/session_pdf/17428111341.pdf.

The concept of Vasudhaiva Kutumbakam (The World is a Family) : Insights from the Mahopanisad

Dr. Ajitsinh A. Zala*

Abstract:- "The World is a Family: Insights from the Mahopanisad" is a research paper that explores the ancient Indian philosophical concept of "Vasudhaiva Kutumbakam" (The world is a family) as elucidated in the Mahopanisad, an important Upanishadic text. The paper delves into the underlying philosophy of oneness and interconnectedness, promoting a sense of universal kinship among all living beings and the natural world. Through an analysis of the Mahopanisad's teachings, the research highlights the relevance of this concept in contemporary times, emphasizing its potential to foster compassion, empathy, environmental ethics, and social harmony in our globalized world. Vasudhaiva Kutumbakam is a philosophy that inculcates an understanding that the whole world is one family. It is a philosophy that tries to foster an understanding that the whole of humanity is one family. It is a social philosophy emanating from a spiritual understanding that the whole of humanity is made of one life energy. Hitopadesha is a collection of Sanskrit fables in prose and verse. According to the author of Hitopadesha, Narayana, the main purpose of creating the Hitopadesha is to instruct young minds the philosophy of life in an easy way so that they are able to grow into responsible adults. It is almost similar to the Panchatantra.

Key Words:- Vasudhaiva Kutumbakam, Mahopanisad, Oneness, Interconnectedness, Universal kinship, Compassion, Empathy, Environmental ethics, Social harmony, Upanishad, Ancient Indian philosophy, Globalized world, Universal family, Cosmic unity, Cultural inclusivity.

Introduction:- The Maha Upanishad (Sanskrit: महा उपनिषद्, IAST: Mahā Upaniṣad) is a Sanskrit text and is one of the minor Upanishads of Hinduism. The text is classified as a Samanya Upanishad. The text exists in two versions, one attached to the Atharvaveda in some anthologies, and another attached to the Samaveda. The Atharvaveda version is shorter, and in prose. The Samaveda version is partly in poetic verses.

The Vaishnava Upanishad describes Vishnu as the highest being, and above Brahma. Both groups of texts, however, use reverential words of all Hindu gods, and assert them to be the same Atman-Brahman. The Upanishad presents a syncretism of Vaishnava and Vedanta ideas, and is notable for its teaching of "Vasudhaiva Kutumbakam", or "the world is one family". The date or author of Maha Upanishad is unknown, but Deussen considers it to be the most ancient of Vaishnava Upanishads attached to the Atharvaveda.

The Upanishad presents Vishnu as the highest being, above Samkhya principles, above Shiva, and above Brahma. This Upanishadic text competes with Shaiva Upanishads, such as the Atharvashikha Upanishad and Atharvashiras Upanishad, which asserts Shiva as higher than Vishnu and Brahma. Both groups, however, use profusely reverential words in describing all three – Brahma, Vishnu and Shiva (or Maheshvara, Rudra), and identify them as manifestations of the same universal Atman-Brahman (ultimate reality). The Upanishad is oft quoted ancient text for the credo, "Vasudhaiva Kutumbakam" (Sanskrit: वसुधैव कुटुम्बकम्), or "the world constitutes but one family". This verse of Maha Upanishad is engraved in the entrance hall of the parliament of India.

The concept originates in the Vedic scripture Maha Upanishad :- The concept of Vasudhaiva

*Shree Sarvoday Arts & Commerce College, Kant (Deesa) Assistance professor Department of Economics

Kutumbakam originates from Hitopadesha. Hitopadesha is a collection of Sanskrit fables in prose and verse. According to the author of Hitopadesha, Narayana, the main purpose of creating the Hitopadesha is to instruct young minds the philosophy of life in an easy way so that they are able to grow into responsible adults. It is almost similar to the Panchatantra. The whole philosophy of Vasudhaiva Kutumbakam is an integral part of the Hindu Philosophy. The concept originates in the Vedic scripture Maha Upanishad (Chapter 6, Verse 72):

अयं बन्धुरयं नेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥ ७१ ॥

Maha Upanishad 6.71 The world is a family one is a relative, the other stranger, say the small minded. The entire world is a family, live the magnanimous. Be detached, be magnanimous, lift up your mind, and enjoy the fruit of Brahmanic freedom.

The concept of "Vasudhaiva Kutumbakam" – "The world is a family" – is an ancient Indian philosophical idea that transcends boundaries of culture, religion, and nationality. This profound notion, deeply rooted in the Mahopanisad, holds relevance even in the modern world, where divisions and conflicts often seem insurmountable. The Mahopanisad, a lesser-known Upanishad, provides invaluable insights into this universal concept of interconnectedness, promoting a sense of oneness and compassion among all living beings.

The Philosophy of Oneness:- The Mahopanisad expounds the idea of Brahman, the ultimate reality, as the unifying cosmic principle that pervades everything in existence. It highlights that beyond apparent distinctions and diversities, there exists an underlying unity that binds all life forms, including humans, animals, plants, and the entire natural world. This interconnectedness is not limited by boundaries or borders; it encompasses the entire cosmos.

Expanding the Notion of Family:- The conventional understanding of family often relates to one's immediate relatives and loved ones. However, the Mahopanisad challenges this limited perception and urges us to view the entire world as an extended family. In doing so, it fosters a profound sense of belonging and responsibility towards all beings, irrespective of their differences.

Compassion and Empathy:- The notion of the world as a family encourages us to cultivate compassion and empathy towards others. When we recognize the shared essence of humanity and acknowledge the suffering and joy experienced by all living beings, we become more sensitive to the needs and struggles of others. This empathy can motivate us to take collective action to alleviate suffering and promote well being.

Overcoming Division and Conflict:- In a world often marred by division, conflict, and animosity, the principle of "Vasudhaiva Kutumbakam" provides a remedy. By embracing the idea of a universal family, we foster an attitude of inclusivity and acceptance. This can help bridge the gaps between different communities, cultures, and nations, promoting understanding and peace.

Environmental Ethics:- The concept of the world as a family extends beyond human relationships and includes our relationship with nature. The Mahopanisad encourages us to recognize nature as an integral part of our larger family. This perspective promotes environmental ethics and emphasizes the need for responsible stewardship of the Earth, acknowledging the interconnectedness between human well-being and the health of the natural world.

Applying the Concept in Modern Times:- In a rapidly globalizing world, where technology connects people across continents, the idea of the world as a family gains even more significance. We witness the impacts of our actions on distant communities and ecosystems, reinforcing the interconnectedness of all life.

Applying the concept of "Vasudhaiva Kutumbakam" in our daily lives can inspire us to break down barriers of prejudice and discrimination. By recognizing our shared humanity and the inherent

worth of every individual, we can promote social justice, equality, and inclusivity. The wisdom of the Mahopanisad and its profound concept of "The world is a family" transcends time and space. This ancient philosophical idea reminds us that we are all interconnected, bound by a common thread of existence. Embracing this concept can lead us to a more compassionate, empathetic, and responsible way of living, fostering harmony within ourselves, with each other, and with the entire natural world. As we carry the timeless wisdom of the Mahopanisad into the future, may we strive to build a world that truly recognizes and lives by the principle that "The world is a family."

The text has been influential in the major Hindu literature that followed it. The popular Bhagavata Purana, composed sometime between 500 CE and 1000 CE, the most translated of the Purana genre of literature in Hinduism, for example, calls the Vasudhaiva Kutumbakam adage of the Maha Upanishad, as the "loftiest Vedantic thought". This adage, according to Chung Tan, influenced the Chinese culture and is an example of "dynamics of boundarylessness of a Himalaya Sphere phenomenon, viz. Chinese culture with Indian input".

Vasudhaiva Kutumbakam: Be a World Citizen A World Citizen is a one who sees no boundaries of religion, race, gender, creed, society, sect, and nation. He respects every human life on Earth, without any prejudices and is ready to share everything that nature offers. There are three recommended steps. The first step is to develop our consciousness by recognizing the common thread binding everything on this planet. Thus the first step is the understanding of oneness. The second step is to develop a global perspective. This can be done by reading the history of other countries, understanding their culture and appreciating their uniqueness. This will make you respect every culture and nation in this world. Interact with people of various countries and cultures. You can do this by travelling, by reaching out to expatriates in our city, through social networking websites, etc. Understand how communities, societies and nations are built. Studying the nature, environment, the balance between the human, plant and animal kingdoms will make us revere the beauty of creation and in turn shall inspire us to take effort to restore and maintain the balance of nature. We shall begin to recognise the common teachings of all great leaders, prophets and saints, pointing to the same Oneness, God and Consciousness present in each one of us. By recognising and identifying oneself with this deeper realm, you operate as a world citizen, seeing the world as one family. All our deeds then emanate from the oneness and you shall only think of the well-being of everyone.

Ecological and Environmental Perspectives in the Mahopanisad :- The Mahopanisad, an ancient Indian text belonging to the Upanishadic tradition, offers profound insights into the philosophical, spiritual, and ethical aspects of life. Despite its relatively lesser-known status compared to other Upanishads, the Mahopanisad contains teachings that hold relevance even in the modern context, particularly concerning ecological and environmental perspectives. This research paper aims to explore and analyze the ecological and environmental themes present in the Mahopanisad, shedding light on its contributions to fostering a harmonious relationship between humans and nature.

Historical Context:- The Mahopanisad, like other Upanishads, emerged during a significant period in Indian history when the Vedic tradition was evolving into early Hindu philosophy. The context of ancient India was deeply rooted in nature, with people living closely connected to the natural world. Understanding this historical context is crucial for comprehending the ecological and environmental perspectives embedded in the text.

Concept of Oneness:- The Mahopanisad emphasizes the concept of oneness or interconnectedness between all living beings and the universe. The notion of Brahman (ultimate reality) as the cosmic principle underlying all existence is a central theme. This understanding promotes an ecological worldview that recognizes the intrinsic value of all life forms and their interdependence.

Respect for Nature:- The text encourages reverence and respect for nature as a manifestation of the divine. Nature is not merely seen as a resource for human consumption but as a sacred entity deserving

protection and care. The Mahopanisad inspires individuals to develop a sense of environmental stewardship and responsibility towards the natural world.

Sustainable Living and Non-Violence:- The principles of sustainable living and non-violence (ahimsa) are prominent in the Mahopanisad. The text advocates for a lifestyle that minimizes harm to living beings and the environment. This perspective resonates with contemporary environmental ethics, emphasizing the need for ecological balance and responsible resource management.

Harmony with the Elements:- The Mahopanisad describes the human body as a microcosm of the universe, composed of the same five elements - earth, water, fire, air, and ether. This connection reinforces the idea of living in harmony with the elements and aligning our actions with natural rhythms. The text encourages individuals to lead a life that does not disrupt the delicate balance of nature.

Renunciation of Materialism:- The Mahopanisad promotes detachment from material possessions and desires, recognizing that excessive consumerism and exploitation of natural resources leads to environmental degradation. By advocating for a simple and mindful way of life, the text promotes ecological sustainability and reduces the human impact on the environment.

The Mahopanisad offers a unique perspective on ecological and environmental ethics that resonates with contemporary concerns about sustainability, biodiversity, and climate change. Its teachings emphasize interconnectedness, reverence for nature, and sustainable living, providing valuable insights for addressing the ecological challenges of the modern world. By revisiting and understanding these ecological perspectives in the Mahopanisad, we can find inspiration to create a harmonious coexistence between humanity and the natural world.

Conclusion:- In conclusion, the concept of Vasudhaiva Kutumbakam, originating from the Mahopanisad, represents a profound and timeless philosophical idea that holds immense relevance in today's interconnected world. This ancient Indian teaching emphasizes the interconnectedness and unity of all living beings, transcending the boundaries of race, religion, nationality, and species. Throughout history, various cultures and societies have grappled with the complexities of coexistence and global harmony. The Mahopanisad's teaching of Vasudhaiva Kutumbakam offers a profound insight into addressing these challenges. It reminds us that we are all part of a vast human family and share a common responsibility to care for one another and the planet we inhabit.

In an era characterized by globalization and technological advancements, the world has become increasingly interdependent. The concept of Vasudhaiva Kutumbakam urges us to foster a sense of compassion, empathy, and mutual respect for one another. It encourages us to extend our circles of concern beyond our immediate communities and to embrace the well-being of all beings on Earth. Furthermore, the notion of Vasudhaiva Kutumbakam serves as a powerful reminder that our actions have far-reaching consequences. By recognizing our shared destiny, we become more conscious of the impact we have on others and the environment. It calls for a mindful and ethical approach in how we interact with one another and the world around us. Incorporating the teachings of Vasudhaiva Kutumbakam into our individual lives and collective consciousness can lead to a more compassionate, inclusive, and sustainable world. It transcends the boundaries of culture, religion, and nationality, fostering a spirit of cooperation and harmony. By internalizing this concept, we can build bridges of understanding and bridge the gaps that divide humanity. The whole philosophy of Vasudhaiva Kutumbakam is an integral part of the Hindu Philosophy. When we see the same consciousness in every person – then we will be able to see the world as one family. The Upanishads call this Vasudhaiva Kutumbakam. One who understands what Vasudhaiva Kutumbakam is one who sees the entire world as his family inclusive of human, plant and animal kingdom. He recognizes being part of the one creation and living like a family sharing everything the world has to offer and caring for others. Seeing the world as a family also signifies being ready to work towards any problem which the world is

facing.

However, while the idea of Vasudhaiva Kutumbakam is undoubtedly inspiring, its realization requires collective efforts and a genuine commitment to unity. We must strive to overcome the barriers of ignorance, prejudice, and narrow-mindedness that hinder our ability to recognize the interconnectedness of all life. In conclusion, the Mahopanisad's teaching of Vasudhaiva Kutumbakam imparts a timeless wisdom that beckons us to embrace our shared humanity and the larger family we belong to—our global family. By living in accordance with this profound principle, we can forge a path towards a more compassionate, just, and sustainable world for generations to come. As we continue to navigate the complexities of an ever-changing world, let us carry the essence of Vasudhaiva Kutumbakam in our hearts and minds, and may it guide us towards a brighter and more harmonious future for all.

References:-

1. A G Krishna Warriar (1953), Maha Upanishad, Theosophical Society, Madras
2. B P Singh and Dalai Lama (2008). Bahudha and the Post 9/11 World, Oxford University Press,
3. Badiani, Hiro G. (September 2008). Hinduism: Path of the Ancient Wisdom.
4. Badlani, Hiro G. (September 2008). Hinduism: Path of the Ancient Wisdom. iUniverse.
5. Deussen, Paul (1 January 1997). Sixty Upanishads of the Veda. Motilal Banarsidass Publishers.
6. Deussen, Paul (2010). The Philosophy of the Upanishads. Oxford University Press (Reprinted by Cosimo).
7. Hattangadi, Sunder (2000). "महोपनिषत् (Maha Upanishad 20 January 2016.
8. Jeffrey Moses (2002). Oneness, Random House Publishing 9. Robin Seelan (2015). Deconstructing Global Citizenship (Editors: Hassan Bashir and Philips Gray), Routledge, 10. S Shah and V Ramamoorthy (2014), Soulful Corporations, Spinger Science.
9. Sheridan, Daniel (1986). The Advaitic Theism of the Bhāgavata Purāṇa. Columbia: South Asia Books.
10. Tan, Chung (1 January 2015). Himalaya Calling. World Scientific.
11. Tinoco, Carlos Alberto (1996). Upanishads. IBRASA. ISBN 978-85-348-0040-2.



Contemporary Society Challenges to Human Values

Dr. Tulsi Rani Patel*

Abstract :- The collision between contemporary society and traditional or foundational human values is one of the defining tensions of our time. The challenges are multifaceted, often arising from technological acceleration, globalize systems, and shifting cultural norms. Our personal data is the currency of the digital age. Through constant tracking, algorithms predict and subtly manipulate our behavior as what we buy, read, and even who we vote for. This undermines individual autonomy and the very notion of free will. Privacy, once a cornerstone of personal freedom, is often traded for convenience. The decline of traditional community structures like religious institutions or local clubs and hyper individualistic narratives can leave people without a sense of shared belonging or mutual obligation. In this present global human society we almost see only the demoralizing values. What the genuine cause of the degradation of these values could be is an important question to be asked. Without stable value frameworks, individuals suffer from ‘choice paralyses’ and a lack of purpose. The pressure of self-construction in a norm less environment correlates with rising rates of anxiety, depression and loneliness.

Key words :- Human values, Tradition, Technology, Digitalization, Emptiness, Challenges, AI.

Introduction :- Values are generally regarded as the moral standards that guide human behavior in society. They represent essential qualities that influence human actions and decisions, shaping both individual conduct and collective life. Values are not fixed; rather, they are contextual and depend upon human judgment and situational understanding. The term “value” is derived from the Latin word *valeo*, meaning strength, health, and effectiveness, and the French term *valeur*, meaning excellence. Over time, the concept has evolved to signify worth, importance, and desirability in human life.

Conceptually, values are often understood as a combination of ideas, qualities, and supervenient principles that influence thought and behavior. They serve as guiding principles that help individuals determine what is right, desirable, and meaningful. Values play a crucial role in shaping personality, influencing how individuals make decisions, build trust, and organize their time and energy within social contexts. They provide direction and purpose, enabling individuals to navigate complex social realities.

Moreover, values are central to cultural development and the preservation of cultural heritage. They act as a moral compass, helping societies maintain continuity while adapting to change. In addressing global challenges such as conflict, inequality, and environmental degradation, values offer ethical frameworks for solutions and collective well-being. As noted by Meglino and Ravlin, values are internalized realities reflected in habits, beliefs, expectations, and relationships. Thus, they form the foundation of both personal integrity and social harmony.

The change is an unavoidable event that appears in everyday life actions of people within the society, and in recent times, people in the society are progressively shifts in their socio-cultural practices that remained the foundation of societal functioning. The individual aspirations and lived experiences of people have initiated to reinterpret and redefine the long existing cultural traits, disclosing how inherited values such as communal solidarity, festivals, rituals, relational respect,

* Assistant Professor (English) Pmcoe, Govt. Tulsi College, Anuppur (M.P.)

and sacred taboos are now being modified in accordance to present necessities. A recent study by Bronner applies Veblen's (1889) prominent concept of conspicuous consumption, arguing that social visibility is a precondition for conspicuous consumption. To achieve the intended result of signaling, one must make things visible and known to others; otherwise, one cannot signal anything and gain recognition. Conspicuous consumption helps to understand how people engage in consumption to demonstrate to their social status or degree of honor rather than following the actual purposes related to cultural practices. Likewise, people in the society display themselves through cultural practices to manifest their social status, prestige, and irrelevant exaggeration.

New religious movements emerge as adaptive responses to social change, spiritual classification, and the uncertainties of modern life. Anthropologist such as Victor Turner emphasized the role of rituals in reinforcing social solidarity, managing transitions and legitimizing authority. Rituals also function as mechanisms of identity formation making boundaries between the sacred and the profane. Globalization, urbanization and technological transformation have weakened traditional forms of religious authority, creating spaces for alternative spiritual expressions. These movements often blend indigenous traditions with modern ideas, science, therapy, and global spiritual discourses. Sociologists note that new religious movement emphasizes personal experience, self realization and emotional fulfillment rather than rigid doctrine. They attract followers seeking meaning, community and moral clarity in rapidly changing societies. Such movements frequently utilize mass media, digital platforms and transnational networks to expand their influence. New religious movements thus reflect the dynamic nature of culture, illustrating how religious beliefs continuously evolve to address contemporary anxieties, identity crisis, and ethical dilemmas. Their emergence underscores the enduring human quest for transcendence even within secular and consumer-driven environment.

The process of globalization brought outstanding changes in the field of science, technology, economy, polity and social institution in India, which ultimately brought about changes in traditional cultural styles, rituals and religious practices. The structure of society has changed many ways and new trends are being observed in areas concerning the family nexus, the nature and the extent of unemployment and social inequality. India has witnessed rapid socio-economic changes since the implementation of liberalization policy. Cities in India are now developing unevenly with rural migration, industrial workers, inequality etc. Unemployment, poverty, caste and communal conflicts, manmade pollution and public disorder have increased the urgency in the area of urban policy. Malpractices have been adopted to possess higher status in the society. Corruption has grown phenomenally and no area of life is free from it. There has been tremendous increase in all kinds of violence including organized violence against the state, inter group violence, intra-familial violence etc. According to Peasant Gayen ' Many social forces, including as terrorism, globalization, materialism, consumerism, and the dangers posed to humanity by climate change and environmental degradation, are at play in the multifaceted problem of declining values'.

Global interconnectedness forces a clash between respecting diverse cultural traditions and upholding potential universal human rights like gender, equality. This creates moral ambiguity. Weakening of traditional community structures as churches, local associations leads to loneliness, loss of social trust, and a decline in civic responsibility. The fast development of artificial intelligence brings both promise and concerns. While AI has the potential to revolutionaries industries and improves various aspects of human life, it also raises questions about the possible loss of human value in the process. As we find the way this evolving setting, it's critical to address

the ethical implications and take practical measures to prevent any degradation of human value. Over reliance on these advance tools can reduce critical thinking, creativity and social skill. Due to the tendency towards materialism, human values have suffered the most. Human beings are becoming so mesmerized by the dazzling charm of materialism that they are forgetting their human identity. This situation is a matter of concern for human civilization.

Conclusion:- We are living in a time of moral crisis where individuals often prioritize personal gain over collective well-being. In such a context, the need for value-based education becomes increasingly significant. Value education focuses on inculcating essential human qualities such as compassion, honesty, courage, and empathy, which contribute to the development of balanced individuals and a harmonious society. It is not solely the responsibility of formal education systems; rather, families, communities, NGOs, and religious institutions must work collectively to revive and sustain ethical values, as emphasized by Bhutia and Yodida.

Values can also be understood as a dynamic relationship between an individual and their environment, evoking thoughtful and appreciative responses. Any human activity, idea, or emotion that fosters holistic self-development can be considered a value. Value education aims to bring about positive changes in behavior, attitudes, and social responsibility. Key institutions such as family, society, and schools play a crucial role in this process. Notably, studies indicate that students from joint family systems often demonstrate a stronger orientation toward shared values compared to those from nuclear families, highlighting the importance of social context in value formation.

References:-

1. Bhutia, Yodida. "Personal Values of Secondary School Students". *International Journal of Educational and Psychological Research (IJEPR)*, 2(4), 2013.
2. Bronner, F & de Hoog, R. "Conspicuous leisure: The social visibility of cultural experiences". *International Journal of Market Research*, 63(3), 2019.
3. Meglino, B.M. and Ravlin, E.C. "Individual Values in Organizations: Concepts, Controversies and Research". *Journal of Management*, 24(3), 1998.
4. Prasanta, Gayen. "Values and Morals in Contemporary Society: Role in Various Domains". *Galore International Journal of Applied Science & Humanities*, 7(2), 2023.
5. Turner, V. *The Ritual Process: Structure and Antistructure*. Aldine, 1969.

‘भारतीय साहित्य, समाज, संस्कृति और शिक्षा का मानवीय प्रदेय’ ‘राष्ट्रीय संगोष्ठी (30-31 जनवरी, 2026) का प्रतिवेदन’

डॉ. सुनील कुमार मानस*

सरकारी विनयन कॉलेज, बेचराजी (गुजरात) तथा राष्ट्रीय उच्चतर शिक्षा अभियान (RUSA) के संयुक्त तत्वावधान में 30-31 जनवरी, 2026 को आयोजित दो-दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी ‘भारतीय साहित्य, समाज, संस्कृति और शिक्षा का मानवीय प्रदेय’ का सफल आयोजन सरकारी विनयन कॉलेज, बेचराजी (गुजरात) के सभागार में संपन्न हुआ।

उक्त संगोष्ठी के उद्घाटन सत्र की शुरुआत 30 जनवरी, 2026 को सुबह 10 बजे, मंचीय विद्वानों प्रो. बलवंत जानी, प्रो. रमेश सी. भारद्वाज, डॉ. अनूप पति तिवारी, डॉ. भावनाबेन एम. पटेल, डॉ. विरसंग आर. चौधरी तथा डॉ. सुनील कुमार मानस के सामूहिक दीप-प्रज्वलन एवं सरस्वती प्रतिमा के माल्यार्पण के साथ हुई। इस अवसर पर डॉ. कश्यप त्रिवेदी ने स्वस्तिवाचन किया। तत्पश्चात महाविद्यालय के विद्यार्थियों (पटेल प्रिया, देसाई प्रिंसी, भरवाड़ भूमि, मरेडिया भूमि, प्रजापति सिद्धि) ने सरस्वती वंदना की मनोहारी प्रस्तुति दी। इसके उपरांत मंचासीन अतिथियों का सूत की माला तथा अंगवस्त्र भेंटकर स्वागत एवं सम्मान किया गया। इसी क्रम में ‘सृजन श्री न्यास’ की ओर से प्रो. रमेश सी. भारद्वाज को वर्ष 2026 के सम्मान से विभूषित एवं अलंकृत किया गया। तदुपरांत महाविद्यालय की डॉ. भावनाबेन एम. पटेल ने सभी अतिथियों का स्वागत करते हुए स्वागत वक्तव्य प्रस्तुत किया। बीज वक्तव्य प्रस्तुत करते हुए प्रो. रमेश सी. भारद्वाज ने संगोष्ठी के मूल विषय की भावभूमि और विचारभूमि को अत्यंत सूक्ष्मता और व्यापक दृष्टि के साथ स्पष्ट किया। उन्होंने भारतीय ज्ञान परंपरा को समन्वय, सह-अस्तित्व और मानव-केंद्रित दृष्टिकोण की आधारशिला बताते हुए कहा कि भारतीय चिंतन में ज्ञान का उद्देश्य केवल बौद्धिक विकास तक सीमित नहीं है, बल्कि वह मानव जीवन को मूल्यपरक, संतुलित और समृद्ध बनाने का माध्यम है। उन्होंने यह भी रेखांकित किया कि भारतीय साहित्य और संस्कृति में निहित मानवीय मूल्यों को समकालीन संदर्भों में पुनः स्थापित करने की आवश्यकता है, जिससे वर्तमान सामाजिक चुनौतियों का समाधान संभव हो सके। मुख्य वक्ता डॉ. अनूप पति तिवारी ने अपने उद्बोधन में भारतीय चिंतन की उस परंपरा पर प्रकाश डाला, जिसमें आंतरिक परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन का आधार माना गया है। उन्होंने कहा कि जब तक व्यक्ति के भीतर चेतना और समझ का विकास नहीं होगा, तब तक समाज में स्थायी परिवर्तन संभव नहीं है। उन्होंने भारतीय दार्शनिक परंपरा में निहित मूल्य-बोध को वर्तमान समय में प्रासंगिक बताते हुए इस बात पर जोर दिया कि शिक्षा का उद्देश्य केवल ज्ञानार्जन नहीं, बल्कि व्यक्ति के समग्र विकास और समाज के नैतिक पुनर्निर्माण से जुड़ा होना चाहिए। अध्यक्षीय उद्बोधन में प्रो. बलवंत जानी ने ‘भारतीय ज्ञान की अवधारणा का समेकित स्वर’ विषय पर प्रकाश डालते हुए कहा कि यह दुनिया की सबसे पुरानी, सबसे बड़ी और सबको शामिल करने वाली ज्ञान प्रणालियों में से एक है। भारतीय कालक्रम, वैदिक और पौराणिक चिंतन, और ऋषियों द्वारा अनुभव की गई सच्चाई की परंपरा पर ध्यान दिए बिना इस परंपरा का सही मूल्यांकन संभव नहीं है। वैदिक साहित्य इस बात के पक्के प्रमाण देता है कि भारतीय ज्ञान परंपरा केवल पुरुषों के प्रभुत्व वाली नहीं थी, बल्कि ऋषिकाओं की सक्रिय भागीदारी के माध्यम से महिलाओं और स्त्री-शक्ति को भी इसमें शामिल किया गया था। उन्होंने रोचक ढंग से समझाया कि इसमें मानवीय मूल्य, खगोलशास्त्र, चेतन और निर्जीव जगत, वनस्पति विज्ञान, आयुर्वेद, गणित, व्याकरण, संगीत, नृत्य, नाटक, खेल, त्योहार, और शस्त्र तथा शास्त्र कैसे शामिल हैं। गुरुकुल परंपरा में, विद्यार्थी केवल लिखित ज्ञान ही नहीं लेते थे, बल्कि कड़ी मेहनत, स्व-अध्ययन, स्व-चिंतन और जीवन को देखने के दृष्टिकोण से एक अच्छे मनुष्य बनते थे। गाना, बजाना, नृत्य करना, कविता, नाटक और अभिनय सहित चौंसठ कलाओं की परंपरा, भारतीय ज्ञान परंपरा के समग्र

दृष्टिकोण को स्पष्ट रूप से प्रदर्शित करती है। इस सत्र का धन्यवाद ज्ञापन डॉ. विरसंगभाई आर. चौधरी ने किया और संचालन डॉ. सुनील कुमार मानस ने।

संगोष्ठी के प्रथम अकादमिक सत्र 'भारतीय चिंतन की अवधारणा : समझ और सरोकार' की शुरुआत डॉ. शैलेश ब्रह्मभट्ट के व्याख्यान से हुई। उन्होंने कहा कि भारतीय संस्कृति, जो प्राचीन परंपराओं, आध्यात्मिकता और विभिन्न जीवन-शैलियों से जुड़ी है, ने हजारों वर्षों से निरंतरता, सामाजिक एकता और पहचान प्रदान की है। यह भौतिक जीवन को आध्यात्मिक, नैतिक और पारिवारिक मूल्यों के साथ संतुलित करती है, सम्मान, सहिष्णुता और ज्ञान को बढ़ावा देती है, जो आधुनिक समाज में सामाजिक सद्भाव और चरित्र विकास के लिए आवश्यक हैं। दूसरे मुख्य वक्ता के रूप में डॉ. अनूप पति तिवारी ने 'भारतीय चिंतन में समझ : आंतरिक बदलाव के जरिए सामाजिक बदलाव' विषय पर चर्चा की। अपने व्याख्यान में डॉ. तिवारी ने बताया कि कैसे लोगों और समाज की व्याख्यात्मक समझ, जिसे मानवविज्ञान में व्याख्यात्मक बोध के नाम से जाना जाता है, सामाजिक चेतना, मूल्यों और व्यवहार में बदलाव का आधार बनती है। उन्होंने कहा कि आंतरिक बदलाव से सामाजिक स्तर पर मूल्यों, रिश्तों और संस्थाओं में स्थायी बदलाव आते हैं। भारतीय दृष्टिकोण में, ज्ञान का उद्देश्य केवल सत्य को जानना नहीं, बल्कि जीवन और व्यवहार को बदलना है। यह बदली हुई चेतना सामाजिक अन्याय, हिंसा और असमानता के खिलाफ कार्य करती है। इस प्रकार, भारतीय दृष्टिकोण में सामाजिक बदलाव आंतरिक समझ से शुरू होता है और स्थायी, मानवीय तथा मूल्य-आधारित बन जाता है। इस सत्र का अध्यक्षीय उद्बोधन करते हुए प्रो. रमेश सी. भारद्वाज ने 'भारतीय चिंतन में लोक और शास्त्र की अवधारणा और स्वरूप' विषय पर बात की। उन्होंने बताया है कि लोक और शास्त्र को अलग या विरोधी तत्त्व नहीं माना जाता, बल्कि एक-दूसरे के पूरक और अंतःक्रियात्मक घटकों के रूप में माना जाता है। वेदों, उपनिषदों, महाकाव्यों, पुराणों, स्मृतियों और काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में, खासकर पतंजलि के व्याकरण महाभाष्य और जैमिनी के मीमांसा दर्शन में, लोक जीवन के अनुभव शास्त्रीय अनुशासन के आधार के रूप में दिखते हैं। शास्त्र लोक-अनुभव से प्रेरणा लेते हैं और उसे एक वैचारिक संरचना देते हैं, जिससे लोक व्यवहार में जीवन्तता, प्रासंगिकता और सामाजिक स्वीकृति आती है। उन्होंने कहा कि लोक और शास्त्र के बीच इस संबंध को समझना बहुत जरूरी है, क्योंकि यह भारतीय संस्कृति की निरंतरता, लचीलापन और मानव-केंद्रित दृष्टि को बनाए रखता है। कुल मिलाकर, भारतीय चिंतन में लोक और शास्त्र के बीच का संबंध टकराव का नहीं, बल्कि साथ रहने, संवाद और सृजनात्मक तालमेल का है, जो भारतीय ज्ञान परंपरा को एक विशिष्ट और स्थायी रूप देता है। इस सत्र का धन्यवाद ज्ञापन डॉ. हीरल आर. सोनी ने किया और संचालन डॉ. कश्यप डी. त्रिवेदी ने।

भोजनोपरांत संगोष्ठी के द्वितीय अकादमिक सत्र 'भारतीय साहित्य के मूल्यों की अवधारणा और चिंतन' की शुरुआत डॉ. दिनेश शर्मा के व्याख्यान से हुई, डॉ. शर्मा ने 'समन्वय की भारतीय साहित्यिक अवधारणा' पर विचार रखते हुए कहा कि भारतीय साहित्य की मूल भावना समन्वय की है। यह केवल शैली या भावनाओं का मेल नहीं, बल्कि भारतीय चिंतन का आधारभूत स्वभाव है। उन्होंने स्पष्ट किया कि इसी समन्वयकारी दृष्टि के कारण भारतीय समाज में समावेशी शिक्षा का प्रभावी क्रियान्वयन संभव है, जो सामाजिक न्याय और समानता की स्थापना के लिए अत्यंत आवश्यक है। दूसरे वक्ता के रूप में डॉ. विनय कुमार शुक्ल (हिंदी और भारतीय भाषा विभाग, केंद्रीय विश्वविद्यालय, जम्मू, सांबा-जम्मू) ने 'भारतीय परंपरा में नारी चिंतन की संकल्पना और स्वरूप' पर विचार प्रस्तुत करते हुए कहा कि भारतीय परंपरा में नारी की अवधारणा केवल सामाजिक भूमिका या लैंगिक विमर्श तक सीमित नहीं, बल्कि गहरे दार्शनिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक आधार पर विकसित हुई है। वैदिक काल से ही स्त्री को सृजन-शक्ति, प्रेरणा और सामाजिक संतुलन की आधारशिला माना गया है। गार्गी, मैत्रेयी, लोपामुद्रा जैसी ऋषिकाएँ इसके प्रमाण हैं। उपनिषदों में उन्हें ब्रह्म-जिज्ञासा की अधिकारी माना गया है। आधुनिक संदर्भ में यह चिंतन नारीवाद के माध्यम से समानता, करुणा और समन्वय के मूल्यों को पुनर्स्थापित करता है। तीसरे वक्ता के रूप में डॉ. अर्चना मिश्र (सहायक प्राध्यापक हिंदी, डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर ओपन विश्वविद्यालय, अहमदाबाद) "संस्कृत ग्रंथों में प्रतिबिंबित भारतीय शिक्षा पद्धति" पर विचार प्रस्तुत करते हुए कहती हैं कि प्राचीन भारतीय शिक्षा तंत्र केवल

सूचना-आधारित ज्ञान का संप्रेषण नहीं था, बल्कि चेतना, अनुभव और आत्म-साक्षात्कार की समन्वित साधना पर आधारित था। वेद, उपनिषद, ब्राह्मण, आरण्यक, स्मृतियों, पुराणों और काव्यग्रंथों में वर्णित शिक्षा का उद्देश्य केवल बौद्धिक विकास नहीं, बल्कि 'ज्ञान की अखंडता' के आधार पर संपूर्ण व्यक्तित्व का निर्माण है। इसमें नैतिकता, आत्म-संयम, सामाजिक उत्तरदायित्व, करुणा और आध्यात्मिक चेतना का समावेश होता है। यह शिक्षा प्रणाली समग्र, मूल्यपरक और अंतःक्रियात्मक मॉडल प्रस्तुत करती है, जो आज की परीक्षा-केंद्रित व्यवस्था के लिए एक प्रभावी वैकल्पिक दृष्टि प्रदान करती है। इस सत्र के अध्यक्षीय उद्बोधन में **डॉ. प्रमोद शंकर पांडेय** (हिंदी विभाग, जननायक चंद्रशेखर विश्वविद्यालय, बलिया, उत्तर प्रदेश) ने "भक्ति साहित्य का जीवन-बोध और मूल्य-चिंतन" विषय पर विचार व्यक्त करते हुए कहा कि भक्ति परंपरा किसी एक क्षेत्र तक सीमित नहीं रही, बल्कि उसने संपूर्ण भारत को गहराई से प्रभावित किया है। उन्होंने भक्ति आंदोलन की ऐतिहासिक यात्रा को दक्षिण भारत में जगद्गुरु शंकराचार्य और अद्वैत वेदांत से लेकर बंगाल के चौतन्य महाप्रभु, मिथिला के विद्यापति, राजस्थान की मीरा और गुजरात के नरसिंह मेहता तक विस्तार से रेखांकित किया। इन संतों ने अपने जीवन-दर्शन और काव्य के माध्यम से व्यापक जनसमूह को प्रभावित करते हुए सादगी, भक्ति और मानवीय मूल्यों का प्रसार किया। उन्होंने विशेष रूप से निर्गुण भक्ति परंपरा के संतों-कबीर, नानक, रैदास, दादू, पलटू आदि- का उल्लेख करते हुए कहा कि इन संतों ने बाह्य आडंबरों का विरोध कर समानता, प्रेम, त्याग और आध्यात्मिक शुद्धता पर आधारित जीवन को महत्त्व दिया। इस सत्र का धन्यवाद ज्ञापन **डॉ. सुनील कुमार मानस** ने किया और संचालन **डॉ. राजेशभाई एम. रबारी** ने।

संगोष्ठी के तृतीय अकादमिक सत्र 'भारतीय समाज की संरचना और मानवीय चेतना' की शुरुआत **डॉ. रतिलाल जी कालरिया** (सहायक प्राध्यापक, दर्शनशास्त्र विभाग, बहाउद्दीन राजकीय कला महाविद्यालय, जूनागढ़) के व्याख्यान से हुई। डॉ. कालरिया ने 'भारतीय लोक जीवन के दर्शन की' पर बात की। उन्होंने कहा कि भारतीय लोक जीवन आम जन की दैनिक जीवन-प्रक्रिया से जुड़ा है, जिसमें विश्वास, आस्था, परंपराएँ, नैतिक मूल्य, सामाजिक व्यवहार, रीति-रिवाज, लोक संस्कृति, लोक कथाएँ, लोक गीत, त्योहार और व्रत शामिल हैं। इन सभी में कर्म, धर्म, अहिंसा, करुणा, सह-अस्तित्व, समन्वय, त्याग और मोक्ष जैसे दार्शनिक सिद्धांत अप्रत्यक्ष रूप से विद्यमान हैं। उन्होंने स्पष्ट किया कि यह दर्शन केवल ग्रंथों में नहीं, बल्कि जीवन-व्यवहार में जीवित है। यह बाहर से आरोपित नहीं, बल्कि आंतरिक जीवन-दृष्टि के रूप में विकसित हुआ है, जहाँ कर्म नैतिक उत्तरदायित्व का आधार बनता है। सत्र के दूसरे वक्ता के रूप में **डॉ. गौरांगभाई एच. जानी** (सहायक प्राध्यापक-गुजराती, बहाउद्दीन राजकीय कला महाविद्यालय, जूनागढ़) ने "गुजराती साहित्य में भारतीय चिंतन का स्वरूप" विषय पर विचार प्रस्तुत करते हुए गुजराती साहित्य की समृद्ध परंपरा और विकास-यात्रा को रेखांकित किया। उन्होंने मध्यकालीन संत साहित्य में नरसिंह मेहता और मीराबाई के काव्य से लेकर आधुनिक युग के लेखकों- सुरेश जोशी, सीतांशु मेहता, लाभशंकर ठाकर, चीनू मोदी, रावजी पटेल, रमेश पारेख, आदिल मंसूरी, मनोज खंडेरिया, रघुवीर चौधरी आदि- तक की साहित्यिक धारा का विश्लेषण किया। साथ ही 21वीं सदी के लेखकों में जोसेफ मैकवान, वर्षा अदलजा, ध्रुव भट्ट, इला अरब मेहता, अश्विनी भट्ट, प्रवीण सिंह चावड़ा, हिमांशी शेलत, मणिलाल एच. पटेल, हरेश ढोलकिया, अनिरुद्ध ब्रह्मभट्ट, सतीश व्यास, गुणवंत शाह आदि के योगदान को भी रेखांकित किया। इन रचनाकारों ने दलित विमर्श, स्वदेशी चेतना, नारीवाद तथा शहरी-ग्रामीण जीवन की समस्याओं पर गंभीर चिंतन प्रस्तुत किया है। इस सत्र के अध्यक्षीय उद्बोधन में **प्रो. राजेंद्रसिंह एच. परमार** 'भारतीय चिंतन की राजनीति : आवश्यकता और उपयोगिता' विषय पर विचार प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि भारतीय चिंतन में राजनीति केवल सत्ता-प्राप्ति का माध्यम नहीं, बल्कि लोककल्याण और नैतिक मूल्यों पर आधारित व्यवस्था है। उन्होंने स्पष्ट किया कि भारतीय परंपरा में राजनीति का संबंध धर्म, नीति, न्याय और सामाजिक समरसता से जुड़ा हुआ है। वर्तमान समय में जब राजनीति अनेक बार स्वार्थ और विभाजन की प्रवृत्तियों से प्रभावित दिखाई देती है, तब भारतीय चिंतन की पुनर्सृष्टि अत्यंत आवश्यक हो जाती है। उन्होंने कहा कि इस चिंतन की उपयोगिता समाज में संतुलन, नैतिकता और समावेशिता स्थापित करने में निहित है। भारतीय राजनीतिक दृष्टि व्यक्ति और समाज के समग्र विकास को लक्ष्य बनाकर एक मानवीय और उत्तरदायी शासन व्यवस्था की स्थापना का

मार्ग प्रशस्त करती है। इस सत्र का धन्यवाद ज्ञापन डॉ. कश्यप डी. त्रिवेदी ने किया और संचालन डॉ. सुनील कुमार मानस ने।

पहले दिन के कार्यक्रम का समापन डॉ. गौरांगभाई एच. जानी द्वारा मधुर राग और अनुराग से परिपूर्ण 'गरवी गुजरात' तथा लोकगीतों के मनोहारी गायन के साथ हुआ। उनकी प्रस्तुति ने पूरे वातावरण को उल्लास और उत्साह से भर दिया। श्रोता भाव-विभोर होकर तन्मयता के साथ इस सांस्कृतिक क्षण का आनंद लेते रहे।

दूसरे दिन की संगोष्ठी का शुभारंभ प्रतिभागियों के ऑनलाइन वक्तव्यों से हुआ। इस सत्र में आशा प्रजापति, निशांत सक्सेना, डॉ. दिनेश साहू, डॉ. टिंकू छेत्री, उज्ज्वल डेका बरुवा, डॉ. अरुण श्रीवास्तव, किरण शर्मा, अंकित कमलेशभाई पंचाल, डॉ. लीना वीरेन्द्रभाई मेहता, डॉ. भरतभाई सवजीभाई बावलिया, डॉ. शिवम कुमार, रवि कुमार, डॉ. गीता लाखाभाई ओडेदरा, डॉ. तुलसी रानी पटेल, हेतलबेन सुरेशभाई पटेल, सतीश पटेल तथा डॉ. छायाबेन राजेन्द्रभाई पटेल सहित लगभग 73 प्रतिभागियों ने अपने-अपने विषयों पर शोधपत्रों का संक्षिप्त वाचन किया। इस संगोष्ठी में देश के विभिन्न भागों- गुजरात से लेकर असम तथा जम्मू से लेकर तमिलनाडु तक- के 100 से अधिक विद्वानों की सक्रिय सहभागिता रही, जिससे कार्यक्रम को सशक्त राष्ट्रीय स्वरूप और व्यापक वैचारिक विस्तार प्राप्त हुआ।

तत्पश्चात संयुक्त रूप से संगोष्ठी के चतुर्थ एवं पंचम अकादमिक सत्र 'भारतीय शिक्षा दर्शन के नैतिक मानदंड : आरोह और अवरोह' एवं 'भारतीय चिंतन : विविध विमर्श' की शुरुवात हुई, जिसके पहले वक्ता के रूप में डॉ. सुधीर कुमार तिवारी ने "भारतीय समावेशी शिक्षा का मानवीय प्रदेय : परंपरा, चुनौतियाँ और संभावनाएँ" विषय पर विचार प्रस्तुत करते हुए कहा कि भारतीय शिक्षा परंपरा मूलतः समावेशी, मूल्यपरक और मानव-केंद्रित रही है, जिसमें सभी वर्गों को समान अवसर प्रदान करने की भावना निहित रही है। उन्होंने स्पष्ट किया कि गुरुकुल परंपरा से लेकर आधुनिक शिक्षा तक, भारतीय चिंतन में शिक्षा का उद्देश्य केवल ज्ञानार्जन नहीं, बल्कि व्यक्ति के समग्र विकास और सामाजिक समरसता की स्थापना रहा है। वर्तमान समय में समावेशी शिक्षा के समक्ष अनेक चुनौतियाँ- जैसे सामाजिक विषमता, आर्थिक असमानता और संसाधनों की कमी- विद्यमान हैं। इसके बावजूद, नई शिक्षा नीति और तकनीकी साधनों के माध्यम से इन चुनौतियों को अवसरों में बदला जा सकता है। उन्होंने निष्कर्षतः कहा कि समावेशी शिक्षा ही एक न्यायपूर्ण, समानतामूलक और मानवीय समाज के निर्माण का सशक्त आधार बन सकती है। दूसरे विशिष्ट वक्ता के रूप में डॉ. योगेश कुमार तिवारी ने "आदिवासी चिंतन की दृष्टि एवं सृष्टि" विषय पर विचार प्रस्तुत करते हुए कहा कि आदिवासी चिंतन प्रकृति-केंद्रित, समतामूलक और सामूहिक जीवन-दृष्टि पर आधारित है। इसमें मनुष्य और प्रकृति के बीच गहरे आत्मीय संबंध को प्रमुखता दी जाती है, जहाँ जंगल, जल, भूमि और जीव-जगत के प्रति सम्मान और सह-अस्तित्व की भावना दिखाई देती है। उन्होंने स्पष्ट किया कि आदिवासी समाज में जीवन का उद्देश्य केवल भौतिक विकास नहीं, बल्कि संतुलित, सामंजस्यपूर्ण और सामुदायिक कल्याण पर आधारित होता है। आदिवासी परंपराओं, लोककथाओं, गीतों और अनुष्ठानों में उनकी विशिष्ट विश्व-दृष्टि और सृष्टि-बोध परिलक्षित होता है। आधुनिक समय में यह चिंतन पर्यावरण संरक्षण, सांस्कृतिक विविधता और सतत विकास के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण मार्गदर्शन प्रदान करता है। इस प्रकार, आदिवासी चिंतन मानव और प्रकृति के संतुलित सह-अस्तित्व की सशक्त अभिव्यक्ति है। तीसरे व्यक्त के रूप में डॉ. सुनील कुमार मिश्र ने "साहित्य और समाज के अन्तःसम्बन्ध : भारतीय संदर्भ" विषय पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा कि भारतीय परंपरा में साहित्य और समाज का संबंध अत्यंत घनिष्ठ, जीवंत और परस्पर पूरक रहा है। साहित्य केवल समाज का दर्पण नहीं, बल्कि उसकी चेतना, संवेदना और दिशा-निर्देशक शक्ति भी है। उन्होंने स्पष्ट किया कि भारतीय साहित्य ने समय-समय पर सामाजिक परिवर्तन, नैतिक मूल्यों की स्थापना और सांस्कृतिक चेतना के संवर्धन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। वेदों, उपनिषदों से लेकर आधुनिक साहित्य तक समाज की समस्याएँ, आकांक्षाएँ और मूल्य साहित्य में प्रतिबिंबित होते रहे हैं। उन्होंने निष्कर्षतः कहा कि साहित्य और समाज के इस अंतर्संबंध को समझे बिना भारतीय चिंतन की व्यापकता को समझना संभव नहीं है। चौथे मुख्य वक्ता के रूप में प्रो. हेतल एस. पटेल (अंग्रेजी

विभाग, हेमचंद्राचार्य उत्तर गुजरात विश्वविद्यालय, पाटण) ने “भारतीय चिंतन और समकालीन विविध विमर्श” विषय पर अपने विचार प्रस्तुत करते हुए स्पष्ट किया कि भारतीय जीवन-दृष्टि आधुनिक विचारधाराओं के साथ सार्थक रूप से जुड़ने की क्षमता रखती है। उन्होंने बताया कि भारतीय परंपराएँ स्थिर नहीं, बल्कि लचीली और समयानुकूल परिवर्तनीय रही हैं, जो बदलते सामाजिक संदर्भों में स्वयं को पुनर्स्थापित करती हैं। उनके अनुसार प्राचीन भारतीय ज्ञान-परंपरा आज के जटिल मुद्दों— जैसे सामाजिक न्याय, पर्यावरण संरक्षण और नैतिक संकट— के समाधान में महत्वपूर्ण मार्गदर्शन प्रदान कर सकती है। उन्होंने विशेष रूप से धर्म, अहिंसा और सह-अस्तित्व जैसे मूल्यों को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में पुनर्विचार करने की आवश्यकता पर बल दिया। अंततः उन्होंने निष्कर्ष दिया कि पारंपरिक मूल्यों और आधुनिक दृष्टिकोण के समन्वय से एक संतुलित, न्यायपूर्ण और मानवीय समाज की स्थापना संभव है। इस संयुक्त सत्र के अध्यक्षीय उद्बोधन में **प्रो. देवसिंह बी. राठवा** (संस्कृत विभाग, हेमचंद्राचार्य उत्तर गुजरात विश्वविद्यालय, पाटण) ने “भारतीय ज्ञान एवं शिक्षा का अन्वय और समन्वय” विषय पर अपने विचार प्रस्तुत करते हुए संस्कृत भाषा के भाषावैज्ञानिक पक्ष तथा उसके व्यावहारिक अध्ययन की पद्धति पर विस्तार से प्रकाश डाला। उन्होंने बताया कि संस्कृत के किसी भी श्लोक या वाक्य को सही रूप में समझने के लिए सबसे पहले शब्दों के अर्थ, अर्थात् शब्दार्थ को जानना आवश्यक है। इसके पश्चात उन शब्दों को कर्ता, कर्म, क्रिया तथा उनके विशेषणों के अनुसार सुव्यवस्थित कर ही वाक्य का सही और सुसंगत अर्थ निकाला जा सकता है। उन्होंने स्पष्ट किया कि भाषा की संरचना और उसके व्याकरणिक तत्त्वों का समन्वित ज्ञान ही अर्थबोध को सरल और सटीक बनाता है। आगे उन्होंने यह भी कहा कि संस्कृत अध्ययन में धैर्य, समय और निरंतर अभ्यास की आवश्यकता होती है। साथ ही यह समझना भी महत्वपूर्ण है कि किसी भी भाषा में वर्णों का निर्माण कैसे और क्यों हुआ तथा उनका उद्देश्य क्या है। इस प्रकार उन्होंने वर्ण-व्यवस्था और उसके साहित्यिक उपयोग पर गहन चर्चा प्रस्तुत की। इस सत्र का धन्यवाद ज्ञापन **डॉ. योगेशकुमार के. चाडसगिया** ने किया और संचालन **डॉ. सुनील कुमार मानस** ने।

संगोष्ठी के समापन सत्र का प्रारंभ अतिथियों के स्वागत एवं सम्मान के साथ हुआ। तत्पश्चात **डॉ. हीरल आर. सोनी** द्वारा संगोष्ठी का संपूर्ण प्रतिवेदन प्रस्तुत किया गया, जिसमें दो दिनों की सभी गतिविधियों, व्याख्यानो और विमर्शों का सारगर्भित अवलोकन किया गया। इसके पश्चात **डॉ. विपिन जे. चौधरी** ने अपने विचार रखते हुए भारतीय चिंतन में लोक और शास्त्र की महत्ता को रेखांकित किया तथा मानवीय चिंतन की अवधारणा को उसके मूल संदर्भों में स्पष्ट किया। तदनंतर बेचारजी तहसील के मामलतदार **डॉ. राजेश कानुडावाला** ने अपने उद्बोधन में कहा कि इस संगोष्ठी से उन्होंने अनेक नवीन ज्ञान-बिंदुओं को आत्मसात किया है। उन्होंने इसे एक ऐसे शिक्षण अनुभव के रूप में देखा, जो प्राध्यापक और विद्यार्थी के बीच ज्ञान के सृजनात्मक आदान-प्रदान को सुदृढ़ करता है। इसी क्रम में **उपस्थित प्रतिभागियों** को संगोष्ठी का **प्रमाण-पत्र** मंचस्थ अतिथियों द्वारा प्रदान किया गया। आगे **डॉ. प्रमोद शंकर पांडेय** एवं **डॉ. अनूप पति तिवारी** ने संगोष्ठी को पूर्णतः सफल बताते हुए कहा कि यह आयोजन अपने स्वरूप में एक आदर्श राष्ट्रीय संगोष्ठी के रूप में आयोजित हुआ है, जो अकादमिक जगत के लिए मार्गदर्शक है। **डॉ. भावनाबेन एम. पटेल** ने अध्यक्षीय वक्तव्य में कहा कि यह संगोष्ठी भारतीय चिंतन, संस्कृति और शिक्षा के मानवीय मूल्यों को समझने का सशक्त माध्यम सिद्ध हुई है। उन्होंने सभी प्रतिभागियों के सक्रिय योगदान की सराहना करते हुए कहा कि ऐसे आयोजन— ज्ञान-विस्तार, संवाद और समन्वय को प्रोत्साहित करते हैं। संगोष्ठी के संयोजक **डॉ. सुनील कुमार मानस** ने अंत में सभी अतिथियों, विद्वानों, प्रतिभागियों एवं आयोजकों के प्रति आभार व्यक्त किया। कार्यक्रम का प्रभावी संचालन **डॉ. योगेशकुमार के. चाडसगिया** द्वारा किया गया। समापन अवसर पर **डॉ. कश्यप डी. त्रिवेदी** के **बांसुरी वादन** की मनोहारी प्रस्तुति ने पूरे वातावरण को भाव-विभोर कर दिया। देश के विभिन्न राज्यों से आए प्रतिभागियों ने दो-दिनों तक सक्रिय सहभागिता की, जिससे संगोष्ठी को व्यापक राष्ट्रीय स्वरूप प्राप्त हुआ। अंततः **राष्ट्रगान के सामूहिक गायन** के साथ संगोष्ठी का सफल एवं गरिमामय समापन हुआ।



सरकारी विनयन कॉलेज, बेचराजी-गुजरात एवं राष्ट्रीय उच्चतर शिक्षा अभियान (RUSA), के संयुक्त तत्वावधान में 'भारतीय साहित्य, समाज, संस्कृति और शिक्षा का मानवीय प्रदेय' विषय पर सरकारी विनयन कॉलेज, बेचराजी-गुजरात के परिसर में आयोजित दो-दिवसीय (30-31 जनवरी, 2026) राष्ट्रीय संगोष्ठी के चित्र-पटल



आलोचन दृष्टि,
आजाद नगर, बिन्दकी, जनपद-फतेहपुर, उ०प्र०-212635
ई-मेल : aalochan.p@gmail.com
वेबसाइट : <https://aalochandrishiti.org/>



Website QR Code